संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य-परम्परा

राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य-परम्परा

राधावल्लभ त्रिपाठी

प्रतिभा प्रकाशन
दिल्ली

प्रथम संस्करण 1981
द्वितीय संस्करण 2004

ISBN : 81-7702-090-0

मूल्य : 500/-

प्रकाशक:
डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम०ए०, पी०एच०डी०
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या प्रकाशक-पुस्तक-विक्रेता)
29/5, शक्तिनगर, दिल्ली - 110007
दूरभाष : 011-27451485, (निवास) 22912722

अक्षर संयोजक :
कम्पोग्राफिक प्वॉइन्ट
ब्रह्मपुरी, दिल्ली-53

मुद्रक :
तरुण ऑफसेट, दिल्ली

SANSKRIT POETICS & POETIC TRADITIONS

Radhavallabh Tripathi

PRATIBHA PARKASHAN
DELHI

First Edition 1981
Second Revised Edition 2004

ISBN : 81-7702-090-0

Rs. 500/-

Publishded by :
Dr. R. S. Shukla
M.A., Ph.D.
for ***Pratibha Prakashan***
(Oriental Publishers & Booksellers)
29/5, Shakti Nagar, Delhi- 110007
Ph. : 011-27451485, (R) 22912722
E-mail : info@pratibhabooks.com
online : www.pratibhabooks.com

Laser Typesetting by :
Compo Graphic Point
Brahmpuri, Delhi-53

Prited by :
Tarun Offset, Delhi.

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥

—उत्तररामचरित, 4/18

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'काव्यशास्त्र और काव्य' शीर्षक से प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण 1981 में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक में भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का परिचय देते हुए काव्यशास्त्र के विभिन्न प्रस्थानों की उपलब्धियों, सीमाओं और विफलताओं की भी मीमांसा की गई थी। पुस्तक अनेक वर्षों से अप्राप्य थी और विद्वानों, अनुसन्धित्सुओं तथा जिज्ञासुओं के द्वारा इसके द्वितीय संस्करण की माँग की जा रही थी।

प्रस्तुत संस्करण में 'संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा', 'साहित्य की स्वायत्तता' था 'साहित्य और मूल्यदृष्टि' शीर्षक से तीन नये अध्याय जोड़े गये हैं, अन्तिम दो लेख के रूप में पूर्व में 'साक्षात्कार' और 'कलाप्रयोजन' पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। लेखक इन पत्रिकाओं का तथा 'आलोचना' में इस पुस्तक की विस्तृत समीक्षा करने के लिये डॉ. नामवरसिंह का कृतज्ञ है।

प्रस्तुत संस्करण में जोड़ी गई नवीन सामग्री से पूर्व में इस पुस्तक द्वारा उठाया गया शास्त्रार्थ एक परिणति पर पहुँच सका है। मुझे विश्वास है कि पहले की तरह विद्वत्समाज इस पुस्तक को अंगीकार करेगा। इसके तत्पर प्रकाशन के लिये मैं प्रतिभा प्रकाशन के डॉ. राधे श्याम शुक्ल को धन्यवाद देता हूँ।

लेखक

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक की रचना संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का मात्र परिचय देने के लिए नहीं, अपितु इस प्रश्न का उत्तर खोजने के उपक्रम में हुई है कि संस्कृत काव्यशास्त्र तथा संस्कृत काव्य दोनों कहां तक एक-दूसरे के साथ चल सके हैं। लेखक की दृष्टि में काव्यशास्त्र का सर्वोपरि लक्ष्य समकालीन तथा पूर्ववर्ती काव्य की व्याख्या करना तथा उसके आधार पर अपने लक्षणों को परिष्कृत बनाते हुए उसे सैद्धांतिक आधार प्रदान करना है। संस्कृत काव्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्यों ने इस उपपत्ति को अनेकशः स्वीकार किया है कि लक्षणों का निर्माण लक्ष्यग्रंथों (रामायण, महाभारत तथा कालिदास आदि समर्थ कवियों की रचनाओ) के आधार पर हुआ करता है। लेखक के मन में संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के समय पिछले कुछ वर्षों से यह प्रश्न उठता रहा है कि संस्कृत का काव्यशास्त्र इस स्वप्रस्तुत निकष पर कहां तक खरा उतरा है।

दर्शन, वैचारिक उहापोह, टीका-टिप्पणी तथा भेदोपभेद के बीहड़ में काव्य के जो मूल निकष और तत्त्व पकड़ में आते-आते उलझ कर छूट गए, उन्हें, कविता का अथ जहां से हुआ है, वहीं से खोजने का उपक्रम प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है। काव्य के स्वरूप तथा उसकी रचनाप्रक्रिया के विषय में काव्यशास्त्र की धारणाएं किन काव्यस्रोतों से किस प्रकार गढ़ी गईं, यह पुस्तक का मूल विषय है। साथ ही किस प्रकार अलंकार, गुण तथा रस के तत्व काव्यचिंतन में वेद, महाभारत तथा रामायण के काव्यांशों से प्रेरित हुए इसका भी विवेचन किया गया हैं।

काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के निर्माण और विकास की मूल भित्ति काव्य ही है, तथा काव्यशास्त्र का परम प्रकर्ष इसी में है कि वह काव्य से प्रेरित होता हुआ उसके उपस्कारक का कार्य करता रहे। यही काव्य तथा काव्यशास्त्र के संबंध तथा पारस्परिक आदान-प्रदान की भूमिका है। किंतु जब काव्यशास्त्र का आचार्य स्वयं को कवि का शास्ता मानकर काव्य को अपने शास्त्र का उपकरण बनाते हुए शास्त्र को

ही उपक्रियमाण मानने लगता है, तो उससे शास्त्र में न केवल सैद्धांतिक अवगति तथा अवरोध की स्थिति होती है, अपितु काव्य को भी हीन बना दिया जाता है। कवि कालिदास को यही तो भय था कि वे (आचार्यों के सामने) कवि के यश के प्रार्थी होकर जाएंगे, तो उनकी हंसी होगी--उन्हें ऊपर लगे फल को तोड़ना चाहने वाले बौने के समान छोटा बना दिया जाएगा। महाकवि भवभूति ने भी अपनी सबसे परिणत कृति में 'सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता। यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः' के द्वारा अवचनीय कवि वचन को वचनीय बनाने वालों पर कटाक्ष किया है। भवभूति के ही समय की श्रेष्ठ कवयित्री विज्जिका ने भी रचना को वचनीय बनाने वाले पंडितों से घबरा कर ऐसे दुर्लभ सहृदय काव्यपारखी को प्रणामांजलि अर्पित की थी 'जो कवि के अशब्दगोचर अभिप्राय को समझकर रोमांचित देह से सूचित भर करता हुआ चुप होकर रह जाए।' कालिदास ने ऐसे सज्जनों या सहृदयों से ही काव्यपरीक्षा करवाने की बात 'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते' तथा 'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति' के द्वारा एकाधिक बार कही थी और संभवतः काव्यशास्त्र के दिग्गज पंडितों और आचार्यों से अपने काव्य को बचाना चाहा था।

संस्कृत कवि के लिए ऐसी स्थितियां क्यों आईं कि उसने अपनी रचना को काव्य के महनीय आचार्यों के समक्ष सादर परीक्षणार्थ प्रस्तुत करने के स्थान पर उल्टे उनसे उसे बचाना ही चाहा? यही नहीं, किसी मनोरथ नामक कवि ने तो ध्वनि सिद्धांत के आचार्यों को उनकी मतिमंदता के कारण तीखी फटकार भी सुना डाली। इन तथ्यों को हम काव्य तथा काव्यशास्त्र के पारस्परिक टकराव का अध्ययन करके ही समझ सकते हैं। लेखक को पंडितजनों का यह निष्कर्ष अपने इस अध्ययन में विपरीत ही लगा है कि जब संस्कृत काव्यशास्त्र का चरम प्रकर्ष हुआ तब संस्कृत कविता का ह्रास होने लगा था। काव्य तथा काव्यशास्त्र परस्पर अनुबद्ध हैं : वे 'परस्परं भावयन्तः' की भावना छोड़ अपने-अपने खेमों में अलग-अलग रह जाते हैं, तो दोनों का एक साथ ही ह्रास होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के उच्चतम सिद्धांत वेद, वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति की कविता से जन्मे और पनपे हैं। आचार्यों ने जब उन्हें स्थिर और रूढ़ बनाकर कविता पर थोपना चाहा तो काव्यशास्त्र और काव्य दोनों का एक साथ अवमूल्यन हुआ। कविसमय के मान्य और महनीय सिद्धांत का, जिसका सबसे बड़ा निकष कविप्रतिभा की स्वतंत्रता, कवि को अपनी शर्तों के संदर्भ में उसकी रचना को समझना था, उसी का उपयोग कविसमयों को सूचीबद्ध करके, उनके द्वारा कवि के शिक्षक बनकर आचार्यों ने कवि को परतंत्र बनाने में

किया। कवि की शब्दार्थ की साधना का आकलन करने वाला काव्यपाक का सिद्धांत भी भेदोपभेदों में उलझकर उपेक्षित हो गया। कवितात्पर्य को समझने की प्रतिज्ञा लेकर चलने वाला ध्वनिसिद्धांत व्यंग्यप्राधान्य को ही काव्य का निकष मानकर व्यंग्य की बारीकियों में उलझकर कवितात्पर्य को भूल गया। किंतु जब-जब आचार्यों ने सिद्धांत को स्थिर और जड़ बनाकर काव्य पर थोपना चाहा, तब-तब कवियों और सहृदयों के समाज में उसकी तीखी प्रतिक्रिया हुई, और इस प्रकार पारस्परिक आदान-प्रदान के द्वारा ही नहीं, घात-प्रतिघात और द्वंद्व के द्वारा भी काव्य और काव्यशास्त्र की समानांतर विकासयात्रा जारी रही। इस यात्रा का पुनरन्वेषण करना इस पुस्तक का प्रमुख ध्येय रहा है। संस्कृत काव्य तथा काव्यशास्त्र के संबंधों की पड़ताल करते हुए लेखक को भारतीय अलंकारशास्त्र के सिद्धांतों का पुनराकलन भी करना पड़ा है।

इस पुस्तक में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत—रसध्वनि, गुणरीति, अलंकार, कविसमय, काव्यपाक आदि—वेद, रामायण, महाभारत की कविता की नींव पर खड़े हुए तथा कालिदास, भारवि, भवभूति जैसे प्रतिभाशाली और तेजस्वी कवियों ने उन पर कविता के माध्यम से प्रतिक्रियाएं देते हुए उन्हें परिष्कृत किया। संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य और कवि का द्वंद्व, जिसे प्रायः अनदेखा किया जाता रहा है, इस पुस्तक में परिशीलित हुआ है। यहां हम देखते हैं कि अलंकारवादी आचार्यों की काव्य में सूक्ष्म दृष्टि थी, उनके पास काव्य का अत्यंत व्यापक और वस्तुनिष्ठ मानदंड भी था, पर उनके मन में कहीं यह ग्रंथि थी कि वे कवि को काव्य रचना सिखा सकते हैं। दण्डी और वामन दोनों ने आचार्यत्व की सामर्थ्य को लेकर अत्यधिक आत्मविश्वास प्रकट किया था। दण्डी ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया था :

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥

(काव्यादर्श, 1/8)

जिसने हमारा यह शास्त्र नहीं पढ़ा है, वह भला गुण-दोष आदि का विवेक कैसे कर सकेगा? क्या अंधा भी रूप के भेदों को परख सकता है? इस प्रकार दण्डी काव्यशास्त्र के अध्येता न बनने वाले कवि को अंधे के समान समझते हैं और उसे काव्यरचना का अधिकार भी वे देना नहीं चाहते। वामन ने 'सौंदर्यमलङ्कारः' कहकर अलंकार का अत्यंत व्यापक रूप सामने रखा, पर आगे के दो सूत्रों में उन्होंने कहा कि यह

सौंदर्य काव्य में दोष के परिहार और गुण तथा अलंकार के आदान से आता है, और दोष, गुण, अलंकार का ज्ञान हमारे इस शास्त्र से ही होता है। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/1/3-4)। वामन ने आगे दो पद्यों में कवियों से यह आग्रह भी किया है कि संसार में कीर्ति बहुत बड़ी चीज है, यदि वे उसे पाना चाहते हों, तो उनके काव्यालंकारसूत्र ग्रंथ का पारायण करें। भारवि तथा भवभूति ने निश्चय ही आचार्यों के इस अनुशासन को आरोपित करने के विरोध में प्रतिक्रिया दी थी। भवभूति ने 'सर्वथा व्यवहर्तव्यम्' तथा 'ज्ञानं तत्कथनेन किम्' के द्वारा दण्डी और वामन दोनों के मंतव्यों का तीव्र प्रत्युत्तर दिया था। कवियों द्वारा उनकी रचना के सही अर्थ को समझने की मांग के फलस्वरूप ध्वनिप्रस्थान का अवतरण हुआ था, वह भी जब काव्य की सही व्याख्या करने के मार्ग से भटक गया तो कवियों ने उसके विपक्ष में भी प्रतिक्रिया दी। जब तक इस प्रकार समर्थ कवियों के द्वारा काव्यशास्त्र के आचार्यों के चिंतन तथा सिद्धांतों पर प्रश्नचिह्न लगाए जाते रहे, तभी तक काव्यशास्त्र की समृद्धि का युग रहा। जब कम प्रतिभाशाली कवि माघ, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि की लंबी परंपरा ने आचार्यों का अनुवर्ती बनकर काव्य को शास्त्र का पृष्ठगामी बन जाने दिया, तो उससे काव्य तथा काव्यशास्त्र दोनों की परंपरा का ह्रास हुआ।

अतएव यह कहना गलत है कि समीक्षा के सिद्धांतों का जब प्रकर्ष हुआ, तभी संस्कृत कविता के क्षेत्र में मौलिकता का ह्रास हुआ। वाल्मीकि से लेकर भवभूति तक का समय संस्कृत कविता के चरमोत्कर्ष का समय है, और संस्कृत काव्यशास्त्र का सबसे मौलिक और आधारभूत चिंतन रामायण, महाभारत, कालिदास, बाण, अमरुक, भारवि, भवभूति, इनकी रचनाओं के अनुरूप ही हुआ था। शास्त्र काव्य से अपना संवाद भूलकर भेदोपभेदों और कविशिक्षा के प्रयासों में उलझता गया तो कविता के संसार पर भी उसका अनिष्ट प्रभाव पड़ा। काव्यशास्त्र और काव्यधारा का उत्कर्ष साथ-साथ हुआ और उनका ह्रास भी।

काव्य तथा काव्यशास्त्र की इस सहवर्तिनी विकासयात्रा के अध्ययन में स्वभावतः दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। एक तो यह कि काव्यशास्त्र के आचार्यों ने किस प्रकार, कहां तक अपने चिंतन को पूर्ववर्ती मौलिक काव्यग्रंथों पर आधारित किया और शास्त्र ने कहां तक अपने आपको उन मौलिक कृतियों के आधार पर ढाला तथा विकसित किया। दूसरे, अपने शास्त्र के सिद्धांतों से आचार्य पूववर्ती तथा समकालीन साहित्य के मूल्यांकन में कहां तक सफल हुए तथा आने वाली काव्यरचना की प्रवृत्तियों को किस सीमा तक दिशा दे सके? इसलिए संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के निर्माण की प्रक्रिया को इस पुस्तक में उन सिद्धांतों के

मूल तक जाकर खोजा गया है, और साथ-साथ उनका विवेचन और मूल्यांकन भी किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन अब तक एक बंधी-बंधाई दोषपूर्ण पद्धति से होता आया है। जिज्ञासुओं और छात्रों के समक्ष न तो सिद्धांतों का स्वारस्य ही स्पष्ट होता है, और न आचार्यों की मूल दृष्टि ही। अध्येता न तो काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को सही रूप में समझ पाता है, न उनका आकलन कर पाता है। उदाहरणार्थ, काव्यशास्त्र के अध्यापन की इस पद्धति में अध्येता के मन में यह भ्रांति बैठाई जाती है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास चार या छः संप्रदायों के अंतर्गत होता रहा है। प्रस्तुत लेखक काव्यशास्त्र के इस संप्रदायगत विभाजन को भ्रामक, अवैज्ञानिक और असंगत मानता है और उसने इस पुस्तक के द्वारा आचार्यों की दृष्टि को समझते हुए यह प्रतिपादित भी किया है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकार के संप्रदायों की अवधारणा रही ही नहीं, हां, रसध्वनिवाद तथा अलंकारवाद की दो धाराएं एक-दूसरे के समांतर अवश्य चलती रहीं। काव्य के क्रमशः अंतरंग तथा बहिरंग पक्षों पर केंद्रित इन दो धाराओं का अंतःसंघर्ष तथा पारस्परिक टकराव संस्कृत के काव्यशास्त्र की विकासयात्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसे अब तक प्रायः अनदेखा किया जाता रहा है।

लेखक का इस दिशा में यह प्रथम प्रयास होने से, संभव है, अध्ययन में अपूर्णता तथा चिंतन में अपरिपक्वता लक्षित की जाए। तथापि उसे विश्वास है कि इस पुस्तक से काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों को भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का सही रूप में परिचय तो मिलेगा ही, एतद्विषयकचिंतन को भी उत्तेजना प्राप्त होगी।

(प्रथम संस्करण की भूमिका से)

सागर **राधावल्लभ त्रिपाठी**

27.6.1981

अनुक्रम

1
भारतीय काव्यचिंतन के मूल आधार

भारतीय साहित्य की रचना का उपक्रम वैदिक सूक्तों के निर्माण से हुआ। इन सूक्तों की रचना के साथ-ही-साथ उनमें निहित आकर्षण, प्रभाव तथा अनुभूति की ओर भी उनके रचनाकारों का ध्यान गया। यहीं से भारतीय काव्यचिंतन का समारम्भ होता है। वैदिक कवियों के सामने काव्यरचना के सम्बंध में निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित हुए थे : (1) काव्य का जन्म कहां से होता है? उसका स्रोत क्या है? (2) उसमें हृदयावर्जकता किन बातों से आती है? इन दोनों प्रश्नों का निगूढ़ समाधान वैदिक कवियों ने अपनी अनुभूति और अनुभव में से खोजा। जैसाकि हम अगले अध्यायों में देखेंगे; काव्यचिंतन के जो बिंदु वैदिक रचनाकारों को दृष्टिगत हुए, वे भारतीय काव्यशास्त्र का आधार बने तथा कहीं संस्कार रूप से, तो कहीं प्रकट रूप से, काव्यशास्त्र के आचार्यों के मानस में बने रहे।

वैदिक रचनाकारों के काव्यविषयक मंतव्यों का सार यह है कि काव्य के दो स्तर हैं : स्थूल तथा सूक्ष्म। सूक्ष्म स्तर पर काव्य रचा नहीं जाता, उसका साक्षात्कार होता है। स्थूल स्तर पर आकर यह साक्षात्कार आकार या स्वरूप ग्रहण करता है। काव्यरचना के इन दोनों स्तरों को वैदिक कवियों ने अलग-अलग प्रकार की शब्दावली के द्वारा रेखांकित और विभाजित किया। प्रथम के लिए उन्होंने दर्शन या दृष्टि जैसे शब्दों का प्रयोग किया तो दूसरे को वर्णन या वर्णना कहा। सूक्ष्म स्तर पर काव्यरचना में जहां रचनाकार की ओर से किया गया प्रयास निहित नहीं होता, वहीं स्थूल स्तर पर वह 'क्रियमाण' या 'लक्षित' होता है—सायास रचा जाता है। इसीलिए काव्य के सूक्ष्म स्तर को बताने के लिए जहां वेद के कवि ने यह कहा कि यह रचना मेरे भीतर से ऐसे ही फूटी है जैसे बादल से वर्षा की बूंदें (**इयं वामस्य मन्मना इन्द्राग्नी पूर्व्या**

स्तुतिः अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि–ऋ., 7/94/1) वहीं यह भी कहा कि दूसरे स्तर पर वह उसी प्रकार रचा या बुना जाता है, जिस प्रकार बढ़ई के द्वारा रथ या जुलाहे के द्वारा कपड़ा।

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व
या ते शविष्ठा नव्या अकर्म।
वस्त्रेण भद्रा सुकृता वसूयू
रथं न धीराः स्वपा अतक्षम् ॥

(ऋग्वेद, 5/19/15)

संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा की परिकल्पना वैदिक कवियों के दर्शन या साक्षात्कार की अवधारणा से आई तथा इसीलिए प्रतिभा को साक्षात्काररूपिणी कहा गया तो दूसरी ओर प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्यहेतु के रूप में इसीलिए रखा गया। भामह ने वेद के उपर्युक्त मंत्र की परंपरा में कहा :

एतद् ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमेस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्वहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥

(काव्यालंकार, 1/59)

यह सुगंधित पुष्प ग्रहण करने योग्य है, यह सुंदर नहीं है, यह गूंथने पर सुंदर लगेगा, इस पुष्प का यह उपयुक्त स्थान है–इस प्रकार पुष्पों को भली-भांति परखकर मालाकार माला गूंथता है, उसी प्रकार सावधान होकर कवि को भी काव्य में शब्दों का चयन या प्रयोग करना चाहिए।

काव्यरचना के एक स्तर को लेकर वैदिक कवियों ने दर्शन या साक्षात्कार की जो अवधारणा सामने रखी, उसी को अंग्रेजी के रूमानी कवियों–कीट्स, शैली, वर्ड्सवर्थ आदि ने कई शताब्दियों बाद प्रकट किया। कीट्स ने कहा कि कविता कवि के हृदय से उसी प्रकार उद्गत होनी चाहिए, जिस प्रकार पेड़ की पत्तियां फूटती हैं। वर्ड्सवर्थ ने भी काव्य को भावनाओं का निष्प्रयास उद्गार बतलाया। कालेरिज ने तो यहां तक कहा कि उसने अपनी कविता 'कुब्ला खान' की रचना नहीं अपितु साक्षात्कार किया था। वैदिक कवियों ने जब कहा कि हमने इन सूक्तों की रचना नहीं की है, अपितु उनका दर्शन या साक्षात्कार किया है, तो उनका आशय यही था कि उनके काव्य के मूल में मन का सचेत आयास नहीं है।

इस प्रकार दर्शन और वर्णन इन दो प्रक्रियाओं के घटित होने पर काव्य आकार लेता है—यह वैदिक कवियों के मंतव्य का सार है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में केवल प्रथम पक्ष में ही पर्यवसान हो जाता है अतः वह अधूरा है। भारतीय काव्यचिंतन की परंपरा अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, दोनों पक्षों को लेकर चली। इसीलिए काव्य के संबंध में इस पुरातन अवधारणा की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा :

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥

(भट्टतौत : काव्यानुशासन, अ. 8 की वृत्ति में उद्धृत)

अर्थात्, जो ऋषि नहीं है, वह कवि नहीं हो सकता। जिसके पास दर्शन है, वह ऋषि है। विचित्र भाववाले धर्म के तत्व का साक्षात्कार दर्शन है। इस दर्शन के कारण ही कवि कवि बनता है। किंतु दर्शन मात्र से भी कविता नहीं होती। जब तक वर्णन न हो, तब तक कविता का उदय नहीं हो सकता। दर्शन और वर्णन इन दोनों के मिलने से काव्य की अभिव्यक्ति होती है—यह काव्य की रचना और उसके स्वरूप का मर्म है। आगे चलकर आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य रचना के इन दोनों पक्षों को 'प्रख्या' तथा 'उपाख्या' इन दो शब्दों द्वारा प्रकट किया, तथा काव्य के स्वरूप के विषय में भी इसी परंपरा में उन्होंने कहा, **'उक्तं वर्णनीयं शब्दनीयं कवेः कर्मेति व्युत्पत्तित्रयं काव्यमिति'** (अभिनवभारती, पृ. 257)।

महिमभट्ट ने भी एक ओर काव्य के मूल में साक्षात्काररूपिणी प्रतिभा को माना तथा उसके संबंध में कहा :

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावंस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥

(व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श, 118)

कवि की प्रतिभा ईश्वर के तृतीय नेत्र के समान है—जिससे वह त्रैलोक्यवर्ती समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करता है। दूसरी ओर काव्य के स्वरूप के संबंध में उन्होंने यह भी कहा :

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।

(व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श)

अनुभाव और विभाओं की वर्णना काव्य है। अभिनव और महिमभट्ट दोनों के मंतव्यों के मूल में वेद के कवियों का चिंतन वर्तमान है, यद्यपि दोनों आचार्यों ने उस चिंतन को शास्त्रीय पद्धति पर परिष्कृत रूप दिया है।

इस प्रकार काव्यरचना के जिन दो पक्षों का संकेत वेद के रचनाकारों ने दिया, उनमें से प्रथम-दर्शन की धारणा से कविप्रतिभा का सिद्धांत जन्मा, द्वितीय-वर्णना की धारणा से अलंकार, वक्रोक्ति आदि के सिद्धांतों को जन्म मिला। अलंकार की धारणा का संकेत वेद के रचनाकारों ने ही कर दिया था। उदाहरण के लिए, जब वेद का कवि इंद्र का वर्णन करते समय कहता है कि इंद्र सूक्तों के द्वारा अंलकृत है, तो वहां वह अलंकार की स्पष्ट विवृत्ति करता है :

का ते अस्ति अरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम?

(ऋग्वेद, 7/29/3)

वेद की इस 'अरंकृति' ने अलंकार की सौंदर्यमूलक व्यापक अवधारणा को जन्म दिया जिसका अंगीकार सौंदर्यवादी आचार्य वामन ने 'सौंदर्यमलंकारः, अलंकृतिरलंकारः' कहकर किया। अरम् या अलम् के साथ कृ धातु का प्रयोग सजाने, परिष्कृत करने व परिपूर्ण बनाने के अर्थ में ऋग्वेद में अन्यत्र भी किया गया है,[1] जो अलंकार की सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणा का बीज है।

यास्क (7वीं शती ई.पू.) ने वेद पर निरुक्त लिखते हुए वैदिक कविता की व्याख्या के प्रसंग में उपमा अलंकार पर विचार किया। वस्तुतः काव्य में उपमा की अवधारणा बहुत पुरानी है। ऋग्वेद के ऋषियों को उपमा का ज्ञान था।[2] यास्क (सातवीं शताब्दी ई.पू.) के भी बहुत पहले गार्ग्याचार्य ने उपमा के लक्षण व भेदों का निरूपण किया था। इस काल तक संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की रचना के साथ-साथ जनता के साहित्य—गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण, आख्यायिका, आख्यान आदि—की रचना होने लगी थी अतः काव्य की विधाओं में इनका उल्लेख भी किया गया।

इस प्रकार भारतीय काव्यचिंतन का उपक्रम वेदों की रचना के साथ ही हो गया था, तथापि काव्य के प्रस्थानों पर सुस्पष्ट चिंतन भरत ने अपने नाट्यशास्त्र (दूसरी शती ई.पू.) के द्वारा प्रवर्तित किया। भरत के समय तक रामायण, महाभारत, कुछ पुराणों के अंश तथा कुछ एक नाटकों की रचना अवश्य हो चुकी थी। भरत के काव्यविवेचन में इन रचनाओं की परोक्ष उपस्थिति अनुभव की जा सकती है। भरत की रुचि मूलतः नाटक तथा उसकी प्रस्तुति में थी, और उनके समय तक नाटक खेले जाने लगे थे। जनता नाटकों की प्रस्तुतियों में आनंद भी बहुत लेती थी, अतः भरत के समक्ष एक प्रश्न यह भी था कि यह आनंद किन उपादानों से जन्म लेता

है, तथा इसका आस्वाद कैसे होता है। इस प्रश्न के विचार से रससिद्धांत का जन्म हुआ। कहा जाता है कि भरत ने रस का जो विवेचन किया, वह मूलतः नाट्य के लिए ही था, जिसमें नाट्य से आशय किसी रूपक के मंच पर प्रस्तुत होने वाले रूप के लिए था, काव्य के क्षेत्र में उनके चिंतन को बहुत बाद में समेटा गया। यह दृष्टिकोण एकांगी है, क्योंकि पश्चिम की तरह भारत में नाटक और काव्य को पृथक् करके कभी नहीं देखा गया। नाटक तथा कविता, दोनों को ही काव्य कहा गया तथा इस काव्य को आगे चलकर दृश्य (नाटक) तथा श्रव्य इन भेदों में विभाजित किया गया। भरत के समय तक दृश्य तथा श्रव्य के पार्थक्य की धारणा भी इतने सुस्पष्ट रूप में नहीं आई थी। रामायण, महाभारत, गाथा आदि लोकप्रिय काव्य भी उस समय कुशीलवों तथा चारणों द्वारा गा गाकर जनता में प्रस्तुत किए जाते थे। पुराणों का आख्यान सूत जाति के लोगों के द्वारा हुआ करता था। कालांतर में सूत के द्वारा पुराणों के आख्यान की पद्धति में एक परंपरा यह भी जुड़ी कि आख्यान का निर्वचन करने वाले व्यक्ति के साथ एक अभिनेता भी रहने लगा, जो पढ़े गए आख्यान का बीच-बीच में अभिनय करके बताता चलता था। इस प्रकार दृश्य और श्रव्य दोनों इस समय तक एक-दूसरे में संश्लिष्ट थे। अतः भरत ने जिस रस का विवेचन किया, उसकी व्याप्ति उन समस्त काव्यविधाओं में मानी जानी चाहिए, जिनका प्रस्तुतीकरण जनसमूह के आगे किया जाता रहा था। काव्य किसी एक व्यक्ति के द्वारा एकांत में बैठकर पढ़ने के लिए भी हो सकता है, ऐसी अवधारणा पारंपरिक भारतीय काव्यचिंतन में नहीं रही है। वह समूह के समक्ष प्रस्तुत किए जाने के लिए है, चाहे वह कुशीलव, सूत अथवा पौराणिक आदि के द्वारा पढ़कर लोगों के सामने सुनाया जाए, या अभिनेताओं के द्वारा रंगपीठ पर खेला जाए। सौंदर्यानुभूति की दृष्टि से दोनों स्थितियों में अंतर नहीं कर सकते, क्योंकि प्रेक्षक अथवा समूह की उपस्थिति दोनों में है, दोनों की परिणति आस्वाद में ही होती है। अभिनवगुप्त ने भरत के रसविवेचन की व्याख्या में स्पष्ट ही कहा है कि 'काव्य और नाट्य पर्याय हैं, काव्य मुख्यतः दशरूपात्मक ही होता है। इस दशरूपात्मक काव्य को (सूत, कुशीलव, चारण आदि के मुख से) सुनने पर भी नाट्यलक्षण रस स्फुटित होता ही है। काव्य को मंच पर अभिनय आदि के द्वारा प्रस्तुत करके दिखाने की व्यवस्था उन्हीं के लिए है जिनका हृदय इतना निर्मल नहीं है कि काव्य के श्रवण से ही आस्वाद कर सकें।'[3] काव्यश्रवण के समय रसप्रतीति में कुछ विघ्न आते हैं, सहृदय व्यक्ति की रसिकता के कारण ये विघ्न उसके आगे टिक नहीं पाते, अतः वह काव्यश्रवण से भी रसानुभूति कर लेता है। जो लोग इतने सहृदय नहीं हैं उनके लिए ये विघ्न विभावादि के रंगमंच

पर प्रयोग के द्वारा ही दूर होते हैं। इस प्रकार भरत के समय तक काव्य से समाज के समक्ष उसके पठित अथवा प्रस्तुत रूप का ही आशय लिया जाता था।

भरत ने काव्य के प्रायः सभी पक्षों, अंगों का विवेचन किया है, परंतु काव्य का आस्वाद एक व्यक्ति एकांत में ले, ऐसी अवधारणा उनमें कहीं नहीं आती। उन्होंने नाट्यशास्त्र लिखते समय काव्य तथा नाट्य को पर्याय ही माना। ऐसी स्थिति में यह कहना भूल होगी कि भरत ने नाट्यशास्त्र के क्षेत्र को काव्यशास्त्र से पृथक् करते हुए अपना शास्त्र निर्मित किया तथा बाद के आचार्यों ने भरत के रस-सिद्धांत को काव्य के क्षेत्र में भी स्वीकृत किया, भरत ने नहीं। नाटक के पाठ्य अंश के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग भरत ने अनेक स्थानों पर किया है। (द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र, 18/42, 43, 46 आदि)। इस दृष्टि से उनके अनुसार नाट्य तथा काव्य एक ही वस्तु है। भरत के परवर्ती आचार्यों ने भी भरत का यह आशय नहीं समझा कि रस नाट्य के प्रयुक्त रूप में ही सीमित है, काव्य या पठित रूप में नहीं। आनन्दवर्धन ने तो काव्य में रस पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा है कि काव्य में भी भरत को रस अभीष्ट है :

> **'अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनामेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबंधनम्। एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबंधनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव। रसादयो हि द्वयोरपि तयोः (काव्यनाट्ययोः) जीवभूताः।'**

(महाकवि का मुख्य व्यापार यही है कि वह रस आदि को ही मुख्य रूप में काव्यार्थ मानकर उनकी अभिव्यक्ति जिनसे हो सके, ऐसे शब्दों तथा अर्थों का निबंधन करता है। रस आदि की दृष्टि से काव्य का निबंधन भरत आदि आचार्यों में भी सुप्रसिद्ध ही है। रस आदि काव्य तथा नाट्य—इन दोनों के ही प्राण हैं।)

(आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, काव्यमाला सं., पृ. 225-26)

आगे चलकर जब राजसभा में रसिकों की मंडली के बीच काव्य के श्रव्य अथवा पाठ्य रूप को स्वतंत्र रूप से महत्त्व मिला, तब नाट्यशास्त्र के उन प्रकरणों को लेकर, जो नाट्य के पाठ्य अंश की मीमांसा करते थे, स्वतंत्र रूप से काव्यशास्त्र के ग्रंथ लिखने की परंपरा भामह आदि ने प्रचलित की।

काव्यचिंतन की दृष्टि से भरत की प्रमुख देन रससिद्धांत है। रस के विषय में उनकी मूलभूत मान्यता यह है कि स्थायी भाव रस में परिणत होते हैं। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में उन्होंने कहा है, **'स्थायीभावान् रसत्वमुपनेष्यामः।'** भरत की इस मान्यता के पीछे रामायण की इन सुप्रसिद्ध पंक्तियों का अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही योगदान रहा है :

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

(रामायण, 1/2/39)

यहां स्पष्ट ही स्थायी भाव के श्लोकत्व (काव्य और रस) में परिणत होने की सूचना है। रामायण की ये पंक्तियां भारतीय परंपरा में इतनी प्रसिद्ध रही हैं कि कवि कालिदास ने ही नहीं, काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन ने भी इनका अनुवाद किया है। रामायण में स्थायी भाव के रस में परिणत होने के विचार का ही नहीं, कुछ रसों का नामोल्लेख भी किया गया है, जिससे काव्य के क्षेत्र में रस को भरत से पूर्व स्वीकृति मिल चुकी थी, यह पक्ष पुष्ट होता है।

भरत के अनुसार स्थायी रस में परिणत होते हैं, परंतु किस परिस्थिति में? उनका उत्तर है : जहां विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग हो। संसार में जिन्हें कार्य, कारण और सहकारी कहा जाता है, वे ही काव्य या नाटक में चित्रित होने पर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।[4]

अपने रससूत्र **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** की व्याख्या में भरत ने कहा है, 'जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाट्य में नाना भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।' यहां पर भरत स्पष्टतः रस की उपस्थिति काव्य या नाट्य के पाठ्य अथवा प्रयुक्त रूप में ही मानते प्रतीत होते हैं।

अभिनवगुप्त ने भरत के इस विवेचन को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहां व्यंजन विभावस्थानीय हैं, चिंचा-हरिद्रा आदि (मसाले) अनुभावस्थानीय, तथा गुड़ आदि द्रव्य व्यभिचारी भावों के समान हैं। अपने दृष्टांत को आगे बढ़ाते हुए भरत कहते हैं, जिस प्रकार विभिन्न द्रव्य, व्यंजन, औषधियां आदि मिलकर षाडव रस (पानक रस या पना) आदि बनाते हैं, उसी प्रकार विभिन्न भावों के मिलने से स्थायी भाव रस में परिणत हो जाते हैं। इस दृष्टि से स्थायी भाव वह भोज्य पदार्थ है, जिसमें विभिन्न भाव मिश्रित होकर रस उत्पन्न करते हैं। इतने विवेचन से रस वस्तुनिष्ठ सिद्ध होता है। जैसे रस या आस्वाद भोज्य पदार्थ में रहता है वैसे ही रस नाट्य में रहता है। स्थायी भाव तथा रस दोनों ही नाट्य में रहते हैं, क्योंकि स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या भरत की दृष्टि से स्थायी भाव तथा रस की स्थिति प्रेक्षक में नहीं मानी जाएगी? सुरेन्द्र बारलिंगे ने अपने ग्रंथ 'सौंदर्य

तत्व आणि काव्यसिद्धांत' में यह मत उपस्थापित किया है कि भरत की दृष्टि से रस सर्वथा वस्तुनिष्ठ ही है, प्रेक्षक की मानसिकता से वह असंबद्ध रहता है।[5] भरत के विषय में ऐसा मानना ठीक नहीं है। भरत ने प्रेक्षक को दृष्टि में रखकर आगे कहा है, 'जिस प्रकार विभिन्न व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाने वाले रसज्ञजन रसों का आस्वादन करते हैं, तथा हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सहृदयजन विभिन्न भावों से तथा अभिनयों से व्यंजित वागंगसत्त्वोपेत स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं।' यहां भरत ने प्रेक्षक में आस्वाद की योग्यता की उपस्थिति मानी है। इस आधार पर आनन्दवर्धन तथा कुन्तक ने माना कि रसास्वाद करने वाले व्यक्ति में 'वैपश्चिती दृष्टि' रहा करती है (ध्वन्यालोक, 3/44), तथा अभिनव ने वासना के रूप में प्रेक्षक के भीतर स्थायी भावों की स्थिति मानी और रस की अभिव्यक्ति उसमें स्वीकार की। भरत का यह भी मंतव्य है कि रस के बिना कोई भी अर्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता—**'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'**। फिर रस संस्कार रूप में यदि आस्वाद करने वाले भावक के भीतर न हो, तो आस्वाद भी कैसे होगा? भरत आस्वाद की उपस्थिति प्रेक्षक में मानते हैं, तथा आस्वाद रस में मानते हैं :

अत्राह—रस इति कः पदार्थः? उच्यते—आस्वाद्यत्वात्।

(नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, काशी हिंदू वि.वि.सं., पृ. 678)

इस दृष्टि से प्रेक्षक में भी रस की उपस्थिति सिद्ध होती है, यद्यपि यह सत्य है कि परवर्ती व्याख्याकारों की तरह भरत ने प्रेक्षक की आस्वाद की प्रक्रिया पर विस्तार से विचार नहीं किया, क्योंकि उनके ग्रंथ की प्रयोजनीयता नाट्य के उन उपादानों के प्रति अधिक थी, जिनसे रस की निष्पत्ति होती है। इस दृष्टि से भरत ने कहा :

न भावहीनोऽस्ति न भावो रसवर्जित रसोः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥
व्यंजनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥
यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥

(नाट्यशास्त्र, 6/36-38)

न तो रस ही भावहीन होता है, न भाव ही रस से रहित। अभिनय में इनकी सिद्धि एक-दूसरे के द्वारा होती है। जिस प्रकार विभिन्न व्यंजन और औषधियों के संयोग से अन्न में स्वादुता होती है, उसी प्रकार भाव तथा रस एक-दूसरे में स्वाद उत्पन्न

करते हैं। जिस प्रकार बीज से वृक्ष, वृक्ष से पुष्प और फल होते हैं, उसी प्रकार रस ही मूल है, उसी से सब भाव व्यवस्थित होते हैं। संक्षेप में भरत के रसविषयक विवेचन का सार यही है।

लक्षण सिद्धांत

रस के साथ काव्य के अन्य प्रस्थानों में भरत का लक्षणनिरूपण बहुत महत्त्व का है। उनके अनुसार अच्छा काव्य विभिन्न लक्षणों से अन्वित होता है, जिनकी संख्या भरत ने छत्तीस बताई है। भरत की दृष्टि में लक्षणों का महत्त्व गुणों तथा अलंकारों से भी अधिक है, इसीलिए 16वें अध्याय में काव्यनिरूपण की पीठिका उपस्थित करते हुए 15वें अध्याय के अंत में उन्होंने कहा है, **काव्यबंधास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः ॥** (नाट्यशास्त्र, 15/227), लक्षण के स्वरूप के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियों का उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है :

1. लक्षण काव्य के वे धर्म हैं, जो उसके शब्दार्थ रूप शरीर में रहते हैं, जिस प्रकार गुण रस के धर्म हैं। अलंकार काव्य के बाह्य तत्त्व हैं, जबकि लक्षण अलंकार्य है। जैसे-'श्यामा विशालाक्षी' यह किसी युवती का लक्षण है।
2. इतिवृत्त के अंग—सन्ध्यंग, वृत्त्यंग आदि ही लक्षण हैं।
3. काव्य में धीरोदात्तादि के गुणों का आधान होना लक्षण है।
4. वस्तुवर्णन की भंगी ही लक्षण है।
5. कविप्रतिभा का प्रथम परिस्पंद गुणों में परिणत होता है। द्वितीय परिस्पंद में इस वस्तु का इस प्रकार वर्णन करूं, यह सोचता हुआ कवि अलंकारों का आधान करता है। तृतीय परिस्पंद में इन शब्दों को इन शब्दों से संयोजित करूं, इस विचार के द्वारा काव्य को शब्दार्थरूप शरीर प्राप्त कराया जाता है। लक्षण प्रतिभा के इन तृतीय परिस्पंद के संश्रित है।
6. कवि का रूपक निर्माण के हेतु उपादेय सामर्थ्य पाने का अभ्यास ही लक्षण है।
7. प्रवंध के धर्म लक्षण हैं।
8. कवि का अभिप्राय विशेष लक्षण है।
9. गुणालंकारों का यथावत् सन्निवेश लक्षण है।
10. अलंकारनिरपेक्ष स्वाभाविक सौंदर्य ही लक्षण है जो अमरुक जैसे कवियों के काव्य में मिलता है।
11. अलंकारों का ही एक भेद लक्षण है।

12. काव्यविशेष के व्यवच्छेदक लक्षण हैं।

'लक्षण' के उपर्युक्त बहुसंख्यक लक्षणों से लगता है कि भरत के समय यह काव्य का एक प्रसिद्ध प्रस्थान था, पर आगे चलकर विस्मृतप्राय हो गया। स्वयं अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के 16वें अध्याय पर टीका करते हुए प्रारंभ में ही इस तथ्य की ओर संकेत किया है। तथापि भरत की लक्षणविषयक अवधारणा काव्य के क्षेत्र में न तो अनपेक्षित है, न अगम्य ही।

लक्षण के संबंध में उपर्युक्त विकल्पों से यही प्रतीत होता है कि वह काव्य में मूल तत्त्व है जो अलंकार आदि को अनुप्रमाणित करता है। आगे चलकर भामह, दण्डी तथा कुंतक आदि अलंकारवादी आचार्यों ने इसी तत्त्व को वक्रोक्ति के नाम से अभिहित किया। वक्रोक्ति के साथ जुड़ी अवधारणा काव्य के मूल तत्त्व को अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट करती है, अतः लक्षण को भुला दिया गया। अभिनव गुप्त के अनुसार भट्टनायक ने इन लक्षणों का संबंध कविव्यापार से माना था (नाट्यशास्त्र, 16/1-4 पर अभिनवभारती)। अभिनव ने भी भरत के लक्षणनिरूपण की व्याख्या में भामह के **'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः'** आदि स्थल को उद्धृत करते हुए कहा है : **'तेन च परमार्थ-व्यापार एव लक्षणम्।'** भट्टतौत का भी यही मत था कि लक्षण से काव्य में वैचित्र्य आता है (16/40 पर अभिनवभारती)। आगे चलकर अभिनव ने लक्षणों का वक्रोक्तिरूप होना स्पष्ट ही प्रतिपादित किया है :

> **समस्तार्थालंकारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते। लक्षणानि गुणालंकारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते। लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखावत् काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायि, अलंकारस्तु रत्नाभरणादिवदेव, येन विना स्वसौन्दर्येणैव पुरुषः प्रविभासते।**

(नाट्यशास्त्र, 16/130 पर अभिनवभारती, काशी हिंदू वि.वि.सं., पृ. 1343)
अर्थात्, समस्त अर्थालंकारवर्ग के बीजभूत चमत्कारमय तथा कथारूपी शरीर को वैचित्र्य प्रदान करने वाले वक्रोक्तिरूपी तत्त्वों को लक्षण कहा जाता है। लक्षण गुण तथा अलंकार की महिमा के विना अपने सौभाग्य से ही शोभित होते हैं। महापुरुष के शरीर में पद्म आदि रेखाओं के समान लक्षण काव्य के शरीर में सौंदर्य उत्पन्न करता है। अलंकार रत्नाभरण आदि के समान बाह्य है, उसके बिना भी अपने सहज सौंदर्य से ही कोई पुरुष सुशोभित होता है।

भरत ने जो 36 लक्षण परिगणित किये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं : विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, गुणसंकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद,

अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, याच्ञा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टांत, निर्भासन, संशय, आशीः, प्रियोक्ति, कपट, क्षमा. प्राप्ति, पश्चात्ताप, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुमिति, परिदेवन।

उक्त लक्षणों की सूची से ही यह स्पष्ट है कि इनमें से अनेक ऐसे हैं, जिनका अंतर्भाव अलंकारों में किया जा सकता है।[6] लक्षण के संबंध में आगे चलकर एक मत यह भी प्रतिपादित किया गया है कि वह अलंकार का ही एक भेद है। किंतु भरत का दृष्टिकाणे यही था कि लक्षण अलंकारों का मूल है, अतः अलंकार लक्षण का अंग हो सकता है, लक्षण अलंकार के अंतर्गत नहीं आ सकता। यह दृष्टि उन्होंने अपने प्रथम लक्षण विभूषण की परिभाषा देते हुए ही स्पष्ट कर दी है :

अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद् भूषणमिति स्मृतम्॥

(नाट्यशास्त्र, 16/5)

यहां स्पष्ट ही भरत गुण तथा अलंकार दोनों को ही लक्षण के अंगभूत मानकर चल रहे हैं। इस प्रकार लक्षण में काव्य का शरीर तथा उसके अंतर्गत आने वाले उपादानों के साथ काव्य के आंतरिक वैशिष्ट्य का समाहार हो जाता है। काव्यशास्त्र के अलंकारवादी आचार्यों की परंपरा में आगे जाकर अलंकार तथा वक्रोक्ति की व्यापक अवधारणा भरत की लक्षणविषयक अवधारणा का स्थानापन्न बनी।

अलंकार

लक्षण काव्य का शरीर है (**काव्ये तावल्लक्षणं शरीरम्**—नाट्यशास्त्र, 16/40 पर अभिनवभारती) तो उसके लिए अलंकारों की भी अपेक्षा होती है। लक्षणों का निरूपण कर चुकने के बाद भरत ने चार अलंकार बताए हैं : उपमा, रूपक, दीपक और यमक। उनकी दृष्टि में अलंकार लक्षण की तुलना में गौण हैं। लक्षण या काव्यबंध तो अनिवार्य है, उसके रहते हुए कोई अलंकार भी साथ में रह सकता है (नाट्यशास्त्र, 16/41)। अलंकार के विषय में भरत की इसी दृष्टि को आगे चलकर ध्वनिवादी आचार्यों ने अंगीकृत किया।

दोष

भरत का दोष तथा गुणों का निरूपण भी महत्त्व रखता है। उन्होंने दस दोषों तथा दस गुणों का निरूपण करते हुए कहा कि दोष का विपर्यय गुण है (**गुणा विपर्ययादेषाम्**—नाट्यशास्त्र, 16/65)। यद्यपि भरत द्वारा दिए गए दोषों और गुणों के लक्षणों से यह नहीं लगता कि कोई विशिष्ट गुण किसी दोष विशेष का विपर्यय

ही है, अतः उनकी दृष्टि में दोषविपर्यय गुण का सामान्य लक्षण है। भरत की गुणविषयक अवधारणा वामन आदि परवर्ती आचार्यों से भिन्नता रखती है। उन्होंने वामन की भांति शब्द और अर्थ के दस-दस गुण पृथक्-पृथक् नहीं बतलाए। काव्य में शब्द और अर्थ संश्लिष्ट रहते हैं, और गुण उसके इस संश्लिष्ट रूप के ही हो सकते हैं, अतः शब्द तथा अर्थ के अलग-अलग गुण मानना उचित भी नहीं है। इस प्रकार वामन की अपेक्षा गुण के विषय में भरत की दृष्टि संश्लेष व समग्र पर अधिक केंद्रित है। दस काव्यदोषों का परिगणन भरत ने इस प्रकार किया है :

गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥

(नाट्यशास्त्र, 16/88)

गुण

ये सभी दोष अर्थ की असंगतियों से संबंध रखते हैं जिनका निराकरण करने से काव्य का अर्थ प्रांजल और भास्वर हो सकता है, जिसके पश्चात् काव्य में वैशिष्ट्य अथवा गुण का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से ही भरत ने दोषों का निरूपण कर चुकने के पश्चात् निम्नलिखित गुणों का विवरण दिया है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥

(नाट्यशास्त्र, 16/96)

इस प्रकार लक्षण काव्य का स्वरूप है तो गुण उसके रचनागत धर्म तथा इन दोनों से अनुबद्ध उसका वैशिष्ट्य अलंकार है। रस, लक्षण, गुण, अलंकार तथा काव्यदोष—इन सब प्रस्थानों को मिलाकर भरत का काव्यविवेचन सर्वांगपूर्ण बन गया है तथा भारतीय काव्यचिंतन का परिपुष्ट आधार भी। उनके रसविवेचन से एक ओर रसध्वनिवादी आचार्यों की परंपरा चली, वहीं लक्षण, गुण और अलंकार के निरूपण से अलंकारवादी आचार्यों की भी।

संस्कृत के काव्यशास्त्र में ये दोनों धाराएं भरत से प्रारंभ होकर एक दूसरे के समानांतर चलती रहीं। काव्यशास्त्र के समस्त कथित संप्रदाय (स्कूल्स) इन दोनों के भीतर समाहित हैं। ध्वनिवाद रससंबंधी चिंतन के साथ आता है, वस्तुतः वह रसप्रस्थान से अपनी सत्ता स्वतंत्र कभी नहीं रख पाता। इसी प्रकार गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि प्रस्थान भी अलंकारवाद के अंतर्गत आते हैं। औचित्य संप्रदाय को भी स्वतंत्र संप्रदाय नहीं कहा जा सकता, वह रसध्वनि तथा अलंकार इन दोनों धाराओं

की संधिरेखा पर स्थित है तथा इनको एक-दूसरे से जोड़ता है। वस्तुतः जैसा हम अगले दो अध्यायों में देखेंगे, संस्कृत काव्यशास्त्र में छः संप्रदायों (रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य) का विभाजन युक्तिसंगत नहीं है। संप्रदाय के रूप में इन्हें मान्यता देना तभी उचित हो सकता है, जब ये अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हों। जिन प्राचीन आचार्यों को इन कथित संप्रदायों का प्रवर्तक अथवा स्थापक माना जाता है, उनका भी अपने-अपने प्रस्थान को इस रूप में प्रवर्तित करने का आशय कदापि नहीं रहा है। एक ओर रस-ध्वनि, दूसरी ओर अलंकार, गुण-रीति, वक्रोक्ति और औचित्य—इनकी अवधारणाओं के पीछे ऐतिहासिक विकास की क्रमिक परंपरा है। उन्हें न एक-दूसरे से स्वतंत्र कहा जा सकता है, न विच्छिन्न।

संदर्भ

1. यः स्वयं वहते सो अरम् करत। (ऋग्वेद 5.44.8)
   यथा विद्वान् अरम् करत विश्वेभ्यो यजतेभ्यः। (वही, 2.5.8)
   अरं कृण्वन्तु वेदिं समगतिमिन्धतां पुरः...। (वही, 1.170.4)
2. स्वादुक्षद्यो वसतौ स्या कृज्जीवयाजं यजतं सोपमा दिवः। (वही, 1.170.4)
3. रससमुदायो हि नाट्यम्। न नाट्ये एव रसाः, काव्येपि नाट्यायमान एव रसः। (अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ ओरि. सीरीज, प्रथम भाग, पृ. 291-2) न नाट्ये एव रसाः, काव्येपि। काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव...तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणग्राह्यो रससंचयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचितथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया स्वगतक्रोध-शोकादिसंकटहृदयग्रंथिभंजनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। (वही)
4. तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। (नाट्यशास्त्र, काशी हिंदू वि.वि. संस्करण, प्रथम भाग, 1971), पृ. 658
5. सुरेन्द्र बारलिंगे : सौंदर्यतत्त्व और काव्यसिद्धांत, अनु. मनोहर काले, (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963), भूमिका।
6. विस्तृत विवरण के लिए इस लेखक के नाट्यशास्त्र विश्वकोश के दूसरे खंड में काव्य शीर्षक देखें।

2

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा

संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास की यात्रा लगभग ढाई हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में फैली हुई है। इसकी परंपरा में आकर ग्रंथ, भाष्य या टीकाग्रंथ, वादग्रंथ, प्रकरण ग्रंथ तथा संग्रह ग्रंथ—मुख्य रूप से इन पांच प्रकार के ग्रंथों की रचना होती रही है। आकर ग्रंथ मूल ग्रंथ या प्रवर्तक ग्रंथ हैं, जिनसे सिद्धांत या वाद की स्थापना हुई। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र या आनंदवर्धन का ध्वन्यालोक आकर ग्रंथ हैं। भाष्यग्रंथ या टीकाएं इन आकर ग्रंथों पर लिखी जाती रही हैं, इन में अनेक भाष्य या टीकाएं ऐसी हैं, जो नये विचारों और सिद्धांतों की स्थापना के साथ समग्र चिंतन को नवीन दिशा भी देती हैं। आचार्य अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र पर टीका 'अभिनवभारती' तथा ध्वन्यालोक पर उनकी टीका 'ध्वन्यालोकलोचन' ऐसी ही मौलिक कृतियां हैं। किसी स्थापित सिद्धांत का खंडन करके अपने सिद्धांत की स्थापना के लिए लिखा गया स्वतंत्र ग्रंथ वाद ग्रंथ है। महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जो आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धांत का खंडन करते हुए अनुमितिवाद की स्थापना करता है। शास्त्र के किसी एक प्रकरण का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ प्रकरण ग्रंथ है। मुकुलभट्ट की अभिधावृत्तिमातृका, रुय्यक का अलंकारसर्वस्व, अप्पयदीक्षित की चित्रमीमांसा, कुवलयानंद तथा वृत्तिमीमांसा आदि ग्रंथ प्रकरण ग्रंथ हैं। संग्रह ग्रंथ मुख्य रूप से शास्त्र के सारे सिद्धांत को समन्वित दृष्टि से प्रस्तुत करने के लिए लिखा जाता है। मम्मट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण पंडितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर आदि संग्रह ग्रंथ कहे जा सकते हैं। पर इनके प्रणेता केवल संकलनकार नहीं हैं। वे पूरी परंपरा का पुनर्व्यवस्थापन करते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र एक आकर ग्रंथ के रूप सर्वप्रथम स्मरणीय है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्र के अनेक

विषयों पर प्रामाणिक विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र में 36 अध्याय हैं। इनमें 6, 7, 14, 15, 16 और 17 भारतीय काव्यचिंतन की सुदृढ़ पीठिका प्रस्तुत करते हैं। छठा अध्याय रसाध्याय कहा जाता है और सातवां भावाध्याय। चौदहवें से लेकर सत्रहवें अध्याय तक वाचिक अभिनय और छन्दःशास्त्र के विषयों का विचार भी काव्य विषयक चिंतन के महत्त्वपूर्ण सूत्र समेटता है।

नाट्यशास्त्रोत्तर भारतीय कलाचिंतन की परंपरा में दो ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा अग्निपुराण। इनमें से विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय चौथी-पांचवीं शताब्दी माना गया है। इसमें कलाओं के अंतःसंबंध को लेकर जो विमर्श प्रस्तुत किया गया है, वह विभिन्न कलाओं के नैकट्य और विकास के साथ सौंदर्यशास्त्र की मूलभूत अवधारणाओं का भी प्रतिपादन करता है। अग्निपुराण का समय आधुनिक इतिहासकारों ने नवीं-दसवीं शताब्दी के आसपास माना है। इसमें भी विभिन्न काव्यों और काव्य के सिद्धांतों का प्रतिपादन है, जिन पर दण्डी और भोज के चिंतन का प्रभाव माना जाता है। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि आदि अलंकारों के जो लक्षण दण्डी ने दिए हैं, वे ही अग्निपुराण में शब्दशः ले लिए गए हैं, जबकि कुछ अलंकारों के लक्षण भामह से प्रभावित हैं। आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक में पूर्ववर्ती आचार्यों के दो श्लोक (**अपारे काव्य संसारे.** ..... तथा **शृंगारी चेत् कविः**)......भी अग्निपुराण से उद्धृत हैं। इसके साथ ही दण्डी के काव्यादर्श की अनेक कारिकाएं भी इस पुराण में यथावत् आती हैं। रस के संबंध में अग्निपुराण की मान्यता है कि एक, अक्षर, सनातन और अज परम ब्रह्म की अभिव्यक्ति आनंद है, इसी को चैतन्य, चमत्कार या रस कहा जाता है। इसी का एक विकार अहंकार है। यह अहंकार या अभिमान रति को पुष्ट करता है, वही शृंगार बनता है। यही मूल रस है शेष रस इसी के भेद हैं।

अलंकारों के इतिहास में भट्टिकाव्य का भी उल्लेखनीय स्थान है। यह यद्यपि महाकाव्य है, पर शास्त्रकाव्य की कोटि में आता है। इसके प्रसन्नकांड के चार सर्गों (सर्ग 10 से 13) में काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं और कोटियों के क्रमबद्ध उदाहरण महाकवि भट्टि ने प्रस्तुत किए हैं।

काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य

मेधाविरुद्र—भामह, नमिसाधु तथा राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया है। राजशेखर के उल्लेख के अनुसार ये जन्मांध थे। नमिसाधु ने अपनी काव्यालंकार की टीका में सूचित किया है कि मेधाविरुद्र ने अलंकारशास्त्र का कोई ग्रंथ लिखा था। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। भामह ने मेधावी का उल्लेख करते हुए

बताया है कि इन्होंने यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, संख्यान आदि अलंकारों का प्रतिपादन किया था।

भामह—भामह के पिता का नाम रक्रिलगोमिन् था। कुछ विद्वानों ने इन्हें इस नाम के आधार पर तथा इनकी रचना काव्यालंकार के कतिपय उल्लेखों के आधार पर बौद्ध माना है। आचार्य आनंदवर्धन ने इनके एक श्लोक (काव्यालंकार 3/28) की छाया बाणभट्ट की रचना में देखी है। अतः आनंदवर्धन की मान्यता के अनुसार भामह बाण (सातवीं शताब्दी) से पूर्व के हैं। भामह के प्रत्यक्ष के लक्षण पर दिङ्नाग के लक्षण का प्रभाव तो है, पर धर्मकीर्ति के लक्षण का नहीं। अतः वे दिङ्नाग के बाद और धर्मकीर्ति के पहले प्रायः छठी शताब्दी में हुए—यह कहा जा सकता है। काव्यालंकार में भामह ने छः परिच्छेदों तथा लगभग 400 कारिकाओं या श्लोकों में काव्य का लक्षण, प्रयोजन, अलंकार, दोष, न्यायनिर्णय तथा शब्दशुद्धि पर विचार किया है। अपने समय के अनेक कवियों के इन्होंने नाम व उद्धरण दिए हैं। भामह ने शब्दार्थसाहित्य की अवधारणा का पल्लवन किया। इन्हें आधुनिक दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्र में संरचनावादी चिंतन का पुरोधा कहा जा सकता है। शब्दार्थसंबंध पर विचार करते हुए भामह ने बौद्धों के अपोहवाद तथा वैयाकरणों के स्फोटवाद दोनों का निराकरण किया।

दण्डी एक ऐसे आचार्य हैं, जिनका प्रभाव भोज जैसे आलंकारिकों पर हीं नहीं, सुदूर दक्षिण में सिंहल तक काव्य विचारकों पर पड़ा। सिंहली भाषा में नवम शताब्दी में सिय-वस-लकर (स्वभाषालंकार) नामक ग्रंथ पूरा का पूरा दण्डी के काव्यादर्श पर आधारित है। नवीं शताब्दी में कन्नड़ भाषा में कविराजमार्ग नामक काव्यशास्त्र के ग्रन्थ की रचना राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष ने की, जिसके अनेक उदाहरण दण्डी के काव्यादर्श के अक्षरशः अनुवाद हैं। काव्यादर्श पर अनेक टीकाएं प्राचीन काल में लिखी गयीं। दण्डी ने गुण और रीति का विशद विवेचन किया।

उद्‌भट—उद्‌भट नाट्यशास्त्र के सबसे प्राचीन व्याख्याकारों में एक हैं। अपने नाम के अनुरूप नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के क्षेत्रों में उद्‌भट् अपूर्व साहस के साथ भरतमुनि की मान्यताओं पर भी प्रश्नचिह्न लगाने में नहीं हिचकिचाए। आनंदवर्धन, मम्मट, रुय्यक अप्पयदीक्षित आदि श्रेष्ठ आलंकारिकों ने उद्‌भट के चिंतन और उनकी काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं को सम्मान के साथ उद्धृत किया है। कल्हण ने भट्टोद्‌भट नामक विद्वान् को महाराज जयापीड़ के द्वारा दीनारों के दान से सत्कृत बताया है। (राजतरंगिणी-4/495)। ब्यूलर आदि विद्वानों ने यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि कल्हण के द्वारा उल्लिखित उद्‌भट ही आलंकारि कउद्‌भट हैं। राजा जयापीड़

का समय आठवीं-नवीं शताब्दी है। यही उद्भट का भी समय माना जाना चाहिए। उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर भामहविवरण नाम से टीका लिखी थी, जो अधूरी मिलती है। काव्यालंकारसारसंग्रह इनका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। नाट्यशास्त्र पर भी उन्होंने भाष्य या ग्रंथ लिखा था, जो उपलब्ध नहीं होता। कुमारसम्भव काव्य से इन्होंने अनेक उद्धरण दिए हैं। भामह के विचारों का गहरा प्रभाव इनके काव्यशास्त्रीय उपस्थापनाओं पर देखा जा सकता है। उद्भट अलंकारवादी आचार्यों में अग्रगण्य हैं। वे रसतत्त्व को भी रसवद् अलंकार के रूप में अलंकार के अंतर्गत ही स्थान देते हैं। नाट्य में अष्टरसवाद का निरास करके नवरसों की स्थापना करने के लिए भी उनका स्मरण किया जाता है। समान उच्चरित शब्दों में अर्थभेद से शब्दभेद होता है—यह उद्भट का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका उल्लेख मम्मट ने काव्यप्रकाश में किया है। उद्भट ने काव्य के अर्थ को दो प्रकार का माना—विचारितसुस्थ तथा अविचारित रमणीय। उनके इस विभाजन की भी बाद के आचार्यों में राजशेखर ने चर्चा की है। गुणों को वे संघटना के धर्म मानते हैं। श्लेष के सम्बन्ध में भी उद्भट ने यह महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद मान्यता दी कि श्लेष अन्य अलंकारों की प्रतिपत्ति का हेतु है। इसका खण्डन मम्मट ने किया है। काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में इनके अनुगामियों का एक प्रबल वर्ग था, जिसे औद्भट संप्रदाय या उद्भटानुयायीवर्ग (औद्भटाः) के नाम से आनंदवर्धन, रुय्यक, अभिनवगुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने उद्धृत किया है।

वामन—वामन उद्भट के समकालीन और उनके साथ कश्मीर में महाराज जयापीड के सभा पंडित थे। दस शब्द गुण और दस अर्थ गुणों का स्वरूप बताते हुए वामन ने कविता की आन्तर और बाह्य संरचना की मीमांसा का अभिनव उपक्रम किया। अलंकार को काव्य के संपूर्ण सौंदर्य के रूप में वामन ने सुस्पष्टतया पहली बार परिभाषित किया। रीति को ही इस काव्य की आत्मा या संरचनागत स्वरूप भी उन्होंने कहा।

अन्य आचार्य

उद्भट के पश्चात् नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक और भट्टतौत के मत बहुशः उद्धृत होते आए हैं। इन तीनों के ग्रंथ या भाष्य अनुपलब्ध हैं। भट्टनायक ने हृदयदर्पण नाम से एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा था। उन्होंने आनंदवर्धन के व्यंजनावाद का खंडन किया है, अतः वे आनंदवर्धन के कुछ पश्चात् हुए। भट्टतौत को उनके शिष्य तथा काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और प्रत्यभिज्ञादर्शन के परमप्रतिष्ठित आचार्य अभिनवगुप्त ने अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया है और उनके ग्रन्थ काव्यकौतुक से अनेक उद्धरण भी दिये है।

नवीं दसवीं शताब्दी का काल संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अछूती उद्भावनाओं का उर्वर काल है। इसमें आनंदवर्धन, कुंतक, राजशेखर, रुद्रट और भोज जैसे आलंकारिक हुए। रुद्रट के ग्रंथ का नाम भी काव्यालंकार है। नमिसाधु, वल्लभदेव तथा आशाधर जैसे पंडितों ने इस ग्रंथ पर टीका की है। इन्होंने अलंकारों को वास्तवमूलक, विरोधमूलक, श्लेषमूलक तथा औपम्यमूलक इन चारों वर्गों में व्यवस्थापित करते हुए अलंकार की समग्र अवधारणा प्रस्तुत की। रुद्रट शान्त और प्रेयान् मिला कर दस रस मानते हैं।

मम्मट ने नवसाहसांकचरित (1050 ई.) को अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है, तथा उदात्त अलंकार के उदाहरण में जो पद्य उद्धृत किया है उसमें राजा भोज की प्रशस्ति है। अभिनवगुप्त का मम्मट पर सर्वातिशायी प्रभाव है। इन आधारों पर उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। मम्मट का काव्यप्रकाश एक संग्रह ग्रंथ है। इसके दस उल्लासों में पहले में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण तथा काव्यभेद ये चार प्रकरण सोदाहरण प्रतिपादित हैं। दूसरे व तीसरे में शब्दवृत्तियां व काव्य में उनके प्रकार्य का विवेचन है। चौथे उल्लास में ध्वनिकाव्य और उसके भेद बताए गए हैं, जिनके अंतर्गत रस का स्वरूप रसनिष्पत्तिविषयक मत तथा रस के भेदों का भी निरूपण है। पांचवें उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य या मध्यमकाव्य के आठ भेद उदाहरण सहित बतलाए गए हैं। षष्ठ उल्लास में भामह के साहित्यसिद्धांत को उद्धृत करते हुए चित्रकाव्य के वैशिष्ट्य का निरूपण है। सातवें उल्लास में दोषनिरूपण है। काव्य के दोषों का सर्वाधिक विस्तृत प्रतिपादन मम्मट ने किया है। आठवें में गुण तथा नवें और दसवें उल्लासों में अलंकारों का विवेचन है। इस प्रकार काव्यप्रकाश सभी काव्यतत्त्वों या तत्संबंधी समस्त कोटियों का निरूपण करने वाला सर्वांगीण काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है।

उद्भट के ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह के टीकाकारों में प्रतीहारेन्दुराज अलंकारशास्त्र के अत्यंत प्रतिष्ठित आचार्यों में समादृत हैं। इनका समय 950 ई. के आसपास है। इसी ग्रन्थ के एक और टीकाकार राजानकतिलक का उल्लेख जयरथ ने अलंकारसर्वस्व की अपनी विमर्शिनी टीका में किया है। प्रतीहारेन्दुराज मुकुल के शिष्य तथा कोंकण के निवासी थे।

रुय्यक—रुय्यक का समय 1100 ई. के आसपास है। मम्मट के पश्चात् रुय्यक दूसरे महत्त्वपूर्ण आलंकारिक हैं, जिनका प्रतिपादन बहुशः उद्धृत होता आया है। रुय्यक का अलंकारसर्वस्व एक प्रकरण ग्रंथ है। आनन्दवर्धन तथा मम्मट के मतों का भी रुय्यक ने साहस के साथ खण्डन किया है।

मम्मटोत्तर काल के अन्य महत्त्वूपर्ण आचार्य हैं—हेंमचन्द्र (काव्यानुशासन), जयदेव (चन्द्रालोक), विद्याधर (एकावली)। अलंकारों के विवेचन के लिये चन्द्रालोक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह भी एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें 100 अलंकारों का विवेचन है।

काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं को व्यवस्थापित करने वाले आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का अनन्य स्थान है। इनका समय 14वीं शताब्दी है। इन्होंने साहित्यदर्पण में काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के समग्र सिद्धान्तपक्ष को समेट लिया है। अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने रस सिद्धान्त पर अनेक नयी मान्यताएं उपस्थित कीं। अप्पय दीक्षित ने चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द इन दो ग्रन्थों में अलंकारों पर विवेचन किया है। कुवलयानन्द में इन्होंने अलंकारों की संख्या 120 तक पहुंचा दी और अनेक नये अलंकारों की भी उद्भावना की। रसगंगाधर अपूर्ण मिलता है। पंडितराज ने इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के सारे प्रस्थानों को अपने स्दि्धान्त के अनुसार पुनर्व्यवस्थापित करने का उपक्रम किया था।

संस्कृत काव्यशास्त्र के पुनर्व्यवस्थापन का प्रश्न

प्रत्येक शास्त्र नये युग में पुनर्व्यवस्थापित किया जाता है। राजशेखर की काव्यमीमांसा अपने आप में सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को पुनर्व्यवस्थापित करने का एक प्रयास है। यह पुनर्व्यवस्थापन संरचनागत स्तर पर भी हो सकता है, और अवधारणागत स्तर पर भी। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में आनन्दवर्धन आदि के ध्वनिवादी चिन्तन को अपने ग्रन्थ के ढांचे में व्यवस्थापित किया, जिससे ध्वनिवादी काव्यशास्त्र की पूरी संरचना सामने आर्यी । राजशेखर ने काव्यशास्त्र को संरचनात्मक तथा अवधारणात्मक दोनों स्तरों पर पुनर्व्यवस्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने काव्यपुरुष की अवधारणा में अपने समय तक विवेचित सारे काव्यविषयक सिद्धान्तों को समाहित करने का प्रयास किया। इसके साथ ही उन्होंने साहित्यविद्या के उद्भव की जो कथा प्रस्तुत की, वह भी काव्यचिन्तन का परम्परा को पुनः परिभाषित करती है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत काव्यशास्त्र को विभाजनवादी तथा औपनिवेशिक दृष्टि से मीमांसित किया जाता रहा है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आधुनिक विद्वानों ने जो इतिहास लिखे, उनमें भी यह दृष्टि प्रभावी रही। इस कारण इस शास्त्र के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार हुआ। आज संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनर्व्यवस्थापन इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के निराकरण के लिये और भी आवश्यक है।

संस्कृत काव्यशास्त्रविषयक अपने इतिहासग्रन्थों में पी. व्ही. काणे तथा एस. के. डे. ने इस शास्त्र के उद्भव पर विचार किया है। वस्तुतः उद्भव के विषय में इन

विद्वानों की मान्यता में ही उनकी भ्रान्त दृष्टि और पूर्वाग्रह स्पष्ट उभर कर आते हैं। काणे ने अपने ग्रन्थ में काव्यादर्श की टीका काव्यप्रकाशादर्श से उद्धरण दिया है, जिसमें भरतमुनि के द्वारा अग्निपुराण से संक्षेप करके अलंकारशास्त्र की रचना करने की परम्परा स्वीकृत है।

सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः सङ्क्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्। (काणे, पृ. 3)

यही बात साहित्यकौमुदी की टीका क्रमनन्दिनी में भी कही गई है—

काव्यरसास्वादनाय बह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः सङ्क्षिप्ताभिः कारिक्काभिर्बबन्ध।

तदनुसार काव्यशास्त्र को ही नाट्यशास्त्र का मूल माना जाना चाहिये।

आधुनिक विद्वानों ने इसके विपरीत काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र का परिशिष्ट या अनुवर्ती ही माना। अशोक केलकर ने सम्पूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र को आधुनिक पाठकों की दृष्टि से पुनर्व्यवस्थापित करते हुए हाल ही में एक पुस्तक लिखी है, उसमें भी यही धारणा प्रचारित है।

इससे स्पष्ट है कि हमारी परम्परा भरतमुनि को अलंकारशास्त्र का प्रवर्तक नहीं मानती। भरत के पहले यह शास्त्र चला आ रहा था। यही बात राजशेखर भी साहित्यविद्या के उद्भव पर विचार करते हुए कहते हैं। फिर भी आधुनिक विद्वान् भरतमुनि को अलंकारशास्त्र का प्रथम तथा प्रवर्तक आचार्य मानते आये हैं। चूंकि भरतमुनि का तो अलंकारशास्त्र पर कोई ग्रन्थ पृथक उपलब्ध ही नहीं है, नाट्यशास्त्र के छठे तथा सोलहवें अध्याय में ही विशेष रूप से काव्यशास्त्र के विषय गृहीत हुए हैं, अतः इन विद्वानों ने यह मान लिया कि अलंकारशास्त्र मूलतः नाट्यशास्त्र का परिशिष्ट रहा है, इसे स्वतन्त्र शास्त्र का रूप बहुत बाद में प्राप्त हुआ।

अलंकारशास्त्र के आचार्यों की हमारी परम्परा कहीं भी यह स्वीकार नहीं करती कि अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र का अंग था, तथा बाद में स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ। काणे आदि यह भी कह जाते हैं कि काव्यशास्त्र के आचार्य आरम्भ में तो भरतमुनि का ही अनुवर्तन करते रहे। यह मान्यता भी उचित नहीं प्रतीत होती। भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने तो भरतमुनि के काव्यविषयक सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—लक्षण—का कहीं भी विवेचन नहीं किया। दण्डी लक्षण का उल्लेख अवश्य करते हैं, पर वे स्पष्ट उद्घोष करते हैं कि अन्य आगम या शास्त्र में सन्ध्यंग, वृत्त्यंग तथा लक्षण आदि जो सिद्धान्त हैं, उन्हें हम अलंकार के अन्तर्गत

ही मानते हैं, और ऐसे सिद्धान्तों का समावेश अलङ्कार के रूप में करके ही यहां विवेचन किया भी गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि दण्डी अलंकारशास्त्र को नाट्यशास्त्र से सर्वथा स्वतन्त्र शास्त्र मानते हैं।

केवल नाट्यशास्त्र ग्रन्थ की उपलब्धि से यह मान लेना उचित नहीं था कि नाट्यशास्त्र साहित्यशास्त्र का उपजीव्य रहा है। राजशेखर साहित्यविद्या के जन्म का जो प्रतीकात्मक उपाख्यान बताते हैं, उसमें तो तस्वीर एकदम उल्टी ही है। उनके अनुसार अठारह भिन्न-भिन्न शास्त्रों के रूप में काव्यविद्या का अत्यन्त प्राचीनकाल में विकास हो चुका था, इन्हीं अंगों में से रूपक अर्थात् नाट्य के विवेचन भरतमुनि ने किया। अर्थात् नाट्यशास्त्र ही इस दृष्टि से काव्यशास्त्र का अंग माना जाना चाहिये, न कि काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र का।

ऐतिहासिक तथ्यों तथा हमारी समग्र साहित्यक परम्परा से भी इसी बात की पुष्टि होती है। कविता तथा तद्विषयक चिन्तन का उद्भव और विकास पहले हुआ, नाट्य तथा तद्विषयक चिन्तन का बाद में। ऋग्वेद में उत्कृष्ट काव्य के नमूनों के साथ काव्यशास्त्रविषयक पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग हुआ तथा अलंकार, गुण, रीति, काव्यानुभूति आदि को लेकर विमर्श की परम्परा का सूत्रपात भी हुआ। अलंकार तथा उपमा की अवधारणा यहां अनेकत्र व्यक्त है–

यथा विद्वान् अरं करत विश्वभ्यो यजतेभ्याः। –ऋग्वेद, 2.8.8
अरं कृण्वन्तु वेदिं समगतिमिन्धतां पुरः कवयः।–वही,1.170.7
स्वादुक्षद् यो वसतो स्या कृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः।
–वही,11.31.19

भरतमुनि के बहुत पहले गार्ग्याचार्य ने काव्य में उपमा के स्वरूप तथा उसके भेदों का विवेचन किया था। गार्ग्य ने उपमा का जो सलक्षण बताया, वह काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है। वे कहते हैं कि अतत्सदृश को तत्सदृश बताना उपमा है। यह लक्षण उपमा के विषय में प्रचलित धारणा से हट कर है। सामान्यतः दो समान वस्तुओं में साधर्म्य का कथन उपमा माना जाता है। गार्ग्य कहते हैं कि साम्य वास्तव में होता ही नहीं है, कवि साम्य बता देता है। गार्ग्य की मान्यता कविकर्म की व्याख्या की दृष्टि से अधिक संगत है। मुख और चन्द्रमा में वास्तव में साम्य नहीं होता। जो साम्य विदित या प्रसिद्ध हो, उसका कथन करने से तो उपमा अलंकार होगा भी नहीं। **गोसदृशो गवयः** या **यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी** में उपमा अलंकार नहीं हो सकता। गार्ग्य का यह चिन्तन आलंकारियों के द्वारा स्वीकार किया गया। इसीलिये दण्डी अपने उपमा विवेचन में कहते हैं कि उपमा में साम्य उद्भावित होना है, प्रसिद्ध या पूर्वज्ञात नहीं।

काव्यशास्त्र की पूरी परम्परा में कहीं भी नाट्यशास्त्र से इस शास्त्र का उद्‌भव हुआ—ऐसी परम्परा नहीं मिलती। राजशेखर ने जिस परम्परा का निरूपण किया है, उसमें तो रूपकनिरूपण ही उल्टे साहित्यविद्या के अंग के रूप में उपक्रान्त हुआ—यह माना गया। अतः नाट्यशास्त्र साहित्यशास्त्र का अंग रहा—ऐसा मानने वाली एक परम्परा तो ज्ञात होती है, पर साहित्यशास्त्र नाट्यशास्त्र से उद्‌भूत हुआ ऐसी परम्परा नहीं है। राजशेखर ने प्राचीन काल में साहित्यविद्या के अत्यधिक विस्तार व कई अंगों और उपांगों के प्रचलन में आ जाने से उसके मूल रूप का ही कुछ उच्छेद हो जाने की बात कही है—

इत्थंकारं च प्रकीर्णत्तात् सा किंचिदुच्छिच्छिदे।

अतः यह सम्भव हो सकता है कि साहित्यविद्या या साहित्यशास्त्र के कुछ प्रस्थान स्वतन्त्र रूप से विकसित होने लगे, तो उनमें से एक से नाट्यशास्त्र का विकास हुआ। अपने मूल स्वरूप के ही इस अंगोपांगबाहुल्य के कारण विच्छिन्न हो जाने से एक स्थिति में साहित्यशास्त्र ने नाट्यशास्त्र का अवलम्बन अपने को पुनः सुपुष्ट और सुसम्बद्ध बनाने के लिये किया हो, यह परवर्ती स्थिति भी स्वीकारी जा सकती है।

क्या यह विडम्बना नहीं कि काणे तथा डे दोनों ही राजशेखर के साहित्यविद्या विषयक निरूपण का उल्लेख करते हुए भी उसकी परम्परा को अपने इतिहास के व्यवस्थापन के लिये उपादेय नहीं समझते?

राजशेखर ही एकमात्र ऐसे आचार्य हैं जो वेदांगों, पारम्परिक विद्याओं तथा विद्यास्थानों में साहित्यविद्या या अलंकार की स्थिति पर विचार करते हैं और वे उसे सप्तम वेदांग, पंचमी विद्या तथा पंचदश विद्यास्थान के रूप में प्रतिष्ठापित करने का संरम्भ भी करते हैं। यह अपने आप में अलंकारशास्त्र के पुनर्व्यवस्थापन की दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है। काव्य से श्रेयस् और प्रेयस्; कीर्ति और प्रीति दोनों की सिद्धि होती है, वह भी पुरुषार्थ की निष्पत्ति कराता है, अतः काव्यशास्त्र को एक वेदांग या विद्या स्वीकार किया जाना चाहिये। काव्यशास्त्र का इस रूप में पुनर्व्यवस्थापन काव्य की प्रतिष्ठा के लिये है।

अलंकारशास्त्र के विषय में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसका सम्प्रदायगत विभाजन है। काव्यशास्त्र का छह सम्प्रदायों में विभाजन केवल आधुनिक अध्येताओं ने ही किया, हमारी परम्परा में इस रूप में ये सम्प्रदाय कभी माने नहीं गये। केवल अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने यह कहा है कि शब्दार्थ का वैशिष्ट्य धर्ममुख से, व्यापार मुख से तथा व्यंग्य मुख से बताया जा सकता है, पहले में अलंकार

और गुण ये दो पक्ष बनते हैं, दूसरे में भणितिवैचित्र्य और भोगकृत्व ये दो पक्ष। इस प्रकार काव्य का वैशिष्ट्य बताने वाले इन पांच पक्षों में पहला उद्भट आदि ने, दूसरा वामन ने, तीसरा कुन्तक ने, चौथा भट्टनायक ने तथा पांचवां आनन्दवर्धन ने ग्रहण किया। समुद्रबन्ध का भी आशय यही रहा है कि शब्दार्थसाहित्यरूप काव्य का वैशिष्ट्य अलग-अलग कोणों से बताया जा सकता है, जिन्हें परस्परपूरकता में देखा जाना चाहिये। इसीतरह औचित्य भी काव्य के परीक्षण का एक निकष हो सकता है। पर **औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्** की मान्यता पहले ही प्रकट करने वाले आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के अनुयायी क्षेमेन्द्र ने औचित्य के नाम से कोई सम्प्रदाय खड़ा करना चाहा हो, ऐसा नहीं है। काणे, डे आदि ने अंग्रेजी के स्कूल के अर्थ में जो इस शास्त्र का सम्प्रदायगत विभाजन जो स्वीकार किया वह युक्तियुक्त नहीं है। समुद्रबन्ध के मूल आशय को स्वीकार करके यह अवश्य कहा जा सकता है कि अलंकारशास्त्र के विविध सिद्धान्तों में कुछ काव्य की संरचना को केन्द्र में रखते हैं, कुछ काव्यरचनाप्रक्रिया को तथा कुछ काव्यास्वाद की प्रक्रिया को। इस प्रकार काव्य, कवि और सहृदय या आलोचक इस त्रिपुटी में काव्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्त विश्रान्त हैं। काव्यशास्त्र या साहित्यविद्या के विभिन्न विषयों, अंगों आदि का विवेचन करते हुए भी राजशेखर ने 'स्कूल्स' के अर्थ में किन्हीं सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं किया है, जिससे भी कथित सम्प्रदायवादी दृष्टि की अस्वीकार्यता प्रमाणित होती है।

3
काव्य का स्वरूप

काव्य क्या है, यह प्रश्न उतना ही प्राचीन है, जितना काव्य। अतः काव्यविषयक अवधारणा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए कविता का प्रारंभ जिन रचनाओं से हुआ है, वहीं से प्रारंभ करना उचित है। भारतीय साहित्य का उपक्रम वेद से होता है। कविता की रचना किन उपादानों से क्यों और कैसे होती है, इन प्रश्नों ने वेद के रचयिताओं को भी उद्वेलित किया था, तथा इस विषय में अपने चिंतन के जिन सूत्रों का उन्होंने संकेत किया है, वे ही आगे चलकर काव्यशास्त्र का आधार बने।

वाक् का स्वरूप

वेद में कविता की मूल प्रेरणा वाक् मानी गई है। वाक् शब्द का वह मूल रूप है, जो संस्कार रूप से मनुष्य के भीतर रहता है। यह वाक् ही सृष्टि के समस्त कार्यों की मूल प्रेरणा है। काव्य का उत्स भी वही है। वाक् तत्त्व विभिन्न रूपों से मनुष्य के भीतर उल्लसित होकर प्रकट होता है जिससे वह ऋषि, उग्र और सुमेधा बनता है।[1] वाक् वह मूल स्रोत है जहां से पदार्थों का गुप्त, श्रेष्ठ और परिपूर्ण भाव प्रकट होता है : 'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रभासीत प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।'[2] वाक् के अभाव में सृष्टि के किसी भी पदार्थ का आख्यान नहीं हो सकता है, अतः वाक् के बिना सभी कुछ अस्तित्वहीन है। इस दृष्टि से वाक् को विश्व की जननी कहा गया है : 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे।'

इसी वाक् का प्रतिफलन शब्द है। शब्द के पीछे अर्थबोध की जो चेतना है, वह वाक् है, अतः शब्द का उससे पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता। बृहदारण्यक उपनिषद् इसीलिए कहता है : 'यः कश्चन शब्दो वागेव'।[3]

ऋग्वेद के कवि का कहना है : यही वाक् आत्मा और मन के स्तरों से उद्भूत होकर काव्य में अभिव्यक्त होती है।[4] काव्य में उल्लसित होकर यह वाक् द्योतमाना, त्विषीमती (कांतिमती), चित्रा, नवस्रक्ति (मौलिक), स्वादमत् (माधुर्ययुक्त), ऋतस्पृक्, (सत्यान्वेषिणी), इषिरा (सोद्देश्य), अनमीवा (निर्दोष) तथा द्युमती (ओजस्विनी)[5] बनकर अपने सर्वोच्च रूप में प्रतिष्ठित होती है।

वाक् अभिव्यक्ति की शक्ति है। देवताओं ने उसे समस्त प्राणियों को प्रदान किया है, पर अपने उत्कृष्ट रूप में वह मनुष्यों में विराजमान है।[6] मनुष्यों में भी सब वाक् के स्वरूप को नहीं जान सकते। संस्कारहीन मनुष्य वाक् को देखता हुआ भी वाक् को नहीं देख सकता, सुनता हुआ भी नहीं सुन सकता। संस्कारवान् पुरुष के आगे वाणी अपनी काया को उसी प्रकार अनावृत कर देती है, जैसे प्रणयोन्माद से आकुल सुंदर वेशधारिणी रमणी अपने पति के समक्ष अपने आपको।[7]

यह वाक् सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तथा स्थूल से स्थूलतम अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। यह **'भूरिस्थात्रा'** तथा **'भूर्यावेशयन्ती'** है।[8] जब यह शब्द के रूप में प्रकट होती है, तब अर्थ इसके साथ उपस्थित रहता है। वेद में इसीलिए अर्थ को 'वाक् का सखिभूत' कहा है।[9] सृष्टि के इस मूल तत्त्व वाक् के द्वारा ही हम समस्त स्थूल-सूक्ष्म, मूर्त-अमूर्त पदार्थों को लक्षित और परिभाषित कर सकते हैं। इसीलिए वृहदारण्यक कहता है : यह समस्त पृथ्वी उस वाक् का शरीर है। जितना इस जगत् का विस्तार है, उतना वाक् का। यहां जो कुछ भी जाना जाता है, सब वाक् का रूप है, वाक् ही जानने वाली भी है, तथा वही विभिन्न पदार्थों के रूप में सर्वत्र व्याप्त है।[10]

अपने अमूर्त और सर्वव्यापी रूप में वाक् अभिव्यंजना की सामर्थ्य है, जो समस्त प्राणियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। अर्थसहचरित शब्द के रूप में वह मूर्त होती है। काव्य में कवि इसी शब्दार्थमय वाक् को हृदय से तक्षित और मन से चिंतित करके प्रकट करता है।[11] शब्दार्थसाहित्य को काव्य स्वीकार करने की जो स्पष्ट परंपरा भामह से काव्यशास्त्र में लक्षित की जाती है, उसका मूल यह है।

आगे चलकर काव्यशास्त्रियों तथा दार्शनिकों ने इसी वाक् के लिए प्रतिभा शब्द का प्रयोग किया। वाक् या प्रतिभा विभिन्न रूपों में इस जगत् में समुल्लसित होती है। इसके एक रूप को व्याकरण में स्फोट कहा गया और काव्यशास्त्र में शब्दार्थोभयमयी वाक् काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

मनुष्य के चरित्र की गाथा

इस प्रकार वेदों में वाक् की अत्यंत व्यापक किंतु अमूर्त अवधारणा के

आधार पर काव्य की व्याख्या की गई। आगे चलकर काव्यविषयक यह अवधारणा और विशद तथा सुस्पष्ट हुई। अर्थसहचरित वाक् की अद्‌भुत सामर्थ्य को वैदिक कवियों ने अनुभव किया था। महाभारत और रामायण के समय तक उसके उपादानों तथा वर्ण्य विषयों की भी छानबीन हुई। यह समझा गया कि काव्य की प्रेरणा देने वाले अलौकिक तत्त्व जो भी हों, काव्य का पहला सरोकार मनुष्य और उसका चरित्र है महाभारत ने स्पष्ट रूप से मनुष्य के चरित्र के निबंधन को काव्य घोषित किया : **दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम।**

रामायण में भी इस काव्य का निर्वचन 'रघुवरचरित', 'सीता का चरित' तथा 'दशशिरवध की कथा' आदि नामों के द्वारा किया गया है।[12] अतः मनुष्य और समाज के चरित्र, आशाओं और आकांक्षाओं का आकलन करना काव्य का प्रथम कार्य माना गया। यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि वैदिक काल के अंतिम चरण में चार प्रकार के काव्यों का विशेष प्रचलन हुआ : इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी। इन चारों में ही मनुष्य के जीवन को प्रधान रूप से विषय बनाया जाता था। मनुष्य के जीवन को विराट फलक पर व्याख्यायित करने के लिए महाभारत रचा गया तथा उसकी अभीप्साओं को सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए रामायण की रचना हुई। ये दोनों ही काव्यसिद्धांतों के उपजीव्य और निकष भी बने। इसी परंपरा में भामह आदि आचार्यों ने महाकाव्य के विषय में कहा कि वह महान् लोगों का चरित है तथा नाटक को जीवन और जगत् की विविध अवस्थाओं की अनुकृति बताया गया।

काव्यपुरुष

इस प्रकार मनुष्य की चेतना में विद्यमान अभिव्यक्ति की इच्छा को जहां काव्य का मूल माना गया, वहां मूर्त और स्थूल मनुष्यलोक को उसका वर्ण्य विषय। इस प्रकार आत्मा और शरीर, इन दो शब्दों के सहारे काव्य को समझने का उपक्रम भी चल पड़ा।

किसी भी अमूर्त सत्ता को हम मनुष्य जीवन के स्थूल उपादानों के माध्यम में परिभाषित करना चाहते हैं। काव्य की कल्पना भी एक पुरुष के रूप में की गई, जिसका मूल संभवतः ऋग्वेद का **'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा'**[13] आदिमंत्र रहा होगा (सायण ने इस मंत्र की व्याख्या अग्नि और सूर्य के संदर्भ में की है, पतंजलि ने इसे शब्द वृषभ का निरूपण बताया है, पर राजशेखर के अनुसार यहां काव्यपुरुष का वर्णन है)।[14]

इस प्रकार कविता के आदिम युग से काव्य को समझने के लिए दो प्रकार

के विचार प्रयुक्त हुए। एक के अनुसार वह अमूर्त, अव्याख्येय और सर्वव्यापी वाक् तत्त्व का विजृंभण है, दूसरे के अनुसार वह एक आवयविक सत्ता है। पहले विचार ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कविप्रतिभा की अलौकिकता और सारप्राणता के सिद्धांत को जन्म दिया तो दूसरे ने काव्य की आत्मा और उसके अंगों की छानबीन की परंपरा को।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा को काव्यपुरुष की उत्पत्ति की जो कथा वर्णित की है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि काव्यपुरुष की अवधारणा बहुत पहले से चली आ रही होगी। काव्यपुरुष की परिकल्पना ने ही काव्यशरीर और काव्यात्मा की परिकल्पनाओं को जन्म दिया होगा। शब्द और अर्थ का समवाय काव्य का शरीर माना गया। दण्डी ने इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली को काव्य का शरीर कहा। इसके साथ ही शब्द और अर्थ के समवाय को काव्य कहने वालों का शब्दार्थोभयवाद तथा केवल शब्द को काव्य कहने वालों का शब्दवाद—ये दो प्रस्थान भी काव्यशरीर की इस धारणा से बने। शब्दवादियों का कहना था कि शब्द और अर्थ दोनों सदा सम्मिलित रूप में ही स्फुरित होते हैं, तब उनका सहभाव काव्य है, यह कहने की आवश्यकता ही क्या है? इस शंका का उपस्थापन करते हुए कुंतक ने उसका बहुत सुचिंतित समाधान किया। शब्द और अर्थ के साहित्य से अभिप्राय दोनों के वाच्यवाचक रूप अथवा बोध्यबोधक रूप अनिवार्य शाश्वत संबंध से नहीं, काव्य में दोनों के साहित्य से अभिप्राय इन दोनों की अन्यून, अनतिरिक्त और दोनों की मनोहारिणी अवस्थिति से है।[15] इसी अवस्थिति को राजशेखर ने शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव कहा।[16]

काव्यशरीर की उपर्युक्त अवधारणा के पूरक के रूप में काव्यात्मा की परिकल्पना उदित हुई। काव्यशरीर की अवधारणा ने जहां काव्य के स्थूल उपादानों—शब्द, वर्ण, पदसंघटना आदि के विश्लेषण का उपक्रम कराया, वहीं काव्यात्मा की अवधारणा ने काव्य के सूक्ष्मतर और व्यापक तत्त्व की खोज को गति दी। अलंकार से गुण, गुण से रीति, रीति से वक्रोक्ति और फिर ध्वनि—ये तत्त्व अन्वेषण के इस प्रक्रम में सामने आए। ध्वनिवाद काव्य में सूक्ष्म का अनुसंधान करता हुआ उसी तत्त्व पर पहुंचा, जिसे वेद ने वाक् कहा था।

अतः संस्कृत के काव्यशास्त्र का प्रस्थानबिंदु यही है कि शब्द और अर्थ मिलकर अथवा अर्थसहित शब्द काव्य है, परंतु वे शब्द और अर्थ जिनमें कुछ वैशिष्ट्य हो। इस वैशिष्ट्य की खोज काव्यशास्त्र के समस्त प्रस्थान करते हैं। समुद्रबंध ने रुय्यक के अलंकारसर्वस्व की टीका में इस सारे अन्वेषण को इस प्रकार

सूत्रबद्ध किया है : 'विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर काव्य हैं। उनका वैशिष्ट्य तीन पक्षों के द्वारा समझाया जा सकता है, धर्म के द्वारा, व्यापार के द्वारा तथा व्यंग्य के द्वारा। धर्म में भी अलंकार तथा गुण, ये दो पक्ष हो सकते हैं। व्यापार में वक्रोक्ति तथा भोग ये व्यापार परिगणित हो सकते हैं। इस प्रकार शब्दार्थ के वैशिष्ट्य को अपनी-अपनी दृष्टि से निरूपित करने वाले पांच प्रस्थान बनते हैं : उद्‌भट आदि का अलंकारप्रस्थान, वामन का गुण-रीतिप्रस्थान, कुंतक का वक्रोक्तिप्रस्थान, भट्‌टनायक का भोगवाद तथा ध्वनिवाद (**इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैधम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य, उद्‌भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्‌टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन**)।

इस प्रकार अलंकार, गुण-रीति, वक्रोक्ति, भोग, ध्वनि—ये सभी प्रस्थान काव्य में निहित उस एक तत्त्व की खोज करते हैं, जिससे काव्य रचा जाता है तथा जिसके कारण और जिसके द्वारा वह अनुभवगम्य बनता है। प्राचीन काव्य के रचनाकारों ने उस तत्त्व को वाक् कहा, काव्यशास्त्रियों ने उसे प्रतिभा नाम दिया। वाक् या प्रतिभा की दृष्टि से काव्य की परिणति और मूल एक ही है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने सभी प्रकार के ध्वनिकाव्यों की परिणति एक ही ध्वनि में स्वीकार की थी : '**प्रतीयमानेपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्...तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते**'। इस तत्त्व से अनुप्राणित न होने पर ध्वनि भी ध्वनि नहीं रह जाती : '**तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावमूलजात-तत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपतृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः**'.........। (ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 60-61)।

'**वक्तृप्रतिपतृप्रतिभाप्राणितो ध्वननव्यापारः**'.........। (वही, पृ. 68)।

ध्वनिकार ने 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' कहकर इसी तत्त्व की ओर संकेत किया है। शरीर के विभिन्न अंगों का विभाजन किया जा सकता है, पर उन अंगों से अभिव्यक्त होने वाले लावण्य की श्रेणियां नहीं बनाई जा सकतीं, वह एक है। काव्य अपनी परिणति में एक ही है, इस दृष्टि से महिमभट्ट समस्त वाङ्मय को दो ही भागों में विभाजित करते हैं : काव्य और अकाव्य। काव्य निर्विशेष और एकात्मा है। परिणति की दृष्टि से आनंदवर्धन भी काव्य का एक ही भेद—ध्वनि स्वीकार करते हैं : 'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यम्।'

समय की गति और काव्य

पुरुष (मनुष्य) की गाथा होने के नाते काव्य को भी काव्यपुरुष का रूपक दिया गया। मनुष्य समय के साथ बदलता है। सारा जगत् समयसापेक्ष है। समय की गति के साथ कविता का क्या संबंध है, यह प्रश्न भी कविता के उद्‌गम के साथ ही उद्‌गत हुआ होगा। पुराने कवि ने देखा कि कविता समय के साथ बदलती है, पर उस तरह नहीं जिस तरह संसार के स्थूल पदार्थ। वह समय के अधीन होकर नहीं बदलती, समय को अपने अधीन करके बदलती है :

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः
सहस्राक्षो अजरो भूरि रेताः।
तमारोहन्ति कदयो विपश्चित-
स्तस्य तक्रा भुवनानि विश्वा ॥

सहस्राब्दियों पहले के वेद के कवि ने अनुभव किया कि सात लगामों वाला, सहस्रों आंखों वाला तेजस्वी समयरूपी अश्व अपने असंख्य चक्रों से विश्व को रौंदता हुआ भाग रहा है, पर कवि और विपश्चित् (पंडित), ये दोनों उस कालरूपी अश्व का आरोहण करके उसे स्वाधीन कर लेते हैं।[17]

समय की दुर्निवार गति के साथ चक्कर खाता हुआ सब कुछ बदल रहा है। पर इस प्रतिक्षण परिवर्तमान स्थूल दृश्यपट के पीछे कुछ ऐसा भी है जो स्थिर है। एक कविता इस प्रतिक्षण मरते हुए संसार के पीछे भी निहित है, जो न मरती है, न जीर्ण होती है :

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं प पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥

(अथर्ववेद, 10.8.32)

कवि अपनी दृष्टि से विधाता की जीर्ण-शीर्ण और नष्ट होती सृष्टि के भीतर लिखी इस कविता को पढ़ लेता है, इसीलिए वह क्रांतदर्शी है। सृष्टि के भीतर छिपी इस कविता को पढ़ लेने की सामर्थ्य को ही दर्शन कहा गया।[18] इस दर्शन के कारण कवि को चीजें जैसी ऊपर से दिखाई देती हैं, उन्हें उसी रूप में नहीं देखता, वह उनके भीतर अनुस्यूत सामंजस्य को देख लेता है। इसीलिए पुराना कवि कहता है : किसी अपूर्व वस्तु से प्रेरित यह वाणी यथायथ कथन करती हुई वहां गमन कर रही है, जहां ब्रह्म का अनंत पद है।[19] अपने दर्शन या कविदृष्टि से कवि चीजों के शान्त रूप पर न रुककर अनंत से जुड़ता है। वह अपनी दृष्टि से चीजों

को अपने सही रूप में देख सकता है।

कवि की इस दृष्टि के कारण ही उसके विषय में यह माना गया है कि उसकी वाणी कभी अनृत या मिथ्या नहीं हो सकती। भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातें उसकी दृष्टि में उन्मीलित हो जाती हैं।[20] तब वह सतत् प्रवहमान कालधारा से अलग खड़ा होकर अतीत के मूल्यों और परंपराओं की गत्यात्मकता को वर्तमान में परख सकता है, और वर्तमान से आगे बढ़कर भविष्य में दृष्टि रख सकता है। टी.एस. इलियट ने इसी को कवि का इतिहासबोध कहा है जो अनंतता और क्षणिकता दोनों को जोड़ते हुए प्रकट होता है।[21]

समानांतर सृष्टि

इस प्रकार कवि चीजों को एकदम उसी रूप में नहीं देखता, जिस रूप में वे चर्मचक्षुओं से दिखाई देती हैं। तब काव्य में वर्णित होकर संसार की ही चीजें दूसरा रूप धारण कर लेती हैं। कवि कविता में एक नए जगत् की सृष्टि करता है जो वास्तविक जगत् का परिबृंहण—गरिमामय उत्कृष्ट रूप होता है। ऋग्वेद का रचनाकार इसीलिए कहता है : यह ऋषि विप्र कवि अपने काव्य से सोम को बढ़ाता है, गरिमामय रूप में उपस्थित करता है।[22] वाणी वस्तु को नए रूप में प्रकाशित करती है। (**गिरः शुम्भन्त्यत्रयः**—ऋग्वेद 5/39/5, **शुम्भन्ति दीपयन्ति**—सायण)। अग्नि के लिए वेद का कवि कहता है : तुमको देखकर हमारे भीतर काव्य जन्म लेता है। अन्यत्र उसी अग्नि के लिए कहा गया है[23] : काव्य से उसकी वृद्धि हुई। कवि का आशय यहां यही है कि भौतिक पदार्थों को देखकर उसकी मनीषा—काव्यसर्जना की इच्छा—जाग्रत होती है जिससे कवि की वाणी प्रकट होती है फिर वही वाणी उन पदार्थों की पुनर्रचना भी करती है।

इस प्रकार रचनाकार स्थूल जगत् के ढांचे से प्रेरित होकर काव्य में सर्वथा नवीन सृष्टि करता है। उसकी इस सृजन की सामर्थ्य के कारण ही उसे विधाता के समकक्ष रखा जाता रहा है। फ्रांसीसी सौंदर्यशास्त्री ज्याक मारिते ने भी कवि को ईश्वर के समान सृष्टा मानकर ईश्वर की सृष्टि के आधार पर काव्य की सृष्टि को समझने की बात कही है। पर हमारी परंपरा में काव्य में रचे गए संसार को विधाता द्वारा रचे गए स्थूल दृश्यमान संसार की अपेक्षा अत्यधिक उत्कृष्ट माना गया। विधाता की सृष्टि तो उपादान तथा सहकारी कारणों के अधीन है, सुख-दुख-मोहात्मक है, वह उस हृद्य-निरवद्य सौंदर्य से युक्त नहीं है जो कविता की सृष्टि में है।[24]

रचनाकार अपना एक जगत् निर्मित करता है जो वास्तव जगत् का न तो

प्रतिरूप हो सकता है, न कि उसे माडल बनाकर की गई अन्य रचना। पर वह वास्तविक जगत् से सर्वथा परे भी नहीं हो सकता। तब कलाकार के द्वारा बनाई गई दुनिया तथा हमारी भौतिक दुनिया—इन दोनों में संबंध क्या है? वास्तव में ये दोनों दुनियाएं एक-दूसरे से टकराकर एक तीसरी दुनिया—जो इन दोनों से अलग है और अभी रची जानी है—निर्मित करना चाहती हैं। यह टकराव कितना रचनात्मक और सार्थक है, यह कलाकार की दृष्टि पर निर्भर है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 2/125/5
2. वही, 10/71/1
3. बृहदारण्यक, 1/5/3
4. ऋग्वेद, 10/117/2
5. वही, 2/21/6, 1/143/7, 1/164/10, 5/63/6, 8/76/12, 10/88/3, 8/8/11
6. वही, 8/100/11
7. वही, 10/71/4
8. वही, 10/25/3
9. यस्तित्याज सचिविदं सखायं न वाच्यपि भागो अस्ति।
   यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ (ऋ. 10/71/6)
   उद्गीथ ने इसकी टीका में कहा है : 'वाचः सखिभूतमर्थम्।'
10. बृहदारण्यक, 1/5/8-11
11. ऋग्वेद, 10/71/2, 8
12. रामायण, 1/2/42, 43, 1/4/29, 1/4/7, 9
13. ऋग्वेद, 4/58/3
14. काव्यमीमांसा, (बड़ौदा सं.) पृ. 14
15. शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
   सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥ (वक्रोक्तिजीवित, 1/16)
   ...किंतु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसंबंधनिबंधनं वस्तुतः साहित्यमुच्यते।
   वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमपि यद्यपि।
   तथापि काव्यमार्थेऽस्मिन् पदमार्थो यमेतयोः। (1/18)
   साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
   अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितः ॥ (1/17)
   वक्रोक्तिजीवित, (कलकत्ता सं.) पृ. 26-28
16. काव्यमीमांसा, पृ. 12
17. अथर्ववेद, 19/53/1, सायण ने इस मंत्र की व्याख्या में कहा है :
   तं कालं कवयः क्रान्तदर्शिनो विपश्चितः विद्वांसः आरोहन्ति स्वाधीनं कुर्वन्ति।

- अथर्व., (होशियारपुर सं.) खंड 4, भाग 1

18. विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या न दर्शनम् ॥ —भट्टतौत
19. अथर्ववेद 10/8/33
20. चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ॥ (रामायण, 1/4/17)
    शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा। (वही, 1/2/17)
    तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।
    न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥ (वही, 1/2/31)
21. टी.एस. इलियटः सेलेक्टेड एसेज, पृ. 14
22. अयं कृत्नुरगृभीतो विश्वजिदुद्भिदित् सोमः। ऋषिर्विप्रः काव्येन ॥ (ऋग्वेद, 8/79/1)
23. वही, 3/1/8
24. मम्मट : काव्यप्रकाश, 1/1 की वृत्ति।

4
काव्यसर्जना की प्रक्रिया

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः।*

काव्यसर्जना की प्रक्रिया अत्यंत जटिल तथा दुरूह मानी गई है। वह अधिकांश में स्रष्टा के अवचेतन के अज्ञात स्तरों पर घटित होती है। किंतु काव्य की रचना में अवचेतन का कितना ही बड़ा योग हो, सर्जना के समय मन और बुद्धि सक्रिय रहते हैं। इसीलिए ऋग्वेद में कवियों के लिए कहा है : **'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'**। पर काव्य की सर्जना मन या बुद्धि पर ही अवलंबित नहीं है, उसे समझने के लिए किसी ऐसे तत्त्व की कल्पना करनी पड़ती है जो अंतर्मन से भाव और प्रेरणा भी ग्रहण करता हो, पर जिसका एक छोर सचेतन से भी जुड़ा हो। वेद के रचनाकारों की दृष्टि में यह तत्त्व वाक् है जिसका निरूपण पहले अध्याय में किया जा चुका है। पर वाक् अत्यंत व्यापक तत्त्व है। उसका जो रूप काव्यरचना में सक्रिय होता है, वह मेधा है। वेद के अनुसार मेधा सरस्वती का स्तन है, जिसका पान कराकर वह प्राणियों को समस्त वरणीय पदार्थ प्राप्त करा देती है :

यस्ते स्तनः शशयो यो मयो भूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्तः सरस्वति तमिह धातवेऽकः॥

(ऋग्वेद, 1/164/49)

यह मेधा दिव्य प्रेरणा है। सर्जना के समय कवि का चित्त दिव्य प्रेरणा से आविष्ट रहता है, इस मान्यता को यूरोप के प्राचीन काव्यचिंतन के समान भारतीय काव्यविचार में भी स्वीकार किया गया। दैवी प्रेरणा की इस मान्यता के कारण ही प्लेटो ने काव्य और कवियों की अपने 'आयान' नामक संवादग्रंथ में अत्यंत व्यंग्यपूर्ण

---

* क्षेमेन्द्र द्वारा कविकण्ठाभरण में व्यास के नाम से उद्धृत।

शब्दों में खिल्ली उड़ाई थी।[1] भारतीय काव्यचिंतन के क्षेत्र में काव्य की दिव्य प्रेरणा को लेकर उसका उपहास करने का अवसर कभी नहीं आया, जिसका कारण दिव्य प्रेरणा की बात को अंधश्रद्धा के साथ स्वीकार कर लिया जाना नहीं, अपितु काव्यविचार सर्जना के बुद्धिगम्य रूप को समुचित महत्त्व दिया जाना है जो जीवन और जगत् के यथार्थ से सरोकार रखता है। ऋग्वेद का कवि जहां सूक्त (काव्य) को दिव्य प्रेरणा से स्फुरित कहता है, वहीं हृत् (हृदय) से तक्षण किया हुआ तथा मन से पवित्र किया हुआ भी मानता है (**'हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु'**—ऋ. 10/71/8)। अंतर्हृद तथा मन से पवित्र की जाती हुई कवि की वाणी भीतर से उच्छलित होती है, नदी की भांति वह सम्यक रूप से प्रवाहित हो उठती है : **'सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः**। (ऋग्वेद, 4/58/6)।

वेदों की विचारधारा में वाणी की काव्यमय अभिव्यक्ति के तीन स्तर माने गए थे। पहले वह स्रष्टा की आत्मा में विद्यमान रहती है, जो उसे मन में स्थापित करता है। मन के द्वारा सुसंस्कृत होकर वह वाणी प्रकाशवान होती हुई कवि के द्वारा ऋत (सत्य) के पद पर प्रतिष्ठित की जाती है :

पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भेऽन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यां ऋतस्य पदे कवयो निपान्ति ॥

(ऋग्वेद, 10/117/2)

मनुष्य के अंतर्मन में निहित वाक्तत्त्व मन को खोलता है, उससे मन में संकल्प होता है, फिर वाणी के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है।[2] यह वाणी किस प्रकार उद्गत होती है, इसके उत्तर में वेद के कवि का कथन है :

त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषास्त्वदुक्था जायन्ते राध्यानि।
त्वदेति द्रविणं वीरपेशा इत्थाधिये दाशुषे मर्त्याय ॥

(ऋग्वेद, 4/11/3)

काव्य या स्तुति रूपी वाणी अग्नि से जन्म लेती है। अग्नि का एक स्थूल दृश्यमान रूप है, दूसरा सूक्ष्म रूप भी है। काव्य की रचनाप्रक्रिया में बाहर के दृश्यमान स्थूल पदार्थ भीतर निहित कवि की मेधा को उद्बुद्ध करते हैं, वह मेधा वाणी के रूप में प्रकट होकर उन्हीं पदार्थों की पुनर्रचना करती है। इसलिए उसी अग्नि के लिए ऋग्वेद (3/1/8) में कहा गया : **'वावृधे काव्येन'**।

काव्यगत अभिव्यक्ति को उद्बुद्ध करने वाले वाक् के जिस रूप को वेद में मेधा कहा गया, उसी को आगे के चिंतकों ने प्रतिभा या शक्ति नाम दिया। इस प्रतिभा के कर्तृत्व की सम्यक् व्याख्या वाल्मीकि की रचना में सबसे पहले की गई, जो बाद में आने वाले सभी काव्यचिंतकों के लिए उपजीव्य बनी।

कविता की सर्जना अनुभूति के विशिष्ट उद्वेलन से होती है, रचनात्मक अनुभव का विवरण देते हुए रामायण के रचनाकार ने इस बात को स्पष्ट किया है। अनुभूति का यह उद्वेलन भौतिक जगत् के किसी दृश्य से अनुप्रेरित होता है। व्याध द्वारा निहत, खून से सने, पृथ्वी पर तड़फड़ाते क्रौंच तथा उसकी पत्नी को बिलखते देखकर वाल्मीकि के भीतर शोक उद्बुद्ध हुआ था।[3] किंतु उस शोक के शब्दों में—छंदोमयी वाणी में—प्रकट होते समय वाल्मीकि अपने भीतर उद्बुद्ध हुए करुणा के उस भाव के प्रति सजग थे, वे इस तथ्य के प्रति भी जागरूक थे कि जो हुआ है, वह अनुचित हुआ है।[4] ऐसी स्थिति में छंदोबद्ध रचना सहसा उनके द्वारा रची गई है। रचना के हो चुकने के साथ ही, उसके प्रति सजग बने हुए वाल्मीकि के मन में चिंता हुई : **'शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया?'** (रामायण 1/2/15)। इस पक्षी के शोक से व्याकुल मेरे द्वारा यह क्या कह दिया गया? सहसा हो चुकी अपनी उस रचना पर और भी सजग होकर विचार करने पर उन्हें लगा :

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥

(रामायण, 1/2/17)

इसी प्रसंग में ब्रह्मा के मुख से वाल्मीकि के लिए जो संवाद कहलवाया गया है, उससे रामायणकार की अथवा तत्कालीन काव्यसर्जना संबंधी मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है :

श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वं ऋषिसत्तम।
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥

(रामायण, 1/2/29/31)

'तुमसे यह श्लोक रचित हो गया है, इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं। मेरी इच्छा से ही सरस्वती तुम्हारे भीतर से प्रवृत्त हुई है। हे ऋषिश्रेष्ठ, अब तुम राम का संपूर्ण चरित निबद्ध करो। उस विषय में जो कुछ तुम्हें अविदित है, वह तुम्हारे लिए विदित बन जाएगा, इस काव्य में तुम्हारी वाणी मिथ्या नहीं होगी।'

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने आगे चलकर इस धारणा का स्पष्ट प्रतिपादन किया कि कवि अपनी दिव्य प्रतिभा से दिव्य-अदिव्य सभी प्रकार के पदार्थों का

अवलोकन कर लेता है, उसके लिए कुछ भी अगोचर नहीं रहता। उक्त धारणा का मूल रामायण के इस विवरण में है।

यहां पर विचार कर लेना आवश्यक है कि वाणी के मिथ्या न होने तथा कवि को अविदित भी विदित हो जाने से वास्तविक आशय क्या है। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि कवि वास्तविक दृश्यमान स्थूल जगत् के समानांतर एक दूसरे जगत् का निर्माण करता है। निश्चय ही, स्थूल वस्तुजगत् के सभी प्रत्यय कवि के इस जगत् पर सत्यापित नहीं हो सकते। काव्य का सत्य वस्तुजगत् के सत्य से अलग है, उसकी परीक्षा सामान्य व्यावहारिक बुद्धि से नहीं होती। वह कवि की ऋषिदृष्टि, आशा और आकांक्षाओं के ताने-बाने से निर्मित होता है। संस्कृत के कुशल काव्यशास्त्री आनंदवर्धन ने इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर कहा था :

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैदं परिवर्तते ॥

कवि की अपनी रुचि के अनुसार रचना का विश्व ढालता और बनता है। कवि उसका विधाता है, अपने रचे संसार के भीतर उसकी वाणी मिथ्या हो ही नहीं सकती, और काव्य के संसार में अन्यत्र अविदित भाव भी उसे विदित होते हैं। इस प्रकार वस्तुजगत् के सत्य और तथ्य सदैव काव्य में प्रतिबिंबित नहीं हो सकते, पर जितनी उदार और बड़ी कवि की दृष्टि होगी, उतना ही वस्तुजगत् का फलक व्यापक होकर परिष्कृत रूप में उसके काव्य में प्रकट होगा। इसीलिए वाल्मीकि को प्रथम काव्य के स्फुरण के उक्त प्रसंग में 'उदारदर्शन' कहा गया है।[5] अपनी इस उदार दृष्टि से कवि अतीत और अनागत पदार्थों को भी प्रत्यक्ष करा सकता है। इसीलिए वाल्मीकि को अनुभव होता है : **'चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।'** (रामायण, 1/4/17)। कवि की अतीत और अनागत को प्रत्यक्ष बना सकने की इस दृष्टि का उल्लेख काव्यशास्त्री भामह ने भाविक अलंकार के निरूपण में तथा राजशेखर ने प्रतिभा के निरूपण में किया।[6]

रचना के समय की जिस अनुभूति का वर्णन वाल्मीकि (अथवा उनके परवर्ती किसी रचनाकार) ने रामायण में किया है, आगे के काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा के कर्तृत्व अथवा काव्यरचना की प्रतिक्रिया पर विचार करते समय सदैव उसे अपनी दृष्टि में रखा। हृदयदर्पण के लेखक ने सर्जना के समय कवि की स्थिति का निरूपण करते हुए कहा : **'यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्'** जब तक वह कवि अनुभूति से पूरी तरह भर नहीं जाता, तब तक वह उसे उगलता नहीं है।[7] उपर्युक्त प्रसंग को लेकर वाल्मीकि के उदाहरण के द्वारा ही काव्यसर्जना की प्रक्रिया का

विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है : 'वही शोक उस प्रकार के विभाव और उससे उत्पन्न आक्रंद आदि अनुभाव की चर्वणा के द्वारा, हृदय के संवाद और फिर तन्मयीभवन के क्रम से आस्वाद्यमान अवस्था को प्राप्त होकर लौकिक शोक से भिन्न तथा अपने चित्त की द्रुति के द्वारा ही समास्वाद्यसार वाले करुणरस के रूप में परिणत हुआ, जैसे जल से भरा घड़ा छलकता है और जैसे चित्तवृत्ति के निष्यंद रूप वाग्विलाप आदि होते हैं, उसी प्रकार समय (शब्द के संकेत) की अपेक्षा किए बिना, वचन चित्तवृत्ति के व्यंजक होते हैं—इस न्याय से अकृत्रिम रूप से ही आवेश आदि के कारण, समुचित शब्द, छंद, वृत्त आदि से नियंत्रित हुआ श्लोक की अवस्था को प्राप्त करता है।[8]

किंतु काव्यसर्जना के इस अद्भुत प्रसंग की सर्वाधिक सटीक व्याख्या समर्थ कवि भवभूति ने की है। वाल्मीकि के द्वारा की गई रचना को उन्होंने 'आकस्मिक प्रत्यवभास' कहा है (**आकस्मिकप्रत्यवभासां देवीं वाचमानुष्टुभेन छन्दसा परिणता-मभ्युदैरयत्**)। इस अवसर पर ब्रह्मा के मुख से आदिकवि के लिए कहलाया गया है : '**ऋषे, प्रबुद्धोसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु।**' (उत्तररामचरित, द्वि. अंक)।

वेद के कवि की भांति भवभूति ने भी वाक् को सर्वात्मक सत्ता के रूप में देखा है। सर्जना के समय यह वाक् भीतर उद्भासित हो उठती है। यही कवि का वाक् रूपी ब्रह्म में प्रबुद्ध होना है। इस प्रबोध के साथ ही विशिष्ट दृष्टि कवि को मिलती है, जिससे वह पदार्थों के अज्ञात, अदृष्ट रूपों को देख सकता है। वेद की परंपरा में इसे ही आर्ष चक्षु कहा गया है। इसके द्वारा वाणी स्वतः कवि के भीतर से फूटने लगती है : '**देवी वाग्वश्येवानुवर्तते**' (उत्तर॰, 1/1)।

किंतु इस आकस्मिक प्रत्यवभास—भीतर से सहसा फूट पड़ने—के पीछे कवि के अंतर्मन के भीतर चलने वाला लंबा संघर्ष रहा करता है। डब्ल्यू.बी. यीट्स ने इसीलिए कहा है : 'जब हम दूसरों से झगड़ते हैं, तो रीति (रेटोरिक्स) का जन्म होता है, जब हम अपने आपसे झगड़ते हैं, तो काव्य का।' कवि के इस आत्मसंघर्ष का कारण अनुभूति के रूपांतरण की प्रक्रिया है जिसे राबर्ट फ्रास्ट ने 'शब्दों का कर्म में रूपांतरित होना' (पोयट्री : वर्ड्स दैट हैव बिकम डीड्स) कहा है।

कवि या कलाकार भौतिक जगत् की वस्तुओं को काव्य या कला में रूपांतरित करके प्रकट करता है। रूपांतरण की यह प्रक्रिया ही काव्य की सर्जना की प्रक्रिया है जो अतिशय जटिल होती है तथा जिसके बीच रचनाकार को तनाव और द्वंद्व से भी गुजरना पड़ता है। काव्यशास्त्र के सिद्धांतों की अपेक्षा हम कवि की अनुभूति से

ही इस द्वंद्व को समझ सकते हैं। संस्कृत के कवियों में कालिदास ने संभवतः इस रचनात्मक तनाव और द्वंद्व को सबसे अधिक झेला है, और उन्होंने उसके संकेत भी यत्र तत्र काव्य में दिए हैं।

कालिदास की दृष्टि में कला की सर्जना का कारण कलाकार के अंतःकरण में विद्यमान एकस्थ सौंदर्य की दिदृक्षा है—**'सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ सौन्दर्यदिदृक्षयेव'** (कुमार. 1/49) इस सौंदर्यदिदृक्षा का व्यापक रूप सिसृक्षा है। जो सृष्टि के समस्त पदार्थों के मूल में विद्यमान है—**'स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया'** (कुमार. 2/7) जिससे प्रेरित होकर कलाकार सर्जना में जुटता है। सर्जना के पूर्व वह कला की उपादान सामग्री का संचय करता है जो संस्कार रूप में उसके अंतर्मन में जमा होती रही है। फिर वह उस सामग्री का यथोचित सन्निवेश प्रारंभ करता है—**'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिशेतेन'** (कुमार. 1/49)। कला की सर्जना में भौतिक जगत् में दृश्यमान वस्तुएं अपने प्रकृत रूप में सन्निविष्ट नहीं होतीं, अपितु उनका अन्यथाकरण कर दिया जाता है। कलाकार अपनी प्रतिभा से उनमें कुछ रमणीय तत्त्व जोड़कर उन्हें रूपांतरित कर देता है जिससे भौतिक जगत् के पदार्थों का कला में सौंदर्यमय रूप प्रकट होता है। शकुंतला का चित्र बनाते समय दुष्यंत कहता है :

यद् यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥

(शाकुन्तल, 6/15)

चित्र में जो जो असाधु है—ठीक नहीं बना है, उसका अन्यथाकरण कर देने पर भी शकुंतला के लावण्य का कुछ ही अंश इस चित्र में आ सकता है। इस पद्य में कला की रचनाप्रक्रिया के विषय में महत्त्वपूर्ण संकेत कवि ने दिया है।[9] चित्रकार दुष्यंत इसके पूर्व कह चुका है कि चित्र अधूरा है—**'अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्'**। विदूषक के पूछने पर वह बताता है कि अभी उसे कण्व के आश्रम का रमणीय दृश्य चित्र की पृष्ठभूमि में बनाना है जिसके बिना चित्रकार की मनस्थिति, उसके अपराधबोध तथा आतुरता की अभिव्यक्ति काव्य में नहीं हो सकेगी, साथ ही चित्र में शकुंतला के प्रिय अलंकरण भी बनाने से रह गए हैं। इस प्रकार दुष्यंत को चित्र अपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि अपने मानस में विद्यमान शकुंतला की संपूर्ण छवि को वह उसमें उकेर नहीं पा रहा है। इसका कारण है कि दुष्यंत अपने अनुताप के कारण अस्तव्यस्त मनस्थिति में है, वह संपूर्णतः सत्त्वस्थ या समाधिस्थ नहीं हो पा रहा है।

दुष्यंत के सामने वास्तविक शकुंतला उपस्थित नहीं थी, शंकुतला की जो छवि उसके मानस में थी, उसी को वह अपने मन के सारे अनुताप के साथ चित्र में अंकित करना चाहता था, किंतु मन में जो कुछ था, उसका 'किंचित् अंश ही कला में अन्वित' हो सका, कला के सारे उपकरण उसके लिए अधूरे रहे। इसीलिए चित्र के अपूर्ण रह जाने, उसमें अपना मनचाहा विन्यास न कर पाने की बात दुष्यंत बार-बार कहता है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि दुष्यंत कहता अवश्य है कि चित्र में बहुत कुछ अनकहा छूट गया है, पर जो कुछ वह चित्र के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहता था, उसे वह पूर्णतः अभिव्यक्त कर ही लेता है—ऐसा कवि ने कहीं भी नहीं कहा है। प्रत्येक कलाकार की रचनाप्रक्रिया में अभिव्यक्ति के संकट के क्षण आते हैं, जब वह अपनी अनुभूति को समग्र रूप में कला में प्रकट नहीं कर पाता, जो वह कहना चाहता है, उसके लिए कला के उपकरण अधूरे पड़ते हैं, रेखाओं को कितना ही सुधारा जाए, वे शकुंतला के संपूर्ण लावण्य को प्रकट करने में अक्षम रहती हैं। इसी प्रकार काव्य में कई बार किसी जटिल संश्लिष्ट अनुभूति को पूर्णतः प्रकट कर पाने में शब्द लड़खड़ा जाते हैं।[10] अभिव्यक्ति के इस संकट से कलाकार कलासाधना में पूर्णतया तल्लीन होकर समाधि की दशा में जाकर उबरता है। दुष्यंत तल्लीन या समाधिस्थ नहीं हो पाया था, इसलिए उसके सामने यह संकट बना रहा। यह संकट प्रत्येक रचनाकार की रचनाप्रक्रिया में आता है। जब-जब वह रचाव की भूमि में पूर्णतः सत्त्वस्थ नहीं हो पाता, तब-तब अपूर्ण और विखंडित कलाकृति की सृष्टि होती है। आज के युग में भी रचना का सबसे बड़ा संकट शायद यही है। पर वह संकट सभी समयों में रहा है। सामान्य कलाकार अपने सीमित व्यक्तित्व से जुड़ा रहकर रचना की व्यापक भूमि में पूरी तरह डूब नहीं पाता। इस बात को कालिदास ने मालविका का चित्र देखते हुए अग्निमित्र की इस उक्ति के द्वारा भी स्पष्ट किया है :

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥

(मालविकाग्निमित्रम्, 2/2)

वास्तविक मालविका को देखकर अग्निमित्र को लगता है कि चित्रकार उसके चित्रांकन में शिथिल समाधि हो गया था, पूर्णतः तल्लीन नहीं हो पाया। अतः कलाकृति की रचना के समय कलाकार के भीतर तल्लीनता या समाधि अपेक्षित है। सर्जना के सत्त्व का योग भी चाहिए और रूप में तल्लीनता भी होनी चाहिए।[11] अभिनवगुप्त ने जिस भाव की हृदयसंवाद और तन्मयीभवन की दशा से गुज़र कर

रस में शास्त्रीय दृष्टि से सर्जना के समय परिणति प्रदर्शित की थी, उसका स्वानुभूत चित्र कालिदास ने अपनी विरह व्यथा को पद्यबद्ध करती शकुंतला के इस चित्र में दिया है :

उन्नमितैकभ्रूलतामाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥

(शाकुंतल, 3/18)

कलासर्जना की प्रक्रिया को लेकर कालिदास ने अपनी गूढ़ व्यंजनाप्रधान शैली में जीवंत अनुभव से जो मंतव्य व्यक्त किए हैं, बाद के काव्यशास्त्री प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभावित हुए। कालिदास से परवर्ती काव्यचिंतक वामन ने काव्यरचना का सैद्धांतिक निरूपण करते हुए सत्त्वस्थता तथा समाधि के स्थान पर अवेक्षण शब्द का प्रयोग किया। पदों का आधान और उद्धरण (विन्यास तथा अपसारण) अवेक्षण है।[12] इस अवेक्षण के विषय में वामन ने निम्नलिखित दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं :

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलयते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्ति सहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥

(काव्यालंकारसूत्र, प्रथम अधिकरण, 3/15)

कालिदास की भांति वामन ने रचनाप्रक्रिया में एकाग्रता का योग स्वीकार किया है। काव्य का स्फुरण अवधान अथवा चित्त की एकाग्रता के समय होता है। इस एकाग्रता में बाह्य पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है और चित्त अपने भीतर काव्यार्थ का साक्षात्कार करता है।[13] रुद्रट के अनुसार चित्त की इस समाहित दशा में अभिधेय का अनेकधा स्फुरण होने लगता है तथा पद सहज रूप में प्रतीत होते हैं।[14]

आगे चलकर सहृदय की दृष्टि से रसास्वाद तथा कवि के कर्तृत्व की दृष्टि से प्रतिभा पर आचार्यों की दृष्टि केंद्रित होती गई। काव्यनिर्माण की शक्ति होने के कारण उसे शक्ति भी कहा गया। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत के अनुसार वाणी के दो मार्ग हैं : शास्त्र और कविकर्म। प्रथम की सृष्टि प्रज्ञा से होती है, द्वितीय की प्रतिभा से।[15] वामन ने प्रतिभा को काव्य का बीज कहा था। बीज के इस उपमान को आगे बढ़ाते हुए कुंतक ने प्रतिभा और काव्यनिर्माण की क्रिया को बीजांकुरन्याय के द्वारा समझाया है। प्रतिभा से शब्द और अर्थ वैसे ही फूट पड़ते हैं, जैसे बीज से नया अंकुर फूट पड़ता है।[16] अंकुर जिस प्रकार बीज से स्वभावतः प्रस्फुटित हो उठता

है, उस प्रकार के काव्य के उपादान प्रतिभा से सहज रूप में उल्लसित होते हैं। कविप्रतिभा से अनाहार्य रूप में काव्यसृष्टि होने की बात को कुंतक ने पुनः पुनः रेखांकित किया है। कुंतक का यह मंतव्य यूरोप के रोमांटिक कवि कीट्स के उस कथन से कुछ साम्य रखता है जिसमें उसने कहा है कि कविता उसी प्रकार कवि के मन से फूटनी चाहिए, जिस प्रकार कि पेड़ में कोंपल फूटती हैं।

राजशेखर ने शक्ति और प्रतिभा को अलग-अलग मानकर अपनी सूक्ष्म विश्लेषणात्मक बुद्धि का परिचय तो दिया था, पर कार्यव्यापार की दृष्टि से दोनों की विभाजक रेखा को वे स्पष्ट न कर सके। कुंतक ने प्रतिभा और शक्ति के पार्थक्य को स्वीकार किए बिना ही काव्यप्रतिभा के द्विविध कार्यव्यापार को बारीकी से स्पष्ट किया। कविमानस के भीतर प्रतिभा के द्वारा सर्वप्रथम जो वस्तु स्फुरित कराई जाती है, वह बिना तराशी हुई मणि के समान होती है। तत्पश्चात् प्रतिभा उस अनगढ़ वस्तु को वाक्यों और शब्दों में ढालकर सुगठित और सुसंगत बनाती है।[17] इस प्रकार प्रतिभा के द्वारा लावण्य, सौकुमार्य, सौभाग्य आदि गुण काव्य में लाए जाते हैं।[18] प्रतिभा सर्वव्यापी और मूलतः एक तत्त्व होते हुए भी अलग-अलग कवियों में अलग-अलग रंग लेकर उल्लसित होती है, और उसके कार्यव्यापार का क्षेत्र असीमित होता है, इस तथ्य को जोर देकर कुंतक ने निरूपित किया, यद्यपि भट्टतौत, आनंदवर्धन आदि उनसे पहले प्रतिभा के आनंत्य और नवोन्मेष, इन दो गुणों को रेखांकित कर चुके थे। कुंतक ने इन गुणों का काव्य में प्रतिफलन दिखाते हुए कहा कि महाकवियों द्वारा अपनी विशिष्ट प्रतिभा के परिस्पंद की महिमा के द्वारा वाणी के भंडार से प्रतिदिन उसका सर्वस्व ग्रहण किये जाने पर भी सर्वथा नवीन और अछूते वाक्यों का समुदाय उनकी वाणी में प्रस्फुटित होता रहता है।[19] प्रतिभा के नवोन्मेष अथवा नवीनता का निरूपण करते हुए कुंतक ने एक आनुवंश्य श्लोक उद्धृत करके दो प्रकार की काव्यसृष्टियों का वर्णन किया है : एक तो वह जिसमें वस्तुओं के भीतर निहित सूक्ष्म सुभग तत्त्व वाणी द्वारा उद्घाटित होता है, दूसरी वह जिसमें वाणी इस मनोरम जगत् का निर्माण करती है। प्रथम प्रकार की सृष्टि में प्रतिभा वस्तुओं के भीतर अनुस्यूत सूक्ष्म तत्त्व का साक्षात्कार करती है, जबकि दूसरी में वह उनके बाह्य रूप पर केंद्रित रहती है।

कालिदास के बाद आचार्यों में संभवतः राजशेखर ने सर्जना की दशा के लिए समाधि शब्द का प्रयोग किया। समाधि से तात्पर्य चित्त की समाहित (एकाग्र) अथवा सत्त्वस्थ दशा में है। राजशेखर ने कहा है : यह सारस्वत चक्षु (एकाग्र) वाणी और मन से अगोचर समाधि द्वारा स्वयं यह निश्चय कर लेता है कि यह विषय पूर्वकवियों

द्वारा स्पृष्ट है अथवा अस्पृष्ट है। सरस्वती महाकवि को सुषुप्ति की अवस्था में भी काव्यानुकूल शब्दार्थ का ज्ञान करा देती है, पर जो कवित्वशक्ति से हीन है, वे जाग्रत अवस्था में आंखों के होते हुए भी अंधे हैं। कवि अपनी प्रतिभाप्रसूत दिव्य आंखों से जिन तत्त्वों को देखते हैं, उन्हें सहस्र नेत्रों वाले देवराज इन्द्र भी नहीं देख पाते।[20]

राजशेखर ने प्रतिभा के लिए दूसरा नाम सारस्वत चक्षु दिया है। चक्षु तथा दर्शन आदि शब्दों का प्रयोग कवि की विशिष्ट दृष्टि के लिए वैदिक परंपरा से ही होता आया है। यह सारस्वत चक्षु समाहित चित्त अथवा मन की एकाग्रता में उपलब्ध होता है। राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य श्यामदेव का मत उद्धृत करते हुए मन की इस एकाग्रता को समाधि कहा है।[21]

राजशेखर के ही समान सर्जना की प्रक्रिया के विषय में महिमभट्ट ने कहा है : रचना के समय कवि का चित्त रस के अनुरूप शब्द और अर्थ की चिंता में स्तिमित (स्तब्ध) हो जाता है। उस समय जो प्रज्ञा सहसा स्फुरित होती है, प्रतिभा है।[22] आगे चलकर कविप्रतिभा के स्वरूप और कर्तृत्व को और भी दार्शनिक संदर्भों में व्याख्यायित किया गया, तो हेमचंद्र ने उसे स्वयम्प्रकाश्य आवरणमुक्त चैतन्य तथा संकल्पात्मक ज्ञान भी कहा।[23]

इस प्रकार इन आचार्यों की दृष्टि से प्रतिभा के रचनात्मक व्यापार में निम्नलिखित तत्व रहते हैं : आकस्मिक प्रत्यवभास, नवोन्मेष, सत्त्वस्थता अथवा समाधि तथा चैतन्यरूपता। अभिनवगुप्त ने इस कविप्रतिभा को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हुए इसे सर्वात्मिका संवित् की संज्ञा दी, जो संसार के सभी प्राणियों के भीतर विद्यमान है। यह सृष्टि के सभी पदार्थों का मूल है, तथा इसी का रूप कवि की प्रतिभा है जिससे काव्य की सृष्टि होती है। अभिनव का यह दर्शन वेद की **'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे'**—सृष्टि के समस्त उपादानों का मूल एक शक्ति—वाक्—के होने की विचारधारा के अत्यधिक निकट है। इस प्रकार भारतीय काव्यचिंतन में काव्यसर्जना पर विचार वाक् तत्त्व की उपस्थापना के साथ होता है, जो सूक्ष्मतम रूप में विश्वात्मक चैतन्य है, तो स्थूल रूप में उच्चरित शब्द। कालिदास और भवभूति जैसे कवियों के अनुभवों की आधारशिला पर इस वाक् तत्त्व की विभिन्न परिणतियों का आविष्कार किया जाता है तथा उन सभी परिणतियों को समेटने पर काव्यचिंतन फिर उसी मूल तत्त्व पर पहुंचता है जिसे वेद के कवि ने उन्मीलित किया था।

कवि की व्यावहारिक समस्या, जो वाक् तत्त्व, संवित् या विश्वात्मक चैतन्य विभिन्न रूपों में संसार में उल्लसित होता है, उसे अपने रचनाजगत् में वाणी और

अर्थ के रूप में मूर्त करने की है। अतिशय परिणत प्रज्ञा वाला कवि भी इसीलिए वाणी और अर्थ की प्रतिपत्ति करना चाहता है।[24] भीतर अनुभूतियों के संसार का जो अपार वैभव है, उसके आगे वाणी का वैभव और सामर्थ्य छोटा पड़ रहा है, फिर भी अंदर की अनुभूतियों का संसार बाहर व्यक्त होने के लिए मचलता है, कवि को चपलता के लिए प्रेरित करता है।[26]

अनुभवों और अनुभूतियों का यह संसार कवि के भीतर बनता कैसे है? जैसा कि वेद के कवि ने कहा था, स्थूल पदार्थों को देखकर उनकी प्रतिमाएं मानस में बनती हैं, साथ ही लोक, शास्त्र आदि के अवेक्षण से अनेक संस्कार उसके भीतर जन्म लेते हैं। अपने भीतर के इस संसार में से कवि उज्ज्वलतम और सबसे भव्य रत्नों को छांटता है, उन्हें फिर वह एक सूत्र में पिरोता है।[27]

इस प्रकार, जिसे कवि कालिदास ने अन्यथाक़रण—रचना के समय चीजों का दूसरा हो जाना—कहा था, उसकी प्रक्रिया दो स्तरों पर चलती है। कवि के बाहर भौतिक संसार में विद्यमान पदार्थों, विचारों, संस्कारों और परंपराओं से कवि के भीतर एक दूसरा संसार निर्मित होता चलता है। रचना में अभिव्यक्ति पाते समय यह संसार फिर से अन्यथाकृत होता है, शब्द और अर्थ के परिधान में वह अन्य रूप ग्रहण करता है।

काव्य के भीतर और काव्य के द्वारा चीजों के इस द्विविध रूपांतरण की बात, जिसे कालिदास ने अनेक बार संकेतित किया, सबसे पहले विशद रूप में प्राकृत के एक अज्ञातनामा कवि ने कही थी जिसका यह पद्य काव्यशास्त्री आनंदवर्धन ने उद्धृत किया है :

अतहठ्ठिए वि तहसंठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकविगोअरा वाणी ॥

कवि की वाणी अतथास्थित को भी तथास्थित के रूप में हृदय में सन्निविष्ट कर देती है। कवि की सृष्टि में चीजों की पुनर्रचना होती है, उनका अज्ञात और अदृष्ट रूप हमारे आगे खुलता है। इस प्रकार कविता इस लोक को रूपांतरित करके दिखा देती है। यही बात प्राकृत के किसी दूसरे कवि ने अपनी इस गाथा में कही थी :

जा ठेरंव हसन्ती कविअणंबुरुहद्धविणिवेसा।
दावेइ भुवनमंडलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥

(काव्यप्रकाश में उद्धृत)

काव्यशास्त्र के गण्यमान आचार्य मम्मट ने अपना सुप्रसिद्ध मंगलाचरण

(काव्य प्रकाश 1/1) संभवतः इसी गाथा के भाव को लेकर लिखा है। पर मम्मट का विधाता की सृष्टि से कविसृष्टि की उत्कृष्टता का बखान सैद्धांतिक अनुरोध से प्रेरित है, सर्जना की मनोभूमि को उसकी अर्थवत्ता में इस प्रकार की सैद्धांतिक चर्चा से नहीं समझा जा सकता, उसके लिए वाल्मीकि और कालिदास जैसे कृति रचनाकारों का अन्वीक्षण ही श्रेष्ठ माध्यम हो सकता है।

प्रतिभा और कल्पना

प्रतिभा को दैवी इसलिए माना जाता रहा है कि उसका संबंध मन के सूक्ष्म, अज्ञात स्तरों से है जहां काव्यरचना के बीज विद्यमान रहते हैं। इस अज्ञात स्तर से काव्य के उद्गत होने की प्रक्रिया का संकेत ऋग्वेद में ही कर दिया गया है :

पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भेऽन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यां मनीषां ऋतस्य पदे कवयो निपान्ति ॥

(ऋग्वेद, 10/117/2)

काव्य की वाणी मनुष्य की आत्मा या चेतना के निगूढ़ स्तरों में प्रसुप्त रहती हैं, जहां से वह मन के सूक्ष्म स्तर में धारण की जाती है और वहां से वह सचेतन मन की यात्रा करती है।

कालेरिज ने भी कहा है कि रचना की उदात्तता मानसिक चेतना पर निर्भर करती है जिसका संबंध आत्मा से है। कल्पना आत्मा की ही शक्ति है, जिसके द्वारा कवि अपने आपको प्रकट करता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान तथा मन के बीच की कड़ी है। मन और पदार्थ—अनंत और सांत—ज्ञाता और ज्ञान—दोनों का समन्वय कल्पना के द्वारा स्थापित होता है। सांत में निहित अनंत कल्पना शक्ति द्वारा साकार रूप ग्रहण करता है।

भारतीय दृष्टिकोण से प्रतिभा के अंतर्गत रचनाप्रक्रिया के ये सारे स्तर समाहित हो जाते हैं। इसीलिए प्रतिभा काव्य का निमित्त कारण भी है तथा उपादान कारण भी। यद्यपि प्रतिभा पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र की कल्पना की अपेक्षा अधिक बड़ी अवधारणा है, पर कालेरिज द्वारा प्रतिपादित अपनी व्यापक विवृति में कल्पना प्रतिभा के समकक्ष हो जाती है। कालेरिज ने कल्पना की व्यापकता बताने के लिए उसे दो प्रकार की माना है : प्राथमिक (प्रायमरी) तथा गौण (सेकेंडरी)। 'प्राथमिक कल्पना जीवंत और सर्वव्यापक शक्ति है। वह संपूर्ण मानवीय बोध की साधिका है और सृष्टि के कार्य की सीमित मानवमन में पुनरावृत्ति है। गौण कल्पना इसी की प्रतिध्वनि है। यह मनुष्य की सचेतन इच्छा के साथ रहती है। यह पहली कल्पना से तादात्म्य रखते हुए अंशतः ही उससे भिन्न हो जाती है।'

कालेरिज के अनुसार कल्पना अनुकरण नहीं करती, पुनर्निर्माण करती है। उसका यह विचार कल्पना को प्रतिभा के एकदम निकट ला देता है। किंतु प्रतिभा की अवधारणा के पीछे लंबी परंपरा ही नहीं, सुपुष्ट दार्शनिक आधारभूमि भी है। प्रतिभा का सिद्धांत व्याकरण, शैव आदि दर्शनों में समादृत तथा विकसित होता रहा है। भर्तृहरि के अनुसार :

इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथंचन।
प्रत्यात्मवृत्ति सिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते ॥
उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥
साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ॥

(वाक्यपदीय, 2/144-46)

प्रतिभा अनिर्वचनीय शक्ति है। वह प्रत्येक जीव के भीतर स्वभावतः सिद्ध है, भले ही कर्ता स्वयं उसे न पहचाने। वह बिना विचार आदि के ही वस्तुओं का उपश्लेष करती है, तथा विषयों में परिव्याप्त हो सकती है। यह साक्षात् शब्द से जनित भी हो सकती है, और भावना से अनुगत भी। इतिकर्तव्यता—यह कार्य ऐसा करना है ऐसा निश्चय—के विषय में कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता।

भर्तृहरि भी कालेरिज के समान प्रतिभा को जीव का स्वभावतः धर्म मानते हैं। वह अयत्नजा है, जिस प्रकार मद आदि की शक्ति द्रव्यविशेष के परिपाक से स्वभावतः उनमें रहती है, उसी प्रकार प्रतिभाशील की प्रतिभा भी उसमें रहती है :

यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः।
मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां यथा ॥

(वही, 2/148)

कालेरिज की ही भांति भर्तृहरि ने भी व्याकरणदर्शन के अंतर्गत दो प्रकार की प्रतिभा स्वीकार की है : एक तो भावनानुगत दूसरी आगम से उत्पन्न। भावनानुगत प्रतिभा कालेरिज की गौण कल्पना के समकक्ष है। वह आसन्न तथा ऐहजन्मिक होती है। दूसरी प्रतिभा जन्मांतरीया होती है—यह कालेरिज की प्राथमिक कल्पना के समकक्ष है :

भावनानुगतादेतदागमादेव जायते।
आसत्तिविप्रकर्षाभ्यामागमस्तु विशिष्टते ॥

(वही, 2/151)

शैवदर्शन में प्रातिभा को सृष्टि की मूल सर्जनाशक्ति के रूप में माना गया है। काव्य-चिंतन के क्षेत्र में आचार्य अभिनवगुप्त ने उसी को 'कविगत संवित्' की संज्ञा दी है, जो रस का बीज है। सर्जनशक्तिरूपरूपा होने के कारण इसका दूसरा नाम शक्ति भी है। शैवदर्शन का आधार लेकर उन्होंने कहा कि कवि के लिए व्युत्पत्ति अभ्यास आदि की अपेक्षा उसकी शक्ति ही बलवती है। कवित्वशक्ति ही कवि की लोकोत्तर व्युत्पत्ति है—**'कवीना शक्तिरेव बलीयसी। सा एव लोकोत्तरा व्युत्पत्तिरिति अभिधीयते। न तु अन्या कविशक्तेर्व्युत्पत्तिर्नाम काचित्...'** (घटकर्परकुलकवृत्ति 21)। सृष्टि प्रक्रिया में यही प्रतिभा परमेश्वर की शक्ति है। सृष्टि का एकमात्र तत्त्व परमशिव है, जब वह सर्जना की इच्छा करता है, तो उसके दो रूप हो जाते हैं : शिवरूप और शक्तिरूप। परमार्थतः ये परस्पर अभिन्न हैं। प्रतिभा के विषय में इस विचार को अभिनव तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन के उदय के पूर्व कवि कालिदास ने प्रस्तुत किया था :

स्वीपुंसीवात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।

(कुमारसंभव, 2/7)

अभिनव के अनुसार यह प्रतिभा स्वातंत्र्यरूपिणी है। 'घटकर्परकुलकवृत्ति' में उन्होंने इसके विषय में लिखा है : 'प्रतिभा के इस स्वातंत्र्य के कारण ही कवि काव्य में गुण-दोष का विवेक करते हैं।' इस प्रकृतिमधुर स्वातंत्र्यरूप प्रतिभा के कारण ही महाकवि के काव्य में काव्यरचना के नियमों का अतिक्रमण भी सुंदर रूप में परिणत होता है।

न वै दोषा न च खलु गुणा एव च गुणा
निबद्धुः स्वातन्त्र्यं सपदि गुणदोषान् विभजते।
इयं सा वैदग्धी प्रकृतिमधुरा तस्य सुकवे-
र्यदत्रोत्पादादप्यतिसुभगभावः परिणतः॥

यह प्रतिभा आनंदरूप है तथा सर्जना के समय स्रष्टा के भीतर उच्छलित होकर केवल अपने ही सामर्थ्य से सृजन करती है। अभिनव के शिष्य क्षेमराज ने उत्पल देव की 'स्तोत्रावली' की व्याख्या में कहा है : **'आनंदोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना।'**

भारतीय तत्त्वचिंतन में प्रतिभा अपने व्यापक रूप में वह मूल शक्ति है जिसमें समस्त ब्रह्मांड प्रतिबिंबित होता है, तथा सृष्टि के सभी पदार्थ जिससे उद्गत और परिचालित होते हैं। काव्य के क्षेत्र में इसी प्रतिभा का स्वरूप काव्यसर्जना की प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर ही समझा जा सकता है। रुद्रट ने इस दृष्टि से कहा :

मनसि सुसाधिनि विस्फुरणमनेधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
प्रतिभेत्यरैरुदिता................................।

(काव्यालंकार, 1/15-16)

सुसमाहित चित्त में जब अभिधेय का अनेक रूपों में स्वतः स्फुरण हो उठे और पद सहज रूप में भासित होने लगें तो जिसमें तथा जिसके कारण यह होता है वह शक्ति या प्रतिभा है। आनंदवर्धन ने भी कहा कि महाकवियों की वाणी भावपूर्ण प्रतीयमान अर्थ को प्रवाहित करती हुई उनकी असाधारण परिस्फुरित होती हुई प्रतिभा को प्रकट करती है। यह प्रतिभा अनंत और निरवधि है, इसकी उपस्थिति में दुर्घट अलंकार भी कविमानस से होड़ करते हुए फूट पड़ते हैं तथा काव्यार्थ का कभी विराम हो नहीं सकता, प्रतिभा स्वयं शब्दार्थ को घटित करती चलती है :

अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति। (ध्वन्यालोक, पृ. 233-34)

न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः। (वही, 4/6)
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः। (वही, 4/1)

प्रतिभा के इस काव्यगत परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ही पंडितराज जगन्नाथ ने काव्यप्रतिभा के लक्षण में कहा कि 'काव्यरचनानुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति ही प्रतिभा है' (रसगंगाधर, पृ. 25)। डा. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इस लक्षण की आलोचना करते हुए इसे अत्यंत 'संकीर्ण' बताया है, 'क्योंकि यह केवल काव्य के लिए ही सही हो सकता है, और वहां भी अव्याप्ति से मुक्त नहीं है।' यह आलोचना अनुचित है। पंडितराज ने काव्यप्रतिभा का ही लक्षण किया है, क्योंकि प्रतिभा के व्यापक स्वरूप का निदर्शन उनके पूर्व बहुधा हो चुका था। यदि वे काव्य के अतिरिक्त सभी क्षेत्रों पर भी लागू होने वाला प्रतिभा का सामान्य लक्षण बनाते, तो वहां अतिव्याप्ति हो जाती, वह मात्र काव्यप्रतिभा का लक्षण न रहता। आगे डा. शर्मा ने आक्षेप करते हुए कहा है : 'क्या काव्य में शब्दार्थ की उपस्थिति ही सब कुछ है, काव्यवस्तु के चयन, निरूपण, विकास, विस्तार आदि का कोई महत्त्व नहीं?' (काव्यालंकार : भूमिका, पृ. 15)। यह आक्षेप भी इसलिए ठीक नहीं है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दार्थसाहित्य के द्वारा साहित्य के समस्त उपादानों तथा उसके वैशिष्ट्य का ग्रहण होता है, केवल शब्द और उसके सीधे-सीधे अर्थ का ही नहीं।

प्रतिभा के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र की कल्पना प्रतिभा का अंश ही हो सकती है। वस्तुतः पाश्चात्य काव्यचिंतन के सर्जनात्मक

सहजानुभूति (क्रियेटिव इंट्यूशन) तथा सर्जनात्मक कल्पना (क्रियेटिव इमेजिनेशन) ये दोनों तत्त्व मिलकर प्रतिभा के समकक्ष हो सकते हैं। क्रोचे ने सहजानुभूति को तर्कातीत बौद्धिक ज्ञान से भिन्न कहा है। भारतीय प्रतिभा पर यह धारणा पूर्णतः लागू हो जाती है। साथ ही क्रोचे ने सहजानुभूति की उपस्थिति मनुष्यों में समान रूप से मानी है। अभिनवगुप्त ने भी प्रतिभा के विषय में कहा है कि वह सर्वगर्भिणी—सबमें समानतः रहने वाली है, तथा कोई भी प्राणी उससे रिक्त नहीं है। ज्याक मारिते ने सहजानुभूति को मनुष्य के अहं से सर्वथा भिन्न और विपरीत बताते हुए काव्यसृजन को अहंशून्य अनासक्त व्यापार माना है। यही बात संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने भी प्रतिभा के विषय में कही है।

प्रतिभा को भट्टतौत, अभिनव आदि आचार्यों ने नवनवोन्मेषशालिनी तथा अपूर्वनिर्माणक्षमा बतलाया है। प्रतिभा के ये दो वैशिष्ट्य कल्पना में भी मिल जाते हैं। आइ.ए. रिचर्ड्स ने कल्पना की निम्नलिखित विशेषताओं का आकलन किया है :

1. स्पष्ट बिंबसर्जना,
2. आलंकारिक भाषा—रूपक आदि का प्रयोग,
3. नवोन्मेष अथवा नूतन आविष्कार,
4. दूसरों की मानसिक स्थितियों का पुनः सृजन,
5. असंबद्ध समझी जानेवाली वस्तुओं का पुनः संयोजन,
6. परस्परविरोधी गुणों का समंजन अथवा संतुलन।

इस प्रकार कल्पना में भी नवोन्मेष को एक तत्त्व माना गया है और भारतीय प्रतिभा में भी। पश्चिम में कल्पना नूतनसृष्टिविधायिनी शक्ति के रूप में ही अधिक निरूपित है। प्रतिभा उसकी अपेक्षा व्यापक अवधारणा है, क्योंकि उसमें कल्पना के साथ-साथ सहजानुभूति का भी समावेश हो जाता है।

वस्तुतः प्रतिभा मूल शक्ति है, कल्पना को उसकी प्रक्रिया या परिणति कह सकते हैं। प्रतिभा के बल पर ही कल्पना सजग और सक्रिय होती है और बिंबरचना की प्रक्रिया आरंभ करती है। कल्पना की परिणतियों के द्वारा भी हम प्रतिभा का अनुमान लगा सकते हैं, पर प्रतिभा की परिणतियां साहित्य में तथा साहित्येत्तर क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में देखी जा सकती हैं और कल्पना की परिणतियां उनका एक अंश ही हो सकती हैं।

संदर्भ

1. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पश्चिमी आलोचनाशास्त्र, पृ. 54-55
2. ऋग्वेद, 10/53/11 भी द्रष्टव्य।
3. तथा तु तं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम्।
   ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत ॥ (रामायण, 1/2/11)
4. ततः करुणवेदित्वादधर्मोयमिति द्विजः।
   निशाम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ (वही, 1/2/14)
5. वही, 1/2/42
6. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
   प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥ (काव्यालंकार, 3/53)
   काव्यामीमांसा, अ. 12, पृ. 153-54 (पटना संस्करण) भी दृष्टव्य।
7. ध्वन्यालोकलोचन में उद्धृत, चौखंभा संस्करण, पृ. 88
8. वही, पृ. 87
9. इस पद्य की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए प्रस्तुत लेखक का लेख 'शाकुंतल का एक पद्य' मध्यभारती, (सागर वि.वि.) अंक 1974 में प्रकाशित।
10. पश्चिम के एक आलोचक के इस मंतव्य से तुलनीय, 'शब्द नष्ट होते और टूटते हैं। बीती शताब्दी के शब्द वीती शताब्दी से ही सरोकार रखते हैं।'
11. शाकुंतल, 2/10
12. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—'पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्।' (1/3/15)
13. वही, 1/3/17
14. मनसि सुसमाधिनि विस्फुरणमनेधाभिधेयस्य।
    अक्लिष्टानि च पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥ (काव्यालंकार, 1/15)
15. द्वे वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
    प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम् ॥ (ध्वन्यालोकलोचन) पृ. 94
16. दृष्टव्य, राधावल्लभ त्रिपाठी : संस्कृत कवियों के व्यक्तित्त्व का विकास, पृ. 24
17. वही, पृ. 109
18. एस.के. दे सं., वक्रोक्तिजीवित, पृ. 28
19. वही, पृ. 41, 146
20. काव्यमीमांसा, (पटना सं.) पृ. 153-54
21. वही
22. व्यक्तिविवेक, 2/211
23. हेमचन्द्र : काव्यविवेक, पृ. 6, 380
24. रघुवंश, 1/1
25. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। (वही, 1/2)
26. रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोपि सन्।
    तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ (वही, 1/9)
27. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेस्मिन् पूर्वसूरिभ।
    मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ (वही, 1/4)

5
काव्य के रूप

काव्य में हमारा अपना संसार दूसरे रूप में प्रकट होता है। अपने आसपास के जगत् के जो विविध रूप हमारी दृष्टि में अनदेखे रह जाते हैं, उन्हें कविता दिखलाती है। अतः जिस प्रकार हमारा अपना स्थूल संसार विभिन्न उपादानों द्वारा कई-कई रूपों में दिखता है, उसी प्रकार काव्य भी अनेक रूपों में उल्लसित होता है। यह मान लेने पर कि विधाता की सृष्टि काव्य में नूतन रूप में अभिव्यंजित होती है, सृष्टि के वैविध्य के अनुरूप काव्य के भी विविध रूपों की परिकल्पना बहुत पहले से चल पड़ी होगी।

काव्य मनुष्य के जीवन की कथा है, वह नर के जीवन की आशंसा करता है, इसलिए उसका एक नाम नाराशंसी प्रचलित हुआ। गा गा कर सुनाया जा सकने वाला होने पर उसको गाथा कहा गया। लोक में प्रचलित मनुष्य के विशिष्ट आख्यानों को, काव्य के रूप में प्रस्तुत करने वाले उसके रूप को इतिहास और पुराण की संज्ञा मिली।[1] इस प्रकार इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी काव्य के ये चार रूप अथर्ववेद के समय तक स्वीकृत हो चुके थे, यह प्रथम अध्याय में हम देख चुके हैं।

कथा और आख्यायिका

काव्य लोकजीवन से तत्त्व लेकर उल्लसित होता है। लोक में कथाएं और इतिहास प्रचलित रहा करते हैं जिनका उपयोग मनुष्य अपने चित्त के अनुरंजन, व्यवहारज्ञान आदि कई प्रयोजनों के लिए करता है। महाभारत में इसीलिए कहा है :

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
चित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयै.................. ॥

(महाभारत, 1/149/74)

जिसकी बुद्धि विचलित हो, उसे अतीत से सांत्वना दे—विचित्र अर्थ से भरी हुई पहले के लोगों की कथाओं से।

लोक जीवन में व्यवहृत इन कथाओं को काव्य भी ग्रहण करता है। इस प्रकार काव्य का एक रूप बनता है—कथा। कथा का ही दूसरा नाम आख्यान भी पड़ा। रामायण और महाभारत इन दोनों को इन्हीं काव्यों के भीतर इतिहास के साथ-साथ कथा और आख्यान भी कहा गया है।[2] इन्हीं से गद्यकाव्य के दो प्रमुख भेद—कथा और आख्यायिका—परवर्ती काव्यशास्त्र में स्वीकृत हुए।[3] दण्डी (सातवीं-आठवीं शती के लगभग) तक इन दोनों को पूरी तरह से अलग-अलग नहीं माना जाता था, यद्यपि कुछ आचार्य कथा और आख्यायिका दोनों को भिन्न-भिन्न विधाओं के रूप में मानने लग गए थे। तभी दण्डी ने कहा कि कथा और आख्यायिका दोनों की जाति एक है, केवल संज्ञाएं भिन्न-भिन्न हैं :

तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाश्रिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥

(काव्यादर्श, 1/28)

आगे चलकर कथा और आख्यायिका अलग-अलग विधाएं मान ली गईं। उनके पार्थक्य को स्थापित करने में बाणभट्ट के दो गद्य काव्यों—कादम्बरी और हर्षचरित—का बहुत बड़ा हाथ रहा होगा। दोनों रचनाओं में गद्य में निबद्ध आख्यान हैं, पर शैली की समानता होने पर भी दोनों के विषयवस्तु और भावभूमि में इतना अधिक अंतर है कि दोनों को एक ही विधा की रचनाएं मानना आचार्यों को कठिन लगा होगा। कादम्बरी में अनेक जन्मजन्मांतरों की, विचित्र अतिप्राकृत तत्त्वों से भरी हुई अतीत की प्रणयकथा है, जबकि हर्षचरित में अधिकांशतः आत्मकथा की शैली में वर्तमान की घटनाओं का आख्यान है। इस आधार पर कादम्बरी को कथा और हर्षचरित को आख्यायिका कहा गया। काव्यशास्त्रियों में संभवतः रुद्रट पहले हैं, जिन्होंने इन दोनों रचनाओं का उदाहरण देते हुए, इनके आधार पर कथा और आख्यायिका में स्पष्ट भेदरेखा खींची। यद्यपि पद्य में रचित इतिहास-पुराण आदि के लिए भी कथा और आख्यान शब्दों का पहले व्यवहार हुआ था, पर काव्यविधा के लिए जब ये दोनों शब्द रूढ़ हुए तो इनका प्रायः गद्य में रचित होना अनिवार्य समझा गया। इसका कारण यह है कि दोनों काव्यविधाओं की मूल अवधारणा लोकजीवन से आई थी। वेद के समय से आख्यान को यज्ञ में अथवा उत्सवों के समय एकत्रित समाज के आगे प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रस्तुतीकरण में गद्य का प्रयोग स्वभावतः होता ही होगा। अतः कथा और आख्यायिका गद्यकाव्य की विधा के ही रूप माने गए।

काव्यशास्त्र में गद्य की विधा के इन दोनों रूपों को स्वीकार करने वाले आचार्य भामह थे, यद्यपि भामह के बहुत पहले ही कथाओं तथा आख्यायिकाओं की रचना होती आ रही थी। पतंजलि ने तीन अप्राप्त आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। भोज ने जिन दो कथाओं का उल्लेख किया है, उनमें से एक—लीलावती—पद्य में लिखी गई थी जिसके आधार पर भोज को कथा के लक्षण में यह जोड़ना पड़ा कि वह गद्य के अतिरिक्त पद्य में भी हो सकती है। अभिनवगुप्त ने आनंदवर्धन की 'आख्यायिकाकथे' की व्याख्या में कहा है : **'उभयोरपि गद्यबन्धस्वरूपतयाद्वन्द्वेन निर्देशः'** जिससे स्पष्ट है कि अभिनव दोनों का गद्य में रचित होना आवश्यक मानते थे, या संभव है पद्यबद्ध लीलावती नामक कथा की उन्हें जानकारी नहीं रही हो।[4]

भामह के अनुसार आख्यायिका में नायक स्वयं अपनी कथा कहता है। बाण का हर्षचरित जो आगे चलकर आख्यायिका के रूप में प्रख्यात हुआ, इस लक्षण पर खरा नहीं उतरता। संभवतः भामह के सामने जो आख्यायिकाएं उदाहरण के रूप में थीं, उनमें नायक की आत्मकथा का रूप विद्यमान रहा होगा। हर्षचरित भामह के पश्चात् रचा गया, या भामह को उसकी सूचना नहीं रही होगी। आगे चलकर भोज ने अपने 'शृंगारप्रकाश' में हर्षचरित के उदाहरण को सामने रखकर भामह के लक्षण में संशोधन करते हुए कहा : **'नायकचरितं ब्रूते नायक एवास्य वानुचरः।'**[5]

महाकाव्य

महाकाव्य मनुष्य के जीवन को उसकी संपूर्णता में उपस्थित करता है। उसका मूल रूप इतिहास और पुराण है। इतिहास और पुराण, दोनों में जीवन और जगत् को विराट् फलक पर चित्रित किया जाता था, और दोनों का यह मूल ढांचा लेकर महाकाव्य स्वतंत्र काव्यविधा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। महाकाव्य का स्पष्ट रूप वाल्मीकि रामायण के द्वारा सर्वप्रथम निरूपित हुआ। रामायण और महाभारत ये दोनों ही ग्रंथ जहां कवियों के लिए उपजीव्य बने, वहीं चिंतन के क्षेत्र में विभिन्न प्रस्थानों के आधार भी।

यद्यपि भारतीय परंपरा में इन दोनों ग्रंथों को इतिहास की संज्ञा दी जाती रही है, परंतु मूलतः ये दोनों रचनाएं काव्य हैं। काव्य की परिधि इतनी संकुचित नहीं है कि इतिहाससंज्ञक इन रचनाओं को उसके भीतर न रखा जा सके। साथ ही इन दोनों ग्रंथों के रचनाकारों ने तथा सहृदयों के समुदाय ने इन्हें मूलतः काव्य के रूप में ही रचा तथा समझा था। दोनों ग्रंथों में उपलब्ध अंतरंग प्रमाण इसके साक्षी हैं। रामायण में प्रस्तुत ग्रंथ के संदर्भ में कहा गया है : **आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।** (6/128/106)

सहृदयों के समाज में काव्य के रूप में वाल्मीकि की रचना प्रतिष्ठित थी, तथा काव्य के ही रूप में इसे सुना जाता था, यह भी रामायण के ही उल्लेख से स्पष्ट है :

रसैः श्रृंगार-करुण-हास-रौद्र-भयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्॥

(1/4/9)

तथा,

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येव चकार चरितव्रतः॥

(1/4/7)

महाभारत में भी प्रस्तुत ग्रंथ के विषय में यह मंतव्य बार-बार उल्लिखित है कि यह ग्रंथ काव्य है, तथा कवियों के लिए उपजीव्य भी है :

इदं सर्वैः कविवरैराख्यानमुपजीव्यते।
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे॥

(वही, अनुक्रमणिका 1/73)

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः॥

(वही, 1/92)

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षते परे।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि॥

(आदि. 1/24)

इस प्रकार इन दोनों ग्रंथों के विषय में यह मान्यता थी कि ये काव्य ही नहीं, कवियों के उपजीव्य भी हैं, अतः ये बड़े काव्य हैं। महाकाव्य की संज्ञा इसी आधार पर पड़ी होगी।

महाकाव्य का एक पुराना नाम 'सर्गबंध' मिलता है, और वाल्मीकि का काव्य ही पहली रचना है जिसका विभाजन कांडों के साथ सर्गों में किया गया। यद्यपि रामायण को परंपरा में इतिहास के रूप में ही देखा जाता है, पर आचार्यों ने उसे सदैव काव्य का और विशेषतः महाकाव्य का भी निकष माना। स्वयं रामायण में ही इस रचना के लिए काव्य के साथ-साथ एक स्थान पर 'महत् काव्य'—यह विशेषण भी प्रयुक्त है, जो संभवतः महाकाव्य की संज्ञा का आधार बना होगा : **'कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः'** (रामायण, 1/94/23)।

महाकाव्य के पुराने नाम सर्गबंध के निर्वचन से उसके मूलरूप का संकेत और भी आगे तक खोजा जा सकता है। सर्ग का मूल अर्थ सृष्टि है। सर्ग और प्रतिसर्ग का वर्णन पुराणों का सबसे प्रधान वैशिष्ट्य गिनाया जाता रहा है। सर्ग वर्णन की परंपरा रामायण-महाभारत आदि काव्यों में भी बनी रही, और सर्गों में इसी आधार पर इनका विभाजन किया गया होगा। भामह ने महाकाव्य की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार बताई थीं : महान् व्यक्ति के चरित्र से संबद्ध होना, आकार में बड़ा होना, ग्राम्यशब्दों का अभाव, सालंकारत्व, संधियुक्तत्व, ऋद्धिमत्व, लोकस्वभाव तथा रसों से युक्त होना, आदि। ये सभी लक्षण रामायण पर आधृत लगते हैं। आगे चलकर साहित्यदर्पणकार ने इन लक्षणों में एक महत्त्वपूर्ण बात जोड़ी : महाकाव्य में एक से अधिक नायकों का संभव होना। साहित्यदर्पणकार के समक्ष इस लक्षण को जोड़ते समय अवश्य ही कालिदास के रघुवंश का उदाहरण रहा होगा, जो अनेक नायकों के संपूर्ण जीवन की कथा उपन्यस्त करता है।

भामह के पश्चात् काव्य के अनेक विज्ञ आचार्यों द्वारा महाकाव्य के लक्षण का परिवर्धन किया जाता रहा जिसके कारण शनैः शनैः वह लक्षण रूढ़ भी होता गया। महाकाव्यों की रचना भी साहित्यशास्त्रियों द्वारा निर्मित इस ढांचे पर ही होने लगी। तभी इस रूढ़ ढांचे को तोड़ने की आवश्यकता हुई। यह कार्य कल्हण ने राजतरंगिणी में किया। राजतरंगिणी में अनेक वंशों के अनेक राजाओं के जीवन का वृत्तांत है, पर कुलीन, सद्वंशयुक्त, धीरोदात्त और गुणान्वित उनमें से सब नहीं है, न वे सब एक वंश के हैं जैसा साहित्यशास्त्री चाहते थे। साहित्यशास्त्रियों को सम्मत—संध्या, सूर्य, चंद्र, प्रदोष, अंधकार, रात्रि, दिन, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, शैल, वन, सागर, षड्ऋतु, संभोग, विप्रलंभ आदि-आदि का भी राजतरंगिणीकार ने उस रूप में वर्णन नहीं किया। पर जीवन को समग्रता में निरूपित करके उसकी व्याख्या करने की जो शक्ति महाकाव्य के रचनाकार में होनी चाहिए, वह उसके भीतर विद्यमान है जिसके कारण राजतरंगिणी केवल लक्षणों का अनुवर्तन करने वाले तथा जीवन के संस्पर्श से रहित अपने समय के दूसरे अनेक महाकाव्यों से अधिक समर्थ रचना है। फिर भी, राजतरंगिणी के आधार पर आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण में संशोधन नहीं किया। राजतरंगिणी में वस्तुतः न एक व्यक्ति नायक है, न कई व्यक्ति। इसका नायक समय है।

मुक्तक

मनुष्य के जीवन को बड़े फलक पर देखकर उसकी काव्य में जब रचना होती है तो महाकाव्य बनता है; जब उसके कुछ सघन अनुभूति भरे क्षणों का काव्य में

सर्जन किया जाता है तो मुक्तक की रचना होती है। महाकाव्य जीवन की पूरी छवि उकेर कर हमारी दृष्टि को विस्तृत करता है, मुक्तक एक क्षण की अनुभूति को जीवंत और अमर बनाकर हमारी संवेदनशीलता को बढ़ाता है। दोनों का ही सीधा संबंध जीवन से है, और कविता के आदिकाल से ही दोनों की कई-कई रूपों में समानांतर सृष्टि होती रही है। वेद में महाकाव्य का रूप भी मिलता है और मुक्तक का भी। पर यह देखकर कुछ आश्चर्य होता है कि साहित्यशास्त्रियों ने जब काव्य की परीक्षा करके लक्षणों और उसकी विधाओं का निर्णय करना प्रारंभ किया तो उनकी दृष्टि महाकाव्य पर पहले गई, मुक्तक पर बाद में। भामह ने काव्य के पांच भेद किए थे : सर्गबंध या महाकाव्य, अभिनेयार्थ अथवा नाटक आदि, आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध। पांचवें अनिबद्ध नामक भेद के अंतर्गत उन्होंने गाथा, श्लोक आदि को गिना। भामह ने जिस ढंग से चलते रस्ते इस अनिबद्ध श्रेणी के काव्य-भेद की चर्चा की है, उससे लगता है कि उनकी दृष्टि में उसका विशेष महत्त्व नहीं था। दण्डी ने तो स्पष्ट रूप से मुक्त आदि अनिबद्ध काव्यों को महाकाव्य का ही क्षुद्र अंश बताकार उनके विषय में विस्तार से कहना आवश्यक समझा :

मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांशरूपत्वात् अनुक्तः पद्यविस्तरः॥

(काव्यादर्श, 1/13)

साहित्यशास्त्रियों द्वारा प्रारंभ में मुक्तक की इस उपेक्षा के कई कारण हो सकते हैं। मुक्तक, गाथा आदि का उद्गम तथा संबंध लोकजीवन से अधिक रहता आया था। लोक में प्रचलित ये गाथाएं, जो गहरी अनुभूति तथा जीवन की पकड़ से रची गई थीं, भारी-भरकम महाकाव्य लिखने वाले राजाश्रयप्राप्त महाकवियों तक कम ही पहुंच पाती थीं, जिनको आधार बनाकर साहित्यशास्त्री अपने नियमों की रचना कर रहे थे। रामायण में ऐसी कुछ लौकिक गाथाओं की ओर संकेत किया गया :

कल्याणी बत गाथेयं लौकी प्रतिभाति मे।
ऐति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥

(रामायण, 5/34/6)

अतः गाथा अनुभवों और अनुभूतियों का निष्कृष्टार्थ वहन करने वाली मंजे हुए कवि की उक्ति थी। महाभारत में भी गाथा की इस विशेषता की ओर संकेत किया गया है :

ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे।
न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथञ्चन॥

(महाभारत, 3/135/54)

तथा,

अब गाथा मयोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
धर्मज्ञा धर्मशास्त्रेषु निबद्धा धर्मसेतुषु ॥

(महाभारत, 13/45/17)

इस प्रकार सहस्रों वर्षों से संस्कृत तथा प्राकृत में इस प्रकार की सरस अनुभूतिप्रवण गाथाओं की सृष्टि होती रही, परंतु काव्यशास्त्र में शताब्दियों तक उन्हें समुचित स्थान नहीं मिल सका। यहां तक कि आठवीं शती के महान रीतिवादी आचार्य वामन ने तो भामह द्वारा वर्णित अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य को हेय बताते हुए यहां तक कहा : **'नानिबद्धं चकास्ति एकतेजः परमाणुवत्'** (काव्यालंकार सूत्र., 1/3/29)। एक तेज परमाणु के समान अनिबद्ध काव्य अच्छा नहीं लगता।

मुक्तक तथा गाथा की काव्यकोटि को काव्यशास्त्र में मान्यता तब मिली जब प्राकृत की गाथाओं को गाथासप्तशती में संग्रहीत करके सामने रखा गया, और संस्कृत में अमरुक जैसे सिद्ध कवि की प्रणय के संसार की अंतरंग और अछूती अनुभूतियों को उजागर करने वाली रचना सामने आई। अमरुक की अनुभूति की गहराई से अभिभूत होकर ही काव्यशास्त्री आचार्य आनन्दवर्धन को स्वीकार करना पड़ा था कि रसाभिनिवेश की दृष्टि से मुक्तक प्रबंध या पूरे महाकाव्य से घटकर नहीं है, वरन् एक छोटा-सा मुक्तक भी पूरे प्रबंध से अधिक प्रभविष्णु बन सकता है : **'मुक्तकेषु हि प्रबंधेष्विव रसाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा हि अमरुकस्य कवेमुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबंधायमानाः प्रसिद्धा एव।'** (ध्वन्यालोक, पृ. 175)। आनंदवर्धन के इस मंतव्य के साथ ही काव्यशास्त्र में मुक्तक को सम्यक् प्रतिष्ठा मिली (यद्यपि सहृदयों के समाज तथा लोकजीवन में वह बहुत पहले ही मूर्धाभिषिक्त था, तथा **'अमरुककवेरेकोपि श्लोकः प्रबंधशतायते'** की उक्ति के द्वारा अमरुक जैसे सफल मुक्तक कवियों को महाकवियों के बीच सम्मानित किया गया। अभिनवगुप्त ने दण्डी और वामन की इस मान्यता को संशोधित किया कि मुक्तक तो महाकाव्य अथवा प्रबंध का मात्र स्वल्प अंश है, स्वतंत्र रूप से मुक्तक का महाकाव्य की तुलना में वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए अभिनव ने कहा : 'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।' (ध्व. लोचन, पृ. 175))। जो 'पूर्वापरनिरपेक्षरूप में रस की चर्वणा करा सकता हो, वह मुक्तक है।' महाकाव्य का प्रत्येक अंश एक-दूसरे से सापेक्ष होता है, स्वतंत्र रूप से वह वैसी रसचर्वणा नहीं करा सकता। प्राचीन आचार्यों के इस उपन्यास को कि मुक्तक प्रबंध का मात्र एक अंश है, परिष्कृत करके अभिनव ने कहा : **'यदि वा प्रबंधेष्वपि**

मुक्तकस्यास्ति सद्भावः।' (वही, पृ. 174) प्रबंध के भीतर भी मुक्तक हो सकता है, पर वह केवल प्रबंध का एक टुकड़ा ही हो, ऐसा नहीं है।

मेघदूत : काव्यविधा का प्रश्न

संस्कृत काव्य की उपरिलिखित कुछ विधाओं के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये विधाएं कई शताब्दियों तक कवियों द्वारा व्यवहृत तथा लोक द्वारा स्वीकृत रहीं। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने बाद में उनका वर्गीकरण, नामनिर्धारण तथा लक्षण निश्चित किया। कभी-कभी किसी विधा के महत्त्व को काव्यशास्त्री लंबे समय तक आंक नहीं सके, बाद में लोकप्रसिद्ध तथा कृति की जीवंतता के कारण उन्हें लक्षणों में संशोधन करना पड़ा। कभी ऐसा भी हो जाता है कि कोई समर्थ कवि अपनी प्रतिभा के उन्मेष के द्वारा सर्वथा नूतन काव्यविधा की सृष्टि कर देता है और काव्यशास्त्री अपने शास्त्र में निरूपित इस या उस रूढ़ विधा के अंतर्गत उसे अंतर्भावित करने की चेष्टा करते रह जाते हैं। कालिदास का मेघदूत इसी तरह की रचना का एक उदाहरण है।

मेघदूत की रचना के समय ही निश्चय कालिदास इस तथ्य के प्रति सतत जागरूक थे कि वे एक ऐसी विधा की उद्भावना कर रहे हैं, जो अब तक प्रायः अछूती होने के कारण समकालीन काव्यसमीक्षकों तथा पंडितों के गले नहीं उतरेगी। अतः अपने काव्य में वे पग-पग पर समर्थ्य-समर्थक-भाव-रूप अर्थान्तर-न्यास अलंकार का प्रयोग करके जो कुछ भी विशिष्ट काव्य में वर्णित हो रहा है, उसका सामान्य से समर्थन करते हुए अपने विषय की सहजता और संभाव्यता का विश्वास अपने समय के पाठक को दिलाना चाहते हैं। तपती हुई जेठ की गर्मी के बाद आषाढ़ के पहले दिन आकाश में छाए बादल को देखकर तो सुस्थ और सुखी व्यक्ति का भी चित्त जाने कैसा होने लगता है, फिर जो यक्ष आठ महीनों से रामगिरि के जंगल में नितांत अकेला प्रियाविरह कातर होकर किसी तरह दिन काट रहा था, जिसके पास अपनी बात सुनाने के लिए इतने समय से कोई साथी न था, जिसके संगीसाथी दूर कहीं छूट गए थे, वह उस बादल को देखकर कुछ बड़बड़ा उठा तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है?[6] यह ठीक है कि बादल तो धुआं, आग, पानी और हवा से मिलकर बना एक निर्जीव पदार्थ है, वह न संदेश ले जा सकता है, न सुन ही सकता है। फिर भी यक्ष ने उसे अपनी प्रेयसी के पास दूत बनाकर भेजना चाहा, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, कामातुर व्यक्ति को चेतन-अचेतन का बोध नहीं रह जाता।[7]

कालिदास के द्वारा अपनी कृति के बारे में परोक्ष रूप से इस प्रकार के स्पष्टीकरण बार-बार दिए जाने पर भी संभवतः उनके समय का समीक्षक समाज,

जो विशाल कलेवर वाले इतिहास-पुराण-महाकाव्य आदि का अधिक अभ्यस्त था, इस पर सम्मत न हो सका कि किसी बावले प्रेमी के असंबद्ध प्रलाप को लेकर भी कोई काव्य रचा जा सकता है। मेघदूत में कथानक नहीं था, इस तरह की किसी चमत्कारपूर्ण घटना का वर्णन भी नहीं था कि वह बादल सचमुच दूत बनकर यक्ष की प्रेयसी के पास जा पहुंचा हो, और उसने यक्ष का संदेश उसे दे ही डाला हो (जैसाकि महाभारत के नलोपाख्यान में हंस ने किया था), अतः इतिहास-पुराण-महाकाव्य-खंडकाव्य-कथा-आख्यायिका आदि के अभ्यस्त उस समय के पाठक समुदाय ने मेघदूत को पढ़ या सुनकर निश्चय ही यह प्रश्न दोहराया होगा कि यह कैसा काव्य है जिसमें कहीं कुछ घटता तो है ही नहीं। यक्ष ने मेघ को दूत बनाना चाहा, पर फिर अंत में हुआ क्या? कालिदास की कविता की सामर्थ्य से अभिभूत, पर किसी अधकचरे कवि को लगा कि शायद महाकवि इस काव्य को पूरा ही नहीं कर पाए, तो उसने कालिदास के नाम से अंत में पांच श्लोक मेघदूत में जोड़ दिए जिनमें मेघ के द्वारा यक्ष का संदेश लेकर यक्षिणी के पास जाने, उसे संदेश सुनाने तथा अंत में कुबेर के द्वारा प्रसन्न होकर यक्ष का शाप समय के पूर्व समाप्त होने की घोषणा करने आदि घटनाओं का शुष्क विवरण था।

किंतु दूसरी ओर काव्य के समीक्षकों ने इस कृति पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए यह भी कहना प्रारंभ किया कि मेघ को दूत बनाने में तुक ही क्या है? कोई भला मेघ को दूत बनाकर भेजना चाहेगा ही क्यों? संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य कहे जाने वाले भामह के सामने भी यह प्रश्न था, पर भामह के समय तक कवि कालिदास की कविता इतनी स्थापित हो चुकी थी कि भामह ने किसी तरह उस प्रश्न का समाधान किया :

अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥
अवाचो वाक व्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥
यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥

(काव्यालंकार, 1/42-44)

बादल, हवा, चंद्रमा, भ्रमर, चकवा, तोता आदि को दूत बनाना अयुक्तिमत दोष है, क्योंकि वाणीरहित या अव्यक्त वाणी वाले तथा दूर देश में विचरण करने वाले ये जंतु दूत का काम कैसे कर सकते हैं, इस युक्ति के कारण यह अयुक्त है। तथापि

यदि उत्कंठा के द्वारा कोई उन्मत्त के समान प्रलाप करे तो इसमें दोष नहीं, इस प्रकार की स्थिति को कुशल कवि प्रायः चित्रित करते ही हैं।

भामह का स्पष्ट संकेत यहां मेघदूत की ओर है, तथा आचार्यगण जो आक्षेप मेघदूत पर लगा रहे थे, उनकी भी सूचना भामह ने अयुक्तिमत दोष के बहाने दे दी है। मेघदूत जैसे लघुकलेवर वाले काव्य में भावों का जो अनूठा और वैविध्यमय बहुस्तरीय संसार रचा गया था, उस पर उस समय तक रसिकजन इतने मुग्ध हो चुके थे कि भामह ने किसी तरह इस दोष का मेघदूत की दृष्टि से समाधान प्रस्तुत किया। अपने समय के अथवा पूर्ववर्ती कुछ अन्य कवियों के पद्य उद्धृत करते हुए भामह ने जिस प्रकार दृढ़ स्वर में उनके प्रति दोष की संभावना का निराकरण किया, वैसा मेघदूत के उपयुक्त संदर्भ में उन्होंने नहीं किया 'तथा भवतु' कहकर उसके विस्तार से निवृत्त होना चाहा। मेघदूत के प्रति भामह की विरक्ति अथवा उपेक्षाभाव इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि उन्होंने ऐसी कोई भी काव्यकोटि निर्धारित नहीं की जिसके भीतर मेघदूत को रखा जा सके। काव्य के पांच प्रकार जो उन्होंने बताए उनमें से मेघदूत के लिए एक भी नहीं है। भामह द्वारा निरूपित काव्यभेदों में महाकाव्य, कथा, आख्यायिका और दृश्यकाव्य के बाद अंतिम पांचवां भेद अनिबद्ध काव्य है। मेघदूत को प्रथम चार प्रकार की काव्यकोटियों में तो हम रख ही नहीं सकते, वह अनिबद्ध नामक काव्यकोटि में भी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वह निबद्ध श्रेणी का काव्य है, फुटकर पद्यों अथवा मुक्तकों का संकलन मात्र नहीं।

भामह के पश्चात् दण्डी तथा वामन ने भी मेघदूत का कोई उल्लेख नहीं किया, पर मुक्तक श्रेणी के काव्यों को दोनों ने क्षुद्र तथा महत्त्वहीन अवश्य समझा जिसका संदर्भ ऊपर दिया चुका है।

दण्डी तथा वामन के पश्चात्, रुद्रट के समय तक मेघदूत रसिकों के बीच इतना समादृत तथा लोकप्रिय हो चुका था कि किसी भी आचार्य के लिए काव्य विधाओं पर विचार करते समय उसके अस्तित्व को नकारना संभव नहीं था। इसीलिए रुद्रट ने मेघदूत को ही विशेषतः दृष्टि में रखकर लघुकाव्य की एक काव्यकोटि निर्धारित की :

ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वगात्।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः ॥

(काव्यालंकार, 16/6)

रुद्रट के प्रथम टीकाकार नमिसाधु ने इस लक्षण की व्याख्या करते हुए मेघदूत को ही उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है।[8] रुद्रट ने आगे चलकर अपने लक्षण को

और भी स्पष्ट करते हुए लघुकाव्य का जो स्वरूप निर्धारित किया है, उससे स्पष्ट लगता है कि लघुकाव्य, जिसका दूसरा नाम उन्होंने क्षुद्रकाव्य भी रखा, पर विचार करते समय निश्चय ही मेघदूत उनके मस्तिष्क में था :

कुर्यात् क्षुद्रे काव्ये खण्डकथायां च नायकं सुखिनम् ।
आपद्गतं च भूयो द्विजसेवकसार्थवाहादिकम् ॥
अत्र रसं करुणं वा कुर्यादथवा प्रवासशृंगारम् ।
प्रथमानुरागमथवा पुनरन्ते नायकाभ्युदयम् ॥

(काव्यालंकार, 16/33-34)

क्षुद्र या लघु काव्य में द्विज, सेवक (मेघदूत का यक्ष), सार्थवाह आदि को नायक बनाना चाहिए। प्रारंभ में वह नायक सुखी हो (जैसा कि मेघदूत का यक्ष था), आगे चलकर उसे विपत्तिग्रस्त चित्रित करना चाहिए। इसमें करुण अथवा प्रवासशृंगार रस प्रधान रहता है। अंत में नायक का अभ्युदय दिखाना चाहिए :

प्रवासशृंगार के द्वारा यहां मेघदूत की ओर इंगित स्पष्ट है। इस प्रकार रुद्रट ने लघुकाव्य का अपना लक्षण बनाया तो मेघदूत को सामने रखकर ही, किंतु मेघदूत की मनोभूमि को बिना समझे। एक तो इस कोटि के काव्य के लिए लघु अथवा क्षुद्र जैसी संज्ञाओं के प्रयोग से उसके प्रति उनकी अरुचि झलकती है, दूसरे खंडकथा से उसकी पूर्णतः समानता मानने से यह प्रकट है कि रुद्रट कथानक, स्थूल घटनाओं को उपस्थिति तथा अन्विति को लघुकाव्य के लिए अनिवार्य समझ रहे हैं। साथ ही उनकी दृष्टि से अंत में नायक का अभ्युदय प्रदर्शित करके उन स्थूल घटनाओं की सुखद परिणति भी लघुकाव्य में दिखाई जानी चाहिए। इस स्तर पर मेघदूत के विषय में ये दोनों बातें लागू नहीं होतीं। उसमें स्थूल घटनाएं नहीं हैं, उन घटनाओं के पीछे रहने वाली सूक्ष्म मनोवृत्तियों की गहन अभिव्यंजना है, घटनाओं की सांकेतिक व्याख्या है। नायक का अभ्युदय होता है या नहीं—यह कवि न दिखाता है न दिखाना उसे इष्ट ही है। इस प्रकार मेघदूत को दृष्टि में रखकर निर्मित होती हुई भी, रुद्रट की लघु अथवा क्षुद्रकाव्य की यह परिभाषा मेघदूत पर पूर्णतः लागू नहीं होती, वह अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। संभव है कि मेघदूत के अंतिम पांच प्रक्षिप्त पद्य, जिनमें यक्ष के शाप का अवसान तथा यक्षिणी से उसका पुनर्मिलन वर्णित है, रुद्रट के समय तक जोड़े जा चुके हों और रुद्रट ने प्रक्षिप्तांशयुक्त मेघदूत के आधार पर उपर्युक्त लक्षण बनाया हो। पर इसमें यह निर्विवाद है कि जिस प्रकार उन पांच प्रक्षिप्त श्लोकों को कालिदास के नाम पर मेघदूत में जोड़ने वाला कवि मेघदूत के स्वारस्य को समझने

में चूक गया था, वैसे ही रुद्रट भी। एक तो रुद्रट का लघुकाव्य का लक्षण मेघदूत पर खरा उतरता ही नहीं है, दूसरे, लक्षण बनाते समय रुद्रट भी दण्डी और वामन द्वारा प्रचारित इस मंतव्य से आक्रांत लगते हैं कि मुक्तक, लघुकाव्य आदि महाकाव्य के क्षुद्र टुकड़े मात्र हैं। ऐसी स्थिति में मेघदूत को लघुकाव्य कहना उसके साथ अन्याय करना है।

मेघूदत के स्वारस्य को समझ कर उसकी काव्यकोटि का निर्धारण न कर पाने की यह असमर्थता संस्कृत काव्यशास्त्र में शताब्दियों तक बनी रही। संभव है, 'शृंगारप्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' जैसे विशाल काव्यशास्त्रग्रंथों के रचयिता महाराज भोज ने काव्यशास्त्र की इस द्विविधा को समझा हो। उन्होंने अपने शृंगारप्रकाश में मेघदूत को मुक्तक, गाथा आदि की कोटियों में न रखकर संघात नामक काव्यभेद के अंतर्गत रखा। संघात का उल्लेख मुक्तक, कुलक, कोष—इन तीनों काव्यभेदों के साथ महाकाव्यों के क्षुद्र अंश के रूप में काव्यादर्शकार दण्डी बहुत पहले कर चुके थे। दण्डी ने संघात की कोई परिभाषा नहीं दी थी। बाद में तरुणवाचस्पति ने इसकी परिभाषा में कहा कि संघात एकार्थ (एक विषय) को लेकर लिखी रचना है, तथा इसका लेखक भी एक ही होता है। भोज ने संघात की बिल्कुल यही परिभाषा दी, तथा उदाहरण के रूप में मेघदूत को प्रस्तुत किया। काव्यादर्श के टीकाकार वादिजंघाल ने भी संघात का उदाहरण मेघदूत को बताया।[9]

उपर्युक्त विवरण के रूप में मेघदूत का सम्यक् मूल्यांकन कर पाने में काव्यशास्त्र के आचार्यों की विफलता तथा सीमा स्पष्ट हो जाती है। मेघदूत फुटकर पद्यों का संकलन नहीं है अतः उसे मुक्तक या गाथा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। रुद्रट द्वारा दी गई परिभाषा के अनुसार उसे लघुकाव्य अथवा क्षुद्रकाव्य की श्रेणी में रखना भी समीचीन नहीं है। इन दोनों बातों को भोज ने समझा तो सही, पर मेघदूत काव्य को समझने में उन्होंने भी भूल ही की। मेघदूत गाथासप्तशती की भांति अलग-अलग कवियों द्वारा रचित पद्यों का संग्रह नहीं है, वह एक लेखक द्वारा रचित है तथा उसमें विषय की अन्विति भी है। इस दृष्टि से भोज ने उसे संघात कहा। किंतु संघात का जो लक्षण तथा मेघदूत के अतिरिक्त दूसरा उदाहरण भोज ने दिया है, वह तो मेघदूत के संदर्भ में और भी लागू नहीं होता। संघात से आशय किसी एक पदार्थ या विषय का वर्णन अथवा निरूपण करने वाली कविता से है। तरुणवाचस्पति ने इसका एक उदाहरण शरत्संघात नामक काव्य बतलाया है जिसमें शरद् ऋतु का वही वर्णन होने के कारण उसे संघात कहना उचित है। यदि पूरे मेघदूत

में केवल बादल ही बादल का वर्णन होता तो उसे भी संघात कहा जा सकता था।

तब घूमफिरकर फिर वही प्रश्न आ उपस्थित होता है कि काव्य की कौन-सी विधा के अंतर्गत हम मेघदूत की गणना करेंगे। काव्यशास्त्रियों के सामने इस संदर्भ में दो विकल्प हो सकते थे : या तो केवल मेघदूत के मूल भाव को अच्छी तरह हृदयंगम करके उसके आधार पर वे काव्य की नई श्रेणी बनाकर उसमें मेघदूत को रखते, अथवा काव्य के जो स्वीकृत भेदोपभेद थे, उनके लक्षणों में इस प्रकार का परिष्कार करते कि उनमें से किसी के भीतर मेघदूत परिगणित हो जाता। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में दूसरे मार्ग का अवलंबन लिया। उन्होंने मुक्तक का क्षेत्र व्यापक बनाते हुए उसके पांच भेद किए : (1) शुद्ध, जिसमें बिना इतिवृत्त आदि का आश्रय लिए केवल भाव वर्णित होता है, (2) चित्र, जिसमें भाव के साथ कल्पना के वैचित्र्य का भी योग होता है, (3) कथोत्थ, जिसमें किसी अतीत की घटना का वर्णन रहता है, (4) संविधानकभू, जिसमें घटना की संभावना की जाती है, तथा (5) आख्यानवान, जिसमें किसी एक घटना का विस्तार दिखाया जाता है।

जब हम मेघदूत के संदर्भ में उपर्युक्त भेदों पर दृष्टिपात करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि इनमें से किसी भी श्रेणी में मेघदूत को पूर्णतः अंतर्भावित कर पाना संभव नहीं है। यों तो पांचों ही भेदों के लक्षण मेघदूत में खोजे जा सकते हैं। उसमें इतिवृत्त का आश्रय न लेकर भावों का ही निरूपण है अतः उसमें शुद्ध कोटि का मुक्तक भी कहा जा सकता है। भाव के साथ उसमें कल्पना के वैचित्र्य का भी योग है अतः वह चित्र कोटि का मुक्तक भी है। वह अतीत की घटना से प्रारंभ होता है, अतः वह कथोत्थ भी है। उस घटना की संभावना उसमें है अतः वह संविधानकभू भी है और यक्ष के संदेश देने की एक ही घटना का पूरे काव्य में विस्तार होने के कारण आख्यानवान भी।

मेघदूत की शक्ति इसी में है कि वह आकार में छोटा होता हुआ भी अर्थ के कई स्तरों को एक साथ व्यंजित करता है, और काव्यशास्त्र तथा समीक्षा के भेदोपभेदों, लक्षणों और सिद्धांतों के पैमाने उसके गांभीर्य की नापजोख कर पाने में सर्वथा विफल रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रतिभाशाली कवि की सामर्थ्य इसी में है कि उसकी रचना को परखने में हर प्रकार के नियम छोटे पड़ जाते हैं। आधुनिक आलोचकों ने पश्चिमी नजरिए से मेघदूत को पढ़कर उसे गीतिकाव्य तथा कवि की नितांत निजी भावनाओं का उद्गार आदि बताकर उसकी प्रशंसा की है। मेघदूत का यह मूल्यांकन भी भामह से लेकर राजशेखर तक के संस्कृत के पुराने आचार्यों की

भांति उसके बारे में गलत प्रतिमा खड़ी करता है। क्या सचमुच मेघदूत कवि की अपनी विरहवेदना और निजी अनुभूति की व्यंजना है, जैसीकि अंग्रेजी के रूमानी कवियों की कविताएं हैं? ऊपर कहा जा चुका है कि मेघदूत में कालिदास काव्य की अब तक अनछुई विधा की सर्जना कर रहे थे, जिसे विश्वसनीय तथा अनुभूतिगम्य बनाने के लिए उन्हें जगह-जगह अपनी ओर से स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने पड़े। स्पष्टीकरण देते समय कवि अपने द्वारा खड़े किए गए पात्र से सर्वथा तटस्थ हो जाता है। यदि मेघदूत की सूक्ष्मता से जांच की जाए तो कवि की यह तटस्थता इस काव्य की प्रत्येक पंक्ति में विद्यमान मिलेगी। फिर मेघदूत एक लिरिक, अथवा कवि की निजी भावनाओं का उच्छ्वासमात्र कहां रहा? संपूर्ण मेघदूत में दो भावधाराएं बहती हैं, एक यक्ष की, दूसरी कवि की। दोनों एक-दूसरे से मिलती भी हैं, पर अधिकांशतः कवि की दृष्टि यक्ष की दृष्टि को विस्तार और नए आयाम देती है। यक्ष विरही, कामातुर और बावला था, चेतन-अचेतन का भेद उसे बिसर गया था, महीनों से उसे किसी जीवित प्राणी का संपर्क नहीं मिला था, नारी की देह और गंध के लिए वह बेचैन था, और सब जगह वह अपनी अतृप्त इच्छा के प्रतिरूप देखने लगा था। कवि यक्ष की कल्पनाओं तथा अतृप्त इच्छाओं को संवार कर तथा संयत करके, उन्हें नए अर्थों से जोड़ते हुए व्यंजित करता है। वह उसे बरसात के बाद हल चलने से उठती मालवे के खेतों की सोंधी सुगंध में रमाता है, धरती से फूटते अंकुरों की ओर मोड़ता है, यक्ष जब बादल में सौभाग्यशाली प्रेमी और नदी में विरहपीड़ित नायिका को देखता है तो कवि अपने रूपक में उनके स्थूल और अचेतन रूप को बना रहने देता है। यक्ष नितांत दैहिक इच्छा से भरकर प्राकृतिक आकारों में स्त्री के अंग-प्रत्यंग देखने लगता है, वह पहाड़ में स्त्री के वक्ष का दर्शन करने लगता है, तब कवि उसकी इस स्थूल इच्छा को बहुत ऊपर ले जाकर अशरीरी कल्पना में बदल देता है, यक्ष द्वारा स्त्री के वक्ष के रूप में देखे गए पहाड़ को देवयुगलों द्वारा आकाश से दर्शनीय दृश्यखंड में रूपांतरित कर देता है :

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥ (मेघदूत, 18)

यदि कालिदास यक्ष के बहाने केवल विरहव्यथा का चित्रण करके रुक जाते, विरह में क्रमशः परिपक्व होते प्रेम की बात न कहते, समूचे भारत की मनोरम

दृश्यावली को कविदृष्टि से अपने छोटे से काव्य में समेट कर न रख देते तो मेघदूत मात्र गीतिकाव्य ही होता। मेघदूत वास्तव में गीतिकाव्य, लघुकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, संदेशकाव्य आदि होता हुआ भी इन सब काव्यभेदों का अतिक्रमण कर जाता है।

यहां मेघदूत को एक उदाहरण तथा उपलक्षण के रूप में ही लिया गया है। ऐसा हर अच्छी साहित्यिक कृति के साथ होता है कि केवल शास्त्र और सिद्धांत की भाषा समझने वाले आचार्य लंबे समय तक उसका आकलन नहीं कर पाए हैं। कालिदास, भवभूति, भास, विशाखदत्त जैसे सभी रचनाकारों की रचनाएं काव्यशास्त्र द्वारा रची गई परिधि से कहीं न कहीं परे उठकर रचनाकार की शक्ति को प्रमाणित करती हैं।

संदर्भ

1. वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में लोकवृत्त को ही इतिहास तथा पुराण की संज्ञा दी है : 'यज्ञो मंत्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः' (न्यायभाष्य, 4/1/61)

   इतिहास और पुराण की प्रतिष्ठा वेदों के समय से ही भारतीय समाज में रही है। छान्दोग्य उपनिषद् (7/2) में इन्हें पंचम वेद कहा गया है।

2. अधीत्य चतुरो वेदान् सांगानाख्यानपंचमान्। (छां. उप, 7/9/29)
   वेदानध्यापयामास सांगानाख्यानपंचमान्। (वही, 1/63/89)
   सांगोपनिषदान् वेदांश्च चतुराख्यानपंचमान्। (वही, 3/45/8)
   इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनान्।
   महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ (रामा. 1/5/3)
   सर्वमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ॥ (रामा. 6/131/119, 7/111/4)
   सांगोपनिषदान् वेदान् चतुराख्यानपंचमान्। (वनपर्व, 55/1)
   योऽधीते चतुरो वेदान् सर्वानाख्यानपंचमान्। (द्रोण०, 1/31)
   वेदानाख्यानपंचमान्। (कर्ण., 1/44)

   यास्क ने वेद के कुछ सूक्तों को भी इतिहास तथा आख्यान की संज्ञा दी है (निरुक्त 11/25), ब्राह्मणग्रंथों में भी वेद के कुछ अंशों जैसे शुनःशेप संबंधी प्रसंग को आख्यान की संज्ञा दी गई है, अश्वमेध और राजसूय यज्ञों के अवसर पर ये आख्यान आख्यानविद् लोगों के द्वारा जनता के सामने सुनाए जाते थे।

3. काव्य के उपरिलिखित जिन अंशों को आख्यान कहा गया, वे प्रायः पद्य में हैं। आख्यायिका गद्य में रचित होती है। इस आधार पर आख्यान और आख्यायिका का भेद भी बहुत पहले से स्वीकृत था, पाणिनि के वार्तिककार कात्यायन ने 4/2/60 के वार्तिक

में लिखा है : 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च।' यहां आख्यान और आख्यायिका का अलग-अलग उल्लेख है। पतंजलि ने इसी सूत्र के भाष्य में आख्यान का उदाहरण महाभारत के ययातिप्रसंग को माना है, तथा आख्यायिका के उदाहरणस्वरूप वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी, इन तीन आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है।

4. डा. वी. राघवनः भोज'ज़ शृंगारप्रकाश, पृ. 619
5. वही, पृ. 615 पर उद्धृत।
6. मेघदूत, 3
7. वही, 5
8. काव्यालंकार, नमिसाधुतटीकासहित, चौखंभा संस्करण, पृ. 416
9. भोज'ज़ शृंगारप्रकाश, पृ. 629

6

काव्यप्रयोजन

काव्य का प्रयोजन क्या है, यह प्रश्न काव्य की रचना हो चुकने के पश्चात् उपस्थित होता है। प्रयोजन को प्रत्यक्षतः सामने रखकर काव्य की सर्जना नहीं होती, क्योंकि काव्य मन के अज्ञात स्तरों से दुर्निवार वेग से फूटता है, रचा जा चुकने के पश्चात् जब वह सामने आ जाता है तभी कवि और भावक उसके प्रयोजन और विनियोग आदि के संबंध में विचार प्रारंभ करते हैं। वाल्मीकि के द्वारा **'मा निषाद'**, इत्यादि पद्य की रचना अनायास ही हो गई, उसके बाद उन्होंने सोचा : **'शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया?'** इस पक्षी के शोक से व्याकुल होकर मैंने यह क्या कह दिया? और भी विचार करने पर उन्हें लगा—शोकार्त चित्त से प्रवृत्त हुआ मेरा यह श्लोक अब अन्यथा नहीं होगा, यह सत्य और न्याय की रक्षा के लिए विनियुक्त होगा।

वेद के कवि ने भी अपने भीतर स्तोम का साक्षात्कार कर चुकने के बाद विचार किया होगा कि यह स्तोम अथवा मंत्र किसलिए है? विचार करके उसने यह अभिमत दिया : **'स्तोमो अग्नियो हृदिस्पृगस्पु शन्तमः'** (ऋग्वेद, 1/16/7)। मेरा यह स्तोम हृदय को स्पर्श करने वाला तथा शम को लाने वाला बनेगा। वेद में अनेक स्थानों पर काव्य को हृदय में प्रवेश करने वाला तथा शम अथवा शांति लाने वाला कहा गया। इसके साथ ही कवि को लगा कि उसकी यह रचना मांगलिक है, किसी न किसी प्रकार उसके तथा सबके कल्याण के लिए है। अतः काव्य शिव अथवा शुभ से समन्वित भी माना गया।[2] इसी आधार पर वेद के कवि ने कहा कि वाणी में भद्रा लक्ष्मी निहित है : **'अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीनिर्हिताधि वाचि।'** (ऋग्वेद, 10/71/1)

काव्य हृदय का स्पर्श करता है, इस तथ्य को समझाने के लिए सबसे सुंदर

उपमा पत्नी अथवा प्रेयसी के वचनों की ही हो सकती है। वेद की कविता में वाणी को अपने आपको खोलने की प्रक्रिया बताने के लिए तथा उसका प्रभाव निरूपित करने के लिए इस उपमा का जगह-जगह प्रयोग किया गया है। कवि के मन से निकली वाणी श्रोता के चित्त को उसी प्रकार छूती है जिस प्रकार पत्नी के मधुर वचन पति के चित्त को।[3]

इस प्रकार कविता के उषःकाल में उसके प्रमुख प्रयोजन चित्त में प्रवेश करके अपनी गुणवत्ता से उसका अनुरंजन करना, शम तथा सौख्य की स्थापना को प्रोत्साहित करना तथा सबके कल्याण के लिए प्रकल्पित होना, ये ही मान्य हो सकते थे। उस समय कवि को अपने आपको कवि के रूप में स्थापित करने की इतनी चिंता नहीं थी। आगे चलकर जब कवियों को राजाओं का आश्रय मिलने लगा, तथा दरबार में अपने आपको स्थापित करने के लिए कवि को प्रयत्न करना आवश्यक हो गया, तब इन प्रयोजनों में एक प्रयोजन और जुड़ा—कीर्ति। किस कवि की कीर्ति कितनी अधिक है, इस आधार पर ही उसे राजसभा में सम्मान दिया जाता होगा। इसीलिए महाकवि कालिदास को भी **'कवियशः प्रार्थी'** होना पड़ा था।[4] किंतु कालिदास ने निश्चय ही अपनी कविता मूलतः यश की कामना से नहीं लिखी थी। उसका प्रयोजन अपने भीतर के आह्लाद को दूसरों के भीतर जगाना ही था जिसकी ओर कवि ने अपने एक नाटक में **'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्'** कहकर संकेत किया है। काव्यप्रयोजन की दृष्टि से कालिदास से विपरीत छोर पर अश्वघोष हैं जिन्होंने अपनी काव्यरचना का प्रयोजन विस्तार से बताया है :

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥

प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षपरमिति ।
तद् बुद्ध्वा शमिकं यत् तदवहितमतो ग्राह्यं न ललितं
पांशुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ॥

(सौन्दरनंद : पुष्पिका)

अश्वघोष ने अपनी काव्यरचना को मोक्षार्थगर्भा तथा मोक्षपरा माना है। कालिदास की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन अपनी परिणति में केवल विशुद्ध आनंद ही हो सकता है। अश्वघोष आनंद तथा रस आदि को मात्र उपकरण या बहाना भर

मानते हैं, प्रयोजन नहीं। दोनों कवियों का पथ यहां आकर अलग-अलग हो जाता है। वेद के कवियों ने आनंद की प्राप्ति तथा शिव या मंगल के प्रसार या कांता अथवा पत्नी के समान हृदय का अनुरंजन करना, इन प्रयोजनों में विरोध नहीं देखा था क्योंकि उसकी दृष्टि में काव्य सर्वथा इहलौकिक वस्तु थी, मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त करने वाली संदेशावली नहीं। अश्वघोष के समय तक बौद्ध धर्म की निवृत्तिमूलक विचारधारा जड़ पकड़ चुकी थी। कालिदास वैदिक काव्यधारा की परंपरा में आते हैं, और अश्वघोष बौद्ध कवि हैं, दोनों की काव्यरचना के प्रयोजन भी इसीलिए उतने ही भिन्न-भिन्न हैं।

इस प्रकार कालिदास और अश्वघोष कविता के प्रयोजन की दृष्टि से दो अलग-अलग छोरों पर हैं। काव्यशास्त्र में प्रथम आलंकारिक भामह ने इन दोनों छोरों को मिलाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा विभिन्न कलाओं में वैचक्षण्य प्रदान करता है, तथा प्रीति और कीर्ति भी देता है।[5] भामह ने काव्यप्रयोजन को लेकर वेद के समय से अपने समय तक प्रचलित मंतव्यों को सूत्र रूप में प्रकट करने का प्रयास किया था। अश्वघोष ने अपने (ऊपर उद्धृत) पद्य में काव्य को ऐसे मधु के समान माना है, जिसमें मिलाकर मोक्षपरक उपदेश की कटु औषध पिलाई जा सके। भामह ने मोक्ष को काव्य-प्रयोजन के निरूपण में परिगणित तो किया ही, साथ ही अश्वघोष के इस मंतव्य को भी अपने ग्रंथ में एक स्थान पर कुछ हेर-फेर के साथ प्रकट किया :

स्वादुकाव्यसोन्मिश्रं शास्त्रमप्यपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥

(काव्यालंकार, 5/3)

किंतु भामह ने यहां अश्वघोष की दृष्टि से अपना अंतर भी सूचित कर दिया है। उनके अनुसार काव्य के माधुर्य से मिश्रित होकर शास्त्र भी रोचक बन जाता है, पर ऐसे शास्त्र को कविता कहना संभवतः भामह संगत नहीं मानते। इसीलिए उन्होंने अश्वघोष की मधुयुक्त कटु औषध की उपमा न देकर मधु और औषध—काव्य तथा शास्त्र दोनों को पृथक्-पृथक् रखा है।

भामह के द्वारा काव्य और शास्त्र का सूक्ष्म अंतर स्पष्ट कर देने के बाद भी काव्यशास्त्र के आचार्यों का एक वर्ग ऐसा अवश्य था जो काव्य को शास्त्र बनाने में ही उसके प्रयोजन की इतिश्री मानता था।[6] भामह की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में वैचक्षण्य की बात को अत्यधिक गंभीरता से लेकर पुरुषार्थचतुष्टय का बोध कराना

काव्य का परम प्रयोजन मान लिया गया। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में इसी दृष्टि को उपस्थित किया है :

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥

(काव्या., 12/1)

काव्य को शास्त्र की सरस व्याख्या करने वाला अतएव उसका अनुगामी और उसके प्रति गौण बना देने वाले इस मत का विरोध करते हुए दशरूपककार ने कहा : आनंद की धारा बहाने वाली रूपक आदि रचनाओं में जो अल्पबुद्धि व्युत्पत्ति मात्र को ही फल बतलाता है, उस स्वादपराङ्मुख को (दूर से ही) नमस्कार है :

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय॥

(धनंजय : दशरूपक, 1/6)

इन आचार्यों ने काव्यप्रयोजनों को अत्यंत व्यापक पर सामान्य रूप देकर प्रस्तुत किया है। किसी काव्यविशेष के संदर्भ में ये प्रयोजन कितनी दूर तक लागू होते हैं, इसकी पूरी तरह परीक्षा नहीं हो सकी। मम्मट ने काव्य के जो छः प्रयोजन बताए थे, उनमें से हेमचन्द्र ने अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान तथा अमंगलनिवारण को इस आधार पर अस्वीकृत किया है कि एक तो काव्य से अनिवार्यतया इनकी पूर्ति होती ही हो, यह आवश्यक नहीं है, दूसरे, इनकी पूर्ति अन्य उपायों से भी संभव है ही। यद्यपि मम्मट ने यह स्पष्ट किया कि सद्यःपरनिर्वृत्ति को छोड़कर उनके बताए शेष सभी काव्यप्रयोजन आनुषंगिक हैं, पर जिस प्रकार हेमचन्द्र ने उनमें से तीन के विषय में अपनी विप्रतिपत्ति प्रकट की, उसी प्रकार अन्य दो प्रयोजनों के लिए भी कहा जा सकता है कि काव्यप्रयोजनों में इन्हें गिनना कहां तक संगत है। वस्तुतः काव्यप्रयोजन का प्रश्न काव्य की मूल प्रेरणा से जुड़ा हुआ है। काव्य की मूल प्रेरणा सिसृक्षा है जिसे वैदिक कवि ने वाक् कहा था। यश तथा संपत्ति की इच्छा उसे उत्तेजना दे सकती है, पर यश या संपत्ति अपने आपमें काव्य की प्रेरणा तथा इसके लिए प्रयोजन नहीं बन सकती। केवल अर्थ या यश अथवा उपदेश देने या व्यवहार ज्ञान कराने के लिए—एकांतिक रूप से इनको अथवा इनमें से किसी एक को अपने चित्त में प्रयोजन के रूप में रखकर रचा गया काव्य काव्य नहीं हो सकता, यदि वह अपना आनंद अथवा अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुंचाने की इच्छा से प्रेरित होकर नहीं रचा गया हो, और इन प्रयोजनों की सिद्धि उससे न होती हो। इस अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर हम कह सकते हैं कि पर्यंत में काव्य का एक ही प्रयोजन है—काव्य का

अपना राग, आनंद या अनुभूति दूसरों तक पहुंचाना। अनुभूति को व्यक्त करने की इच्छा या सिसृक्षा—काव्य की प्रेरणा है, और उसकी चर्वणा काव्य का प्रयोजन। इस प्रकार प्रेरणा और प्रयोजन में साधक-साध्य का संबंध भी स्थापित होता है। यह सत्य है कि केवल अर्थ की कामना से संस्कृत के अनेक कवियों ने तात्कालिक रूप से पद्यों का निर्माण किया है, कवि के रूप में यश भी पाया है। अन्य देशों में भी ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं। डॉ. जॉनसन ने अपना एक पूर्ण उपन्यास अर्थलाभ के लिए रात भर में लिख डाला था। पर इन सभी उदाहरणों में अर्थ और यश की इच्छा किसी रचना को जल्दी समाप्त करने में उत्प्रेरक हो सकती है, वह रचना की मूल प्रेरणा नहीं है, और इसलिए अर्थ और यश उसके प्रयोजन भी नहीं हो सकते।

इस दृष्टि से अश्वघोष और कालिदास के जो संदर्भ ऊपर दिए गए हैं, उन पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। अश्वघोष अपनी काव्यरचना को मूलतः मोक्ष का मार्ग बताने के प्रयोजन से की गई बताते हैं। किंतु उनकी रचनाओं में वे ही अंश काव्य हैं, जहां वे मोक्ष का मार्ग दिखाने का अपना उद्देश्य भूलकर नंद के राग और विराग के द्वंद्व का गहन अनुभूतिमय चित्रण करते हैं, जहां वे सिद्धार्थ की करुणा और छंदक की व्यथा में डूबते हैं। कालिदास के स्वयं कवियशः प्रार्थी होने का जो कथन पहले उद्धृत किया गया है, उसका स्वारस्य भी कुछ दूसरा है। अपनी सबसे प्रौढ़ काव्यरचना रघुवंश के आरंभ में कवि ने यह कहा है :

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥

यहां कवि ने मानो विनय दर्शाते हुए कहा है कि कवि के यश का प्रार्थी होकर मैं उपहास का पात्र ही बनूंगा, जैसे ऊपर लगे फल को उचक-उचक कर तोड़ना चाहने वाला बौना आदमी। पर इसका पूर्वापरप्रसंग, जिसकी ओर सर्जना प्रक्रिया संबंधी अध्याय में संकेत किया गया है, दृष्टि में रखने पर लगता है कि यहां मात्र विनय कवि ने प्रकट करना नहीं चाहा है, और न ही यश की कामना का उसका यहां अभिप्राय है। रघुवंश की रचना के लिए कवि के मन में विषय की अत्यंत विराट और गंभीर प्रतिमा थी, और उसे चिंता थी कि उसकी संपूर्णता में वह उसका आकलन कैसे कर सकेगा। भीतर की अनुभूति को पूरी तरह शब्दबद्ध करने में समर्थ होने के लिए वह चाहता था कि वह इस रचना के समय कवि के यश की कामना छोड़ दे, क्योंकि तात्कालिक प्रसिद्धि के लिए रचना तथा भागदौड़ करने वाले कवि को भी पंडित और आलोचक बौना बनाकर उसका उपहास करते थे। अतः कवि यहां

अपने बौनेपन को जाहिर करता हुआ विनय प्रकट नहीं करता, वह आदमी को बौना बना देने वाले पंडितजनों पर कटाक्ष करता है और चाहता है कि वह अपनी मंदता छोड़कर अपनी दृष्टि, अनुभूति और विषय में डूबकर ही रचना करे, पंडितजनों द्वारा निर्मित काव्य के रूप ढांचे और पैमाने के द्वारा दबकर नहीं।

आचार्यों के द्वारा काव्य जैसी सूक्ष्म वस्तु के इस स्थूल स्तर पर प्रयोजन बताने की प्रवृत्ति से वितृष्ण होकर कुछ समीक्षकों ने यह भी कहा कि कविता का कोई प्रयोजन नहीं होता। यूरोप में जहां होरेस जैसे पुराने रीतिवादियों ने 'शिक्षा प्रदान करना, आनंदित करना—एक साथ लाभदायक तथा मनोरंजक होना—(टु टीच, टु प्लीज, दीज आर दि पोएट्स एम्स, आर ऐट वंस टु प्राफिट ऐंड टु एम्यूज)'—ये काव्य के प्रयोजन बताए, वहीं वाल्टर पेटर आदि ने 'कला कला के लिए' कहकर कविता या कला के इस प्रकार प्रयोजन परिगणित करने का विरोध किया। संस्कृत काव्यशास्त्र के भी एक आधुनिक आचार्य ने कहा :

प्रयोजनं कवेः काव्ये नापि किंचन दृश्यते।
चुंकृतौ कलविंकस्य यथा प्राभातिके क्षणे॥

(डा. रेवाप्रसाद द्विवेदी : काव्यालंकारकारिका, 11, पृ. 25)

काव्यरचना में कवि का कोई प्रयोजन नहीं भी हो सकता है, जिस प्रकार प्रभात की वेला में चिड़िया निष्प्रयोजन ही चहचहाती है।

एक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कविता के मूल में तथा उसकी परिणति में उसका कोई प्रयोजन नहीं होता, उससे जो प्रयोजन—अर्थप्राप्ति, यश आदि—सिद्ध हो सकते हैं, मूलतः वह उनके लिए है नहीं। अतः इन्हें उसके प्रयोजनों में नहीं गिना जाना चाहिए। किंतु दूसरी दृष्टि यह भी हो सकती है कि प्रयोजन के बिना तो संसार का कोई काम होता ही नहीं, और कविता इस लोक की ही वस्तु है, अलौकिक नहीं तो उसका प्रयोजन होना ही चाहिए। प्रभात के समय चिड़िया के निष्प्रयोजन कूज उठने के पीछे भी वस्तुतः तो प्रयोजन है ही—अपने आनंद और परितोष की अभिव्यक्ति। वस्तुतः कविता को प्रयोजनरहित कहना संगत नहीं, उसे प्रयोजन होते हुए भी प्रयोजनातीत कहा जा सकता है। कथित प्रयोजनों की सिद्धि के बाद भी वह उनसे ऊपर बनी रहती है।

कविता के संबंध में मैथ्यू अर्नाल्ड आदि पाश्चात्त्य कवि समीक्षकों की एक अवधारणा यह है कि वह जीवन की व्याख्या है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जीवन और जगत् की व्याख्या, मनुष्य के एक-दूसरे से बनने वाले संबंधों की

पुनर्व्याख्या तथा उसमें संवेदना तथा समझ उत्पन्न करना—ये कविता के प्रयोजन हैं। ऊपर जो प्रयोजनातीत होने की बात कही गई है, उससे इस विचार का विरोध नहीं है, कविता से इस प्रकार के प्रयोजन सिद्ध होते ही हैं, किंतु इस प्रकार का कोई भी प्रयोजन कविता के लिए आत्यंतिक तथा अनिवार्य नहीं बन सकता।

अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने जिस भाषा में काव्यप्रयोजनों का निरूपण किया है, वह काव्य के अभिप्रायों को समझकर रची गई भाषा नहीं, अपितु माहात्म्यगायन की भाषा है। भामह से लेकर मम्मट तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने जिस प्रकार काव्यप्रयोजन बताए हैं, उनकी तुलना रामायण, महाभारत तथा संस्कृत के बहुसंख्यक स्तोत्र काव्यों, पुराणों आदि के अंत में जोड़े गए माहात्म्यों से करें तो दोनों में अत्यधिक समानता मिलती है। उदाहरण के लिए रामायण के अंत में विद्यमान ये अंश,

इदमाख्यानमायुष्यं सौभाग्यं पापनाशनम्।
रामायणं वेदसमं शास्त्रेषु श्रावयेद् बुधः॥

(7/111/4)

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो लभते धनम्।

(8/111/5)

एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः।
सपुत्रपौत्रो लोकेस्मिन् प्रेत्य चेह महीयते॥

(7/111/10)

श्रवणेन सुराः सर्वे प्रीयन्ते सम्प्रश्रण्वताम्।
विनायकाश्च शाम्यन्ति गृहे तिष्ठति यस्य वै॥

(6/128/113)

कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम्॥

(वही, 121)

आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिराख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः॥

(वही, 122)

यहां रामायण के पठन से कीर्ति, प्रीति, अमंगल का नाश, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, उपदेश आदि आचार्यों द्वारा निरूपित सभी काव्य के प्रयोजनों की सिद्धि

बताई गई है। इसी प्रकार महाभारत के अंत में-

य इदं शृणुयाद् विद्वान् पर्वसु द्विजसत्तमः।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्मभूयाय गच्छति ॥
कार्ष्णवेदमिमं सर्वं शृणुयाद्यस्समाहितः।
ब्रह्महत्याकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
इह कीर्तिं महत् प्राप्य भोगवान् सुखमश्नुते।
व्यासप्रसादेन पुनः स्वर्गलोकं स गच्छति ॥

(स्वर्गारोहण, 5/39, 40, 52)

तीनों श्लोकों में कुल मिलाकर चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की सिद्धि महाभारत के पाठ से संभव बताई गई है। जिस पुरुषार्थ चतुष्टय की काव्य से सिद्धि की बात को भामह, रुद्रट, विश्वनाथ आदि ने बल देकर कहा है, उसकी प्रेरणा उन्हें निश्चय ही इस प्रकार के माहात्म्यपाठों से मिली होगी। पर यह विचारणीय है कि रामायण और महाभारत के उपर्युक्त अंशों में, जिन्हें संभवतः दोनों काव्यों के मूल रचनाकारों ने नहीं लिखा है, जो प्रयोजन बताए गए हैं, क्या वास्तव में उसी रूप में उनकी सिद्धि कराने का आशय वाल्मीकि अथवा व्यास जैसे महनीय कवि का रहा होगा? काव्य की सर्जना प्रक्रिया जिस प्रकार अव्याख्येय और जटिल वस्तु है, उसी प्रकार जिन प्रयोजनों से उसकी सृष्टि होती है, वे भी इस प्रकार के अतिसरलीकरण से व्याख्यागम्य नहीं हो सकते। यदि रामायण और महाभारत के ही विशेष संदर्भ में हम काव्यशास्त्रियों द्वारा महात्म्यकथन की भाषा में निरूपित इन प्रयोजनों की परीक्षा करें तो पहले यह देखना होगा कि दोनों काव्यों की मूल प्रतिज्ञा क्या है। दोनों काव्यों का प्रारंभ प्रश्न से होता है। वाल्मीकि के मन में शंका और प्रश्न है,

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।

(बाल., 1/2)

महाभारत के उपक्रम में भी शौनक सूत से पूछते हैं :

कुत आगम्यते सौम्य क्व चायं विहृतस्त्वया।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत् पृच्छतो मम ॥

(आदि, 1/7)

रामायण और महाभारत की रचना इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में ही हुई है। दोनों काव्य अनुभवों के अथाह सागर का मंथन करके उनकी व्याख्या करते हैं, जीवन की सार्थकता की खोज करते हैं। कहा जा सकता है कि जीवन की सार्थकता की यह

खोज और अनुभवों की व्याख्या अंततः पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि की ओर ले जाती है, अतः काव्य का प्रयोजन पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि को मानना संगत है। वस्तुतः काव्य का प्रयोजन पुरुषार्थचतुष्टय अपने आपमें सर्वथा सटीक है, उससे विप्रतिपत्ति हो भी नहीं सकती। विप्रतिपत्ति जिस संदर्भ में तथा माहात्म्यगायन के जिस उथले भाव से पुरुषार्थचतुष्टय की बात काव्यप्रयोजन के प्रसंग में कही जाती है, उससे होनी चाहिए। मम्मट ने शब्दप्रधान वेद आदि से तथा सुहृत्सम्मित अर्थप्रधान पुराणादि से कांतासम्मित व्यंग्यप्रधान काव्य को पृथक् तो बताया, पर काव्यप्रयोजनों के **'कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्...आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्'** आदि उदाहरण दिए, उससे काव्य की जीवन में परिव्याप्ति का बोध नहीं होता, काव्य अर्थप्राप्ति का या अनर्थनिवारण का सामान्य साधन बन कर रह जाता है, या शास्त्र का अंग मात्र। हेमचंद्र ने मम्मट का विरोध इसी आधार पर किया था।

कवि अपनी दृष्टि से दूसरों को देखने की शक्ति देता है, उनका अनुभव संसार को व्यापक बनाता है, संवेदन और अनुभूति को समृद्ध करता है—इस आधार पर काव्य से पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि बताई जाए तो यह उचित ही है, क्योंकि पुरुषार्थचतुष्टय की अवधारणा भी उतनी ही बड़ी और व्यापक है, जितना काव्य का संसार। पर अधिकांश आचार्यों ने बहुत छोटे और मामूली आधारों पर पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि की बात कही है। अभिनवगुप्त ने इस सीमा को समझते हुए ही यह जतलाना चाहा था कि काव्य से होने वाली चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति भी अंततः उसी विशुद्ध आनंद में परिणत होती है जो काव्य का मूल प्रयोजन है (**चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्य फलम्।**) फिर भी काव्यशास्त्रियों का एक वर्ग, जो काव्य को नितांत सामान्य कोटि की और शास्त्र से हीन वस्तु बनाने में रुचि रखता था, बहुत छोटे और भौतिक आधारों पर काव्य से पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति की बात करता रहा। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इस विषय पर बहस उठाते हुए कहा कि 'मंद बुद्धि लोगों को भी काव्य से आसानी से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, अतः हम इस काव्य का विवेचन कर रहे हैं। चतुर्वर्ग की यह प्राप्ति काव्य द्वारा 'राम के जैसा आचरण करो, रावण के जैसा नहीं' इस प्रकार के प्रवृत्ति-निवृत्ति के उपदेश के द्वारा सुप्रतीत ही है।...और अर्थ की प्राप्ति तो काव्य से प्रत्यक्षसिद्ध ही है, तथा अर्थ मिल जाए तो काम की प्राप्ति भी हो ही जाती है'।[7] स्पष्ट ही, काव्य के इस आधार पर पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि कराने वालों की या तो दृष्टि ही संकीर्ण है, अथवा यह काव्य को जानबूझकर क्षुद्र बताने का प्रयास है।

जिस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने काव्य से पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि दिखलाई है, उससे लगता है कि वे जीवन में उसकी व्याप्ति नहीं देख रहे हैं, किसी कवि का कोई श्लोक सुनाकर कुछ रुपया बटोर लेना ही उनकी दृष्टि में पुरुषार्थसिद्धि और काव्य के प्रयोजन हैं। जब आचार्य इतने क्षुद्र स्तर पर कविता से कुछ प्रयोजनों की सिद्धि बतलाता है तो कविता और रचनाकार, दोनों का एक साथ अवमूल्यन होता है। उनके निरूपण से ऐसा लगता है जैसे वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों का भी कविता लिखने के पीछे नाम कमाना या रूपया बटोरना ही लक्ष्य था। एक बाद के आचार्य अच्युतराय ने अपने साहित्यसार में लिखा है :

वाल्मीक्यादेरभूत्कीर्त्यै धावकादेः श्रियेऽपि च।
कामाप्त्यै जयदेवादेर्मुद्गलादेस्तु मुक्तये॥

(साहित्यसार, 1/8)

'वाल्मीकि की कविता कीर्ति के लिए, धावक आदि की धन संपत्ति के लिए, जयदेव की कामप्राप्ति की लिए तथा मुद्गल आदि की मुक्ति के लिए परिकल्पित हुई।' यहां स्पष्ट ही वाल्मीकि और धावक के बीच जैसे कोई अंतर ही नहीं रह जाता। आचार्यों ने काव्य को कवि के लिए व्यवसाय का एक जरिया बना दिया है। कविता के व्यवसाय का साधन होने में भी कोई बुराई नहीं है, यदि कवि अपनी रचना के प्रति हर स्तर पर ईमानदार हो। पर आचार्य रचना की इस मौलिक शर्त को भुलाकर काव्यप्रयोजन का निरूपण करता है तब तो वाल्मीकि और कालिदास जैसे अंतर्दृष्टिसंपन्न कवि तथा केवल कविता को चाटुकारी के लिए रचने वाले मामूली तुकबाज में अंतर ही नहीं रह जाता। कविता को केवल व्यवसाय बनाने में ऐसे आचार्यों का हाथ रहा है जिन्होंने कवि के आगे ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किए जिनमें कवि के आगे रचना को बेच देना ही एकमात्र प्रयोजन था। अच्युतराय ने अपने प्रयोजननिरूपण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि धावक नामक कवि ने कविता लिखने के लिए चिंतामणि विद्या सीखी और श्रीहर्ष के लिए नैषधचरित लिखकर रुपया कमाया (वही)। यद्यपि अच्युत का यह कथन सर्वथा इतिहासविरुद्ध है, पर उससे आचार्य की मनोवृत्ति तो झलकती ही है। कविता यदि मात्र व्यवसाय का जरिया है तो आचार्य का काम है कि वह इस व्यवसाय को पनपाने में कवि का मार्गदर्शक बने। ऐसा आचार्य कवि को कविता लिखना सिखाने का ही नहीं, उसे काव्यरचना में समर्थ बनाने के लिए चिंतामणि विद्या जैसे तांत्रिक साधन बताने का भी अपना दायित्व समझता है। क्षेमेन्द्र जैसे आचार्यों की दृष्टि में भी चूंकि सभी कवि आचार्य द्वारा बताए तरीके अपना कर ही कविता की रचना में सफल होते हैं इसलिए ऐसा कोई कवि नहीं है, जो चोर न हो :

नास्त्यचोरः कविजनो नास्त्यचोरो वणिग्जनः ।

(क्षेमेन्द्र : कविकण्ठाभरण, पृ. 18)

इस प्रकार कवि एक ओर तो वणिक् के स्तर पर आ जाता है, दूसरी ओर काव्य के सारे सामग्री विधान के लिए उसे आचार्य पर निर्भर होना भी आवश्यक है, क्योंकि आचार्य की तो अपने ग्रंथ में मूल प्रतिज्ञा ही यह है कि वे उसकी रचना अकवि को कवि बनाने और कवि बन जाने पर उसे आगे की शिक्षा देने के लिए ही कर रहे हैं :

तत्राकवेः कवित्वप्राप्तिः शिक्षा प्राप्तगिरः कवेः ।
चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ गुणदोषोद्गतिस्ततः ॥

(कविकण्ठाभरण, 1/3)

काव्यप्रयोजन के विषय में ऐसे आचार्यों से अलग तथा सुलझी हुई दृष्टि आचार्य कुंतक की है। उन्होंने पुरुषार्थचतुष्टय को संसार की अन्य मामूली चीजों की तरह काव्य का लक्ष्य बनाने की प्रवृत्ति का विरोध भी किया है। उनके अनुसार अच्छी कविता चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति से होने वाले सुख का भी अतिक्रमण कर जाती है, उसका आनंद इनसे कहीं बढ़कर है :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

(कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/5)

काव्य के आनंद को पुरुषार्थचतुष्टय से बढ़कर बताना उसका माहात्म्य दिखाने के लिए प्रयोजित अतिशयोक्ति नहीं है। काव्य का आनंद इन सब वस्तुओं से इसलिए बढ़कर है कि मनुष्य की चेतना का भीतर ही भीतर संस्कार करता चलता है, वह क्षणभंगुर न होकर अंतस्तल पर दूरगामी प्रभाव छोड़ता है, जो अदृश्य भले ही हों, पर स्थाई और शुभ होते हैं। कविता को चतुर्वर्ग की प्राप्ति से बढ़कर बताना इसलिए उचित है कि चतुर्वर्ग जैसे बंधे बंधाए जीवन के प्रतिमानों की रूढ़ि और संकीर्णता को कविता ही अपनी ज़ीवंतता से तोड़ती है।

कविता का विषय जीवन है। इसलिए वह उस धर्म, काम या मोक्ष का निषेध करती है, जो जीवन से जुड़ा न हो। भारवि ने अपने महाकाव्य के नायक से इसी आशय के साथ मुक्ति को स्वीकृत कराया–

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचंचलम् ।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ॥

(किरात0, 11/66)

भारवि के काव्य का स्वर यही है। वह सुख (काम), अर्थ और मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहता, वह कविता के लिए सम्मान का स्थान चाहता है, वह चाहता है कि लोक बुझी राख की ढेरी के समान मृतप्राय और रौंदे जाने वाले बनकर न रहें, वह उन्हें प्रज्ज्वलित अग्नि की तरह निरंतर ऊर्ध्वमुख होकर जलते देखना चाहता है :

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मसां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥

(किरात0, 1/20)

जीवन में जो कुछ भी शिव, काम्य, वरेण्य और उदात्त है, उस सबकी प्राप्ति के लिए इस आग को कवि मनुष्य के मन में जलाए रखना चाहता है। भारवि ने जीवन के इस साध्य को श्री का नाम दिया है। श्री की साधना के लिए ही काव्य भी प्रवृत्त होता है। जीवन के सारे विराट् और महनीय उद्देश्यों का संपुंजित रूप श्री है जिसे जीवन की संपूर्णता में ही समझा जा सकता है, धावक का श्रीहर्ष को अपने काव्य से (या काव्य से अधिक अपनी चतुराई से) खुश करके उनसे धनसंपत्ति पा लेना या मयूर का स्तोत्र सुनाकर अपना अमंगल दूर कर लेना, इस तरह के छोटे-छोटे उदाहरणों से नहीं। चतुर्वर्ग या त्रिवर्ग की कल्पना को इस तरह के बहुत छोटे-छोटे खांचों में बांटकर देखने का कालिदास ने भी अपने समग्र काव्य में विरोध किया था। यदि समग्र जीवन अपने गंतव्य तक पहुंचने की साधना से परिचालित हो तो अर्थ और काम भी धर्म ही बन जाया करते हैं : **'अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः'** (रघुवंश, 1/25)। काव्य इनकी एकरूपता की संपुंजित साधना में प्रवृत्त होता है। आनन्दवर्धन तथा अभिनव जैसे दो एक पारखी आलोचकों को छोड़कर संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने वाल्मीकि से लेकर भारवि तक के कवियों के काव्य का स्वारस्य नहीं समझा था, अन्यथा वे काव्य के क्षुद्र लक्ष्यों की चर्चा न करके जीवन को परिपूर्ण बनाने की दृष्टि, संकल्प और साधना की बात कहते जिसके लिए काव्य अग्रसर होता है, तथा जिसका अत्यंत विराट फलक पर वाल्मीकि ने अन्वेषण किया था और जिसकी जीवन में परिव्याप्ति का निदर्शन कालिदास, भारवि आदि कर चुके थे।

संदर्भ

1. वोचेम शन्तमं हृदे। (ऋ., 1/43/1), हृद्भिर्मन्द्रेभिरीमहे। (ऋ., 8/43/31)
2. शम्भुवं मंत्रम्। (ऋ., 1/40/6)
3. पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसान्मनीषा। (ऋ., 1/62/11) जायेव पत्यावधि

शेव मंहसे...शृणुहि ब्रवीमि ते। (ऋ., 9/82/4)

4. रघुवंश, 1/5
5. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
   करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ (काव्यालंकार, 1/2)
6. प्रतापरुद्रीय में काव्यप्रयोजन के विषय में उद्धृत यह पद्य द्रष्टव्य है :
   परिवड्ढइ विण्णणं संभाविज्जइ जसो विडप्पंदि गुणा।
   सुव्वइ सुपुरुसचरिअं किं तज्जेन ण हरंति कव्वालावा ॥
   (प्रतापरुद्रीय, बालमनोरमा सं., पृ. 5)
7. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
   काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥ (1/2)
   चतुर्वर्ग फलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत् इत्यादि–कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्युपदेशद्वारेणैव सुप्रतीतैव। उक्तं च–धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम् ॥...
   अर्थ-प्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। (साहित्यदर्पण, चौखंभा, पृ. 3)

7
कविसमय

भारतीय परंपरा में समय की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक रही है। समय से तात्पर्य उन मानदंडों से है जिनसे जीवन का कोई क्षेत्र व्यवस्थित, मर्यादित अथवा सुनियोजित होता है (समय = शपथ, आचार, सिद्धांत, अंगीकार—अमरकोश)। समय अत्यंत ही सापेक्ष वस्तु है, वह काल, परिस्थिति, देश आदि आदि के अनुसार निर्धारित होता है, साथ ही समय वह वस्तु है जहां से सिद्धांत और आचार प्रस्फुटित होकर रूढ़ होते हैं, उनका रूढ़ रूप समय नहीं है। अतः समय को स्वीकार करने का अर्थ थ्रा मनुष्य को जटिल से जटिल स्थिति में अपने विवेक का सहारा लेकर अपना कर्तव्य निर्धारित करने का अवसर देना। अतः किसी भी विषम स्थिति में बुद्धिमान् लोग बार-बार समय का स्मरण करते या कराते थे। वाल्मीकि रामायण के कुछ उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है :

समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्यवन्तो महाबलाः।

(5/3/45)

समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः।

(6/116/43)

समयश्च कृतः सीते वधार्थ वालिनो यथा।

(6/129/35)

कवि के लिए प्रारंभ से यह मान्यता बन चुकी थी कि वह इस जगत् के समानांतर एक नए संसार की रचना करता है (द्रष्टव्य प्रथम, द्वितीय अध्याय)। अतः यह मानना भी स्वाभाविक था कि कवि के संसार के समय या मानदंड हमारे संसार के समयों से भिन्न होंगे। अतः लौकिक समयों के समानांतर काव्य के क्षेत्र में

स्वभावतः जो कविसमय की धारणा बनी, उसका मूल अभिप्राय यही था कि कवि को अपना संसार उसके अपने मानदंडों, परंपराओं और प्रसंगों के अनुसार स्वेच्छा से रचने की स्वाधीनता दी जाए।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कालिदास ने कहा था कि कला के क्षेत्र में वस्तुओं को अन्यथा कर दिया जाता है।[1] भौतिक जगत् के व्यवहार तथा बंधन कला के जगत् पर सदैव लागू नहीं हो सकते। इसी आधार पर आगे चलकर अभिनवगुप्त ने कहा कि संसार में जिसे दोष कहा जाता है, वह काव्य में आकर दोष नहीं भी हो सकता है, जिसे गुण कहा जाता है, वह गुण नहीं भी हो सकता है। कवि अपनी प्रतिभा से चीजों के छिपे हुए सुंदर रूप को प्रकट कर देता है।[2] अतः काव्य के पास भावक को अपने सारे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर जाना चाहिए।

कवि के इस स्वातंत्र्य को स्वीकार करने पर ही कविसमय की धारणा आकार लेती है, जिसकी मूल भावना यही है कि कवि को हम उसी की दृष्टि, प्रतिभा और संदर्भों के बीच समझें, अपने सिद्धांत और आग्रहों का उस पर आरोप करते हुए नहीं। इसी चिंतन को ध्यान में रखकर कविसमय का सर्वप्रथम प्रामाणिक निरूपण करने वाले आचार्य राजशेखर ने कहा था कि सब प्रकार के सिद्धांतों और वस्तुसत्यों का विपर्यय देखा जाता है, इसलिए कविता के क्षेत्र में तो कविबद्ध—कवि ने जो कहा है उसको ही प्रमाण मानना चाहिए :

देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।
तन्न तथा बध्नीयात् कविबद्धमिह प्रमाणं नः ॥

(काव्यमीमांसा, अ. 18)

इसी प्रसंग में राजशेखर ने स्पष्टतः घोषित किया कि वस्तुओं की वृत्ति अनंत है, अतः कविसमय को ही काव्य में प्रमाण मानना आवश्यक है। राजशेखर के इन कथनों से लगता है कि कवि के रचनासंसार को कुछ लोग अपने सिद्धांतों और वादों के घेरे में बांध रखने का प्रयत्न कर रहे थे, उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया में कविसमय की अवधारणा खड़ी की गई। मम्मट तथा विश्वनाथ जैसे साहित्यशास्त्रियों को भी इसी कारण स्वीकार करना पड़ा कि लोकविरुद्ध अर्थ भी कविप्रसिद्धि के कारण दोषयुक्त नहीं रह जाता।[3]

कविसमय की अवधारणा का मूल सूत्र भर्तृहरि का यह कथन माना जा सकता है—'**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।**'—असत्य की पद्धति पर चलकर उससे सत्य का उद्घाटन करता है। काव्य का कथ्य अपाततः मिथ्या प्रतीत हो, पर अंततः वह बड़े सत्य को प्रकाशित करे, तो ऐसा कविसमय के कारण हो सकता है।

तथापि कविसमय को काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण प्रस्थान के रूप में गंभीरता के साथ कभी भी नहीं स्वीकारा गया। शास्त्र के सिद्धांत व्यवस्थित होने लगे, उससे बहुत पहले से ही कविसमय सहृदयों और काव्यपारखियों के बीच काव्य के प्रचलित मानदंड के रूप में जाना जाता था। महाभारत में काव्य की कसौटी बताते समय कविसमय का उल्लेख किया गया है।

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषै।
छन्दोवृतैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥

(आदि., 1/26)

द्वितीय शताब्दी में रचे गए सुप्रसिद्ध रुद्रदामन् के शिलालेख में भी **'स्फुटलघु-मधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य'** के द्वारा समय की महत्त्वपूर्ण काव्यप्रस्थान के रूप में स्वीकृति है।[4]

महाभारत तथा उक्त शिलालेख के उन उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस समय जबकि संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांत बन रहे थे, काव्य में रुचि रखनेवाले लोगों द्वारा कवि के ऐसे प्रयोगों को प्रशंसा के तौर पर कविसमय कहा जाता था जिनकी यथार्थता लोक-व्यवहार में भले ही विवादास्पद हो, पर काव्य के लोक में जो निर्विवाद रूप से चमत्कार और सौंदर्य बढ़ाते थे। चक्रवाकयुगल के सांझ होते ही बिछुड़ जाने की बात राम के वियोग के प्रसंग में वाल्मीकि ने (संभवतः सर्वप्रथम) कही थी।[5] रामायण के पाठकों को लगा होगा कि संसार के व्यवहार में चक्रवाकयुगल का नैश विरह भले ही मिथ्या हो, रामायण के उस प्रसंग में दांपत्य की विरहपीड़ा की तीव्रता बताने के लिए वह बहुत सही प्रतीक है। अतः वाल्मीकि का यह प्रयोग कविसमय कहा गया। कालिदास की अभिसारिकाएं सघन अंधकार में प्रियतम के निवास की ओर अग्रसर हैं। अंधकार इतना घना है कि मार्ग पहचानने में उन्हें कठिनाई हो रही है। उसका घनापन बताने के लिए कवि उसे सूचीभेद्य कहता है। हमारे भौतिक संसार में अंधकार कभी इतना घना नहीं होता कि उसमें सुई चुभाई जा सके, पर काव्य के संसार में उन अभिसारिकाओं के लिए तो वह सचमुच उतना सघन रहा होगा, अन्यथा कालिदास का यक्ष बादल से बिजली चमकाकर उसे चीर देने की प्रार्थना क्यों करता?[6]

आगे चलकर कालिदास की अभिसारिकाओं का वह सूचीभेद्य अंधकार एक मुहावरे के रूप में रूढ़ हो गया, तब उनकी जिस व्याकुलता को सूचित करने के लिए मूलतः कवि ने उसका प्रयोग किया था, वह उसके साथ नहीं रह गई। इसी प्रकार स्नेह की सांद्रता या तज्जन्य तृप्ति को बताने के लिए—'दृष्टि से स्नान कराना' तथा

प्रेम की प्रगाढ़ता बताने के लिए 'आंखों से किसी को पीना' इन दो मुहावरों का प्रयोग संभवतः वाल्मीकि ने सबसे पहले किया था। आगे चलकर ये संस्कृत काव्य में अत्यधिक प्रयुक्त हुए।

वाल्मीकि से ही दो उदाहरण और लेकर हम कविसमय का स्वरूप और क्षेत्र स्पष्ट करना चाहेंगे। लंकाकांड में जब राम समुद्र के दूसरे पार पहुंच चुके हैं, दिनभर के उद्यम के बाद सांझ आने पर वे कुछ आराम के क्षणों में अपने ठीक सामने ही लंका के दुर्ग को देखते हैं जिसमें कहीं सीता बंदी है। उस समय राम के वाक्यों में से एक यह है :

वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्र सस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥

(5/4/11)

'हे वायु, तुम उसी स्थान पर जाकर बहो, जहां सीता है, और उसे छूकर फिर मुझे छुओ। वैसा होने पर मेरे अंग में तुम्हारा स्पर्श चंद्रमा में दृष्टि मिल जाने जैसा होगा।' वियोगी राम के लिए सीता की झलक पाने का कोई माध्यम नहीं है, वे मात्र यही कामना कर सकते हैं कि हवा उसे छूकर बहती हुई आए और उन्हें भी छुए। सीता उनके लिए आकाश में स्थित चंद्रमा की तरह अलभ्य है, चंद्रमा को पाया नहीं जा सकता, उसकी मात्र झलक पाई जा सकती है, राम उसी तरह सीता की झलक हवा के द्वारा पाना चाहते हैं। प्रेमी हृदय की अत्यंत सुकुमार और करुण इच्छा की यह अभिव्यक्ति इस रूप में वाल्मीकि द्वारा पहली बार की गई जिसके अनुकरण पर कालिदास ने मेघदूत में एक पूरा मंद्राक्रांता छंद रचा,[7] और जो इस प्रकार प्रेमी द्वारा वियोग में प्रियजन से संबंधित किसी भी वस्तु को समागम सदृश मानकर अंगीकार करना, इस कविसमय के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार आगे चलकर राम कहते हैं :

केदारस्येव केदारः सोदकस्य निरूदकः।
उपस्नेहेन जीवामि जीवन्तीं यच्छ्रुणोमि ताम्॥

(5/5/11)

'यदि उसे जीवित सुन लूं, तो मैं जी उठूंगा, जैसे (सींची हुई) क्यारी से जुड़ी क्यारी या जलाशय से प्यासा व्यक्ति।' आगे चलकर कालिदास ने प्रियजन को अव्यापन्न सुनने की प्रेमीहृदय की इस निष्पाप सुकुमार इच्छा को लेकर पूरा मेघदूत रचा। इस प्रकार वाल्मीकि की यह अभिव्यक्ति भी एक कविसमय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कविसमय निम्नलिखित बातों से जन्म लेता है : प्रतिभा की मौलिकता के कारण नए मुहावरे अथवा लाक्षणिक भाषा का कवि द्वारा गढ़ा जाना, नया बिंबविधान, अनुभूति की गहराई और निजता के द्वारा की गई मौलिक अभिव्यक्ति। उसका सीधा संबंध कवि की प्रयोगशीलता तथा कल्पना और दृष्टि की उर्वरता तथा मौलिकता से है। इस प्रकार कविसमय कवि को उसी की भूमि पर परखने की सबसे अच्छी कसौटी है।

दुर्भाग्य की बात यही है कि जो कविसमय काव्य के क्षेत्र में सर्वथा जीवंत वस्तु थी तथा काव्य को परखने के लिए सर्वाधिक लचीला और सापेक्ष मानदंड था, उसे काव्यशास्त्र के क्षेत्र में सर्वथा रूढ़ और मृत बनाकर छोड़ा गया। ऐसा दो कारणों से हुआ होगा : एक तो तात्कालिक प्रसिद्धि के लोभी कवियों द्वारा वाल्मीकि और कालिदास जैसे मनीषियों के कविसमयों का उनके परिप्रेक्ष्य को समझे बिना अंधाधुंध अनुकरण, दूसरे काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा ऐसे क्षुद्र कवियों का निर्देशक बनने का गौरव पाने की इच्छा से प्रचलित कविसमयों की सूचियां तैयार करके उन कवियों को तद्विषयक प्रयोग के लिए मार्गदर्शन देना। कविसमय का प्रथम प्रामाणिक निरूपण करने वाले आचार्य राजशेखर के वक्तव्यों से ये दोनों तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। उन्होंने लिखा है :

> पहले के विद्वानों ने सहस्र शाखाओं वाले वेद का अवगाहन करके, शास्त्रों को समझकर, देश-देशांतर तथा विभिन्न द्वीपों का भ्रमण करके जिन तत्त्वों की उपलब्धि कर उन्हें रचना में संजोया, उनमें देश, काल आदि की अपेक्षा से अन्यथा होता हुआ भी तथात्वरूप में निबद्ध जो पदार्थ है, वह कविसमय है। इस कविसमय को, मूल को न देखने वाले तथा प्रयोगमात्र को देखने वाले (अधकचरे कवियों ने) ने रूढ़ कर दिया। ...इस प्रकार कविसमय का मूल अर्थ कुछ और है, तथा एक-दूसरे को लाभान्वित करने के लिए स्वार्थवश धूर्त कुछ लोगों द्वारा चलाया हुआ गलत अर्थ कुछ और।[8]

राजशेखर ने इतना तो समझा था कि कविसमय की मूलधारणा और स्वरूप कुछ और था तथा कुछ आचार्यों और कवियों द्वारा स्वार्थवश उसका दुरुपयोग किया जा रहा है, पर उसके मूल रूप को पुनः वे प्रतिष्ठित न कर सके। संभवतः आचार्य बने रहने का लोभ उनको भी था। एक ओर कविसमय का लक्षण निर्धारित करते हुए उन्होंने जहां यह कहा कि कविगण जिस अशास्त्रीय, अलौकिक तथा परंपरागत अर्थ को निबद्ध करते हैं, वह कविसमय है : **अशास्त्रीयमलौकिकं च परंपरायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।** (काव्यमीमांसा, अ. 14)। दूसरी ओर

उन्होंने कविसमय की व्याख्या कवि की प्रतिभा के स्वातंत्र्य के आधार पर न करके वेदशास्त्र आदि के अवगाहन, देशाटन आदि से प्रतिभासित होने वाले अर्थ के रूप में की जिसका उल्लेख ऊपर दिए उद्धरण में है।

कविसमय में निम्नलिखित तीन तत्त्वों की उपस्थिति वाल्मीकि आदि कवियों के काव्य का अनुशीलन करने पर आवश्यक जान पड़ती है :

1. कवि प्रतिभा की मौलिकता तथा स्वातंत्र्य : जिससे अज्ञात, अदृष्ट अर्थ प्रतिभात होते है।
2. मर्यादा : जो इन अर्थों के औचित्य की स्थापना करती है, तथा
3. परंपरा : जो इन अर्थों को सुसंबद्ध रूप देती है।

उपरिलिखित तत्त्वों में से पहला तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कविप्रतिभा का स्वातंत्र्य ही है। वही कविसमय के निर्माण का आधार भी है। राजशेखर ने मर्यादा तथा परंपरा पर तो पर्याप्त बल दिया, पर प्रतिभा के स्वातंत्र्य की बात पर उतना नहीं। काव्यशास्त्र में एक परंपरा ऐसे आचार्यों की भी थी जो कवि के द्वारा अपनी प्रतिभा से उद्भावित नवीन मौलिक अर्थों को उसकी उच्छृंखलता कहकर निंदा करते थे। कविसमय का भी मूल अर्थ कविप्रतिभा द्वारा स्वतः उद्भावित नवीन तत्त्व मानने पर ऐसे आचार्यों की आपत्ति थी, वे उसे भी दोष कहते थे। राजशेखर ने ऐसे आचार्यों के मत का पूर्वपक्ष के रूप में अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है।[9] किंतु आगे जाकर राजशेखर ने भी उन आचार्यों से मानो समझौता करते हुए कविसमय को स्वर्ग्य, भौम, पातालीय तथा जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य आदि के आधार पर विभाजित करके कवियों को निर्देश दिए हैं कि वे किस समय का कहां, कैसे उपयोग करें, तथा विभिन्न ऋतुओं, प्राकृतिक दृश्यों आदि का वर्णन किन-किन उपादानों से किस प्रकार करें। राजशेखर ने कविस्वातंत्र्य के सिद्धांत को भुलाकर कविसमय का इस रूप में जो विवेचन किया उससे कविशिक्षा पर संस्कृत में सैकड़ों ग्रंथों की परंपरा चल पड़ी, और कविसमय का अत्यंत व्यापक और महत्त्वपूर्ण सिद्धांत कविशिक्षा के अत्यधिक उपेक्षित और निर्जीव अंग के रूप में शेष रह गया। कविशिक्षा पर एक के बाद एक पुनरावृत्ति और निरर्थक उपदेशों से भरे हुए ग्रंथ लिखने वाले इन आचार्यों को यह गर्व था कि वे कवि नामक अज्ञानी जीव को काव्य लिखना सिखा रहे हैं, ताकि वह काव्य लिखना सीखकर कीर्ति, प्रीति या धर्मार्थकाममोक्ष आदि की प्राप्ति कर सके। काव्यशिक्षा नामक ग्रंथ के लेखक आचार्य विनयचंद्र ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में कहा है :

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं तन्मुदे यशसेऽथवा।
तच्च शुद्धोपदेशेभ्यः शिक्षाणां वशतो भवेत्॥

(काव्यशिक्षा, 1/8)

शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है, जो आनन्द या यश के लिए होता है। यह काव्य शुद्ध उपदेश से या शिक्षा के द्वारा रचा जा सकता है।

इस प्रकार का मंतव्य कविसमय के काव्यशिक्षा को अधिक बड़ा और महत्त्वपूर्ण मानने वाले इन सभी आचार्यों का है जो राजशेखर की परंपरा में आए थे। इन आचार्यों ने कविसमयों की जो सूची प्रस्तुत की है, उसमें से कुछ प्रमुख कविसमय ये हैं : समुद्र में वडवाग्नि, लहर आदि; नदी में जलज, कमल, भ्रमर हंस आदि; आश्रम में हिंस्र पशुओं का शांत रहना; चक्रवाक मिथुन का आदर्श प्रेम तथा नैश विरह; चातक का स्वाति नक्षत्र का जल ही पीना; अंधकार का मुष्टिग्राह्य या सूचीभेद्य होना; चकोर का चंद्रिकापान; यश, हास का शुक्लत्व; अपयश, पाप का कृष्णत्व; कोप और अनुराग आदि का रक्तत्व; अशोक में फल न होना; चंदन में पुष्प और फल का अभाव; वसंत में मालती का न खिलना; मलय पर ही चंदन का प्राप्त होना; कोकिल का वसंत में ही कूजन; काम का मूर्तत्व और अमूर्तत्व; कृष्ण और नील की, कृष्ण और हरित की, कृष्ण और श्याम की, पीत और रक्त की, शुक्ल तथा गौर की एकता आदि।[10] स्त्रियों के स्पर्श से विभिन्न पुष्पों के विकास से संबंधित कविसमयों को मल्लिनाथ ने अपनी टीका में उद्धृत किया है :

> स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति वकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
> पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम्।
> मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्च
> चूतोगीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः।

(मेघदूत, 2/28 पर मल्लिनाथ की टीका)

प्रियंगु स्त्रियों के स्पर्श से, वकुल उनके मदिरा के कुल्ले से, अशोक पांवों के आघात से, तिलक और कुरवक देखने तथा आलिंगन करने से, मंदार चुहल से, चंपक धीरे से हंसने से, आम्र उनकी फूंक से नमेरु गीत से और कनेर सामने नृत्य करने से खिलता है।

इस प्रकार कविसमय को रूढ़ियों के रूप में स्थापित कर देने का प्रभाव यह हुआ कि कविसमय की कल्पना के पीछे जो मूल भावना थी, वह सर्वथा नष्ट हो गई। कविसमयों की जो सूचियां इस प्रकार आचार्यों ने प्रस्तुत कीं, उनको प्रकारांतर से दोहराना ही कविसमय का प्रयोग माना जाने लगा, जबकि कविसमय का संबंध मूलतः कविप्रतिभा के नवोन्मेष तथा उसकी प्रयोगधर्मिता से था। कविप्रतिभा के स्वातंत्र्य को स्वीकार करने वाला जो सबसे बड़ा सिद्धांत था, उसी को आचार्यों ने कवि को परतंत्र बनाने के लिए उपयुक्त किया। कविसमय की अवधारणा की

अधोगति का परिणाम यह हुआ कि काव्य के अन्य प्रस्थानों पर विचार करते समय भी आचार्य अपने को कविता के व्याख्याकार और व्यवस्थापक के स्थान पर अनुशासक अधिक मानने लगे। आचार्य द्वारा कविता पर आधिपत्य प्रकट करने की इस प्रवृत्ति का प्रारंभ दण्डी और वामन आदि के साथ कविशिक्षा पर प्रथम विस्तृत विचार करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र कर चुके थे। कविशिक्षा का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने अपने कविकण्ठाभरण के प्रारंभ में कहा था :

तत्राकवेः कवित्वप्राप्तिः शिक्षा प्राप्तगिरः कवेः।
चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ गुणदोषाद्गतिस्ततः॥

(कवि., 1/3)

क्षेमेन्द्र को विश्वास था कि कविशिक्षा के जिस प्रस्थान का वे उपक्रम करने जा रहे हैं, उससे वे अकवियों को कवि बना सकेंगे, और जो कवि हैं, उन्हें तो मार्गदर्शन देंगे ही। आचार्य को कवि के मार्गदर्शक होने का दंभ बाद के ग्रंथकारों में इतना अधिक बढ़ा कि सोलहवीं शती में किन्हीं गंगानंद पण्डित ने अज्ञानी कवियों को काव्यदोष सिखाने के लिए काव्यडाकिनी नामकपुस्तक लिख डाली :

काव्यदोषावबोधाय कवीनां तमजानताम्।
गंगानंदकवीन्द्रेण क्रियते काव्यडाकिनी ॥

(काव्यडाकिनी, 1/2)

उपर्युक्त सूचियों के अतिरिक्त कविसमय की एक और धारा का संकेत अग्निपुराण में किया गया है, जिसमें कविसमय के सामान्य और विशिष्ट–दो भेद करके उसे प्रायः दार्शनिकों और सैद्धांतिकों के वाद-प्रतिवाद या ज्ञानमीमांसा की कोटि में रखा गया।[11] कुल मिलाकर कवि समय के सिद्धांत की आचार्यों के हाथ में पड़कर जो दुर्गति हुई, उसे हम राजशेखर के ही शब्दों में पुनः समझ सकते हैं :

कविसमयश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च।
...तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः कश्चित्
परस्परोपक्रमार्थ स्वार्थाय धूर्तैः प्रवर्तितः।

संदर्भ

1. यद् यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते ततदन्यथा। (विशेष व्याख्या के लिए इस पुस्तक का काव्यसर्जना विषयक अध्याय द्रष्टव्य)
2. न वै दोषा दोषा न च खलु गुणा एवं च गुणा
   निबद्धुः स्वातन्त्र्यं सपदि गुणदोषान् विभजति।

इयं सा वैदग्धी प्रकृतिमधुरा तस्य सुकवे–
यदत्रोत्पादाप्यतिसुभगभावः परिणतः ॥ (अभिनवगुप्त : घटकर्परकुलकविवृत्ति)

3. लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्। (काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास 76)
4. जयचन्द्रविद्यालंकार (सं.) : उत्कीर्णलेखांजलि, (तृ.सं.) पृ. 11
5. रामायण, 4/30/65
6. गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे 'सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ (मेघदूत, 1/37)
7. भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्तुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिंग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रि वाताः।
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति ॥ (वही, 2/44)
8. पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं वेदमवगाह्य शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशाकालान्तरवशेनान्यथात्वेपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। कविसमयश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च। ...तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः कश्चित्परस्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्तैः प्रवर्तितः। (काव्यमीमांसा, पृ. 78)
9. नन्वेष दोषः कथंकारं पुनरुपनिबन्धनार्हः। इति आचार्याः। (वही)
10. राजशेखर आदि आचार्यों द्वारा निरूपित कविसमयों को संक्षेप में हेमचन्द्र ने इस प्रकार संगृहीत किया है : 'सतोप्यनिबन्धो सतोपि निबन्धो नियमश्छायाद्युपजीवनाद्याश्च शिक्षाः।' सतोपि जातिगुणद्रव्यक्रियादेरनिबन्धनम्। असतोपि जात्यादेव निबन्धनम्। नियमोतिप्रसक्तस्य जात्यादेरेवैकत्रावधारणम्। छायायाः प्रतिबिम्बकल्पनया, आलेख्यप्रख्यतया, तुल्यदेहितुल्यतया परपुरप्रतिमप्रवेशतया चोपजीवनम्। आदिपदात्पदपादादीनां च काव्यान्तराद्यर्थौ-चित्यमुपजीवनम्। पुनरादिपदात् समस्यापूरणाद्याः शिक्षाः।
तत्रसतोपि सामान्यस्य अनिबन्धो यथा–मालत्या वसन्ते, पुष्पफलस्य चन्दनद्रुमेषु, फलस्याशोकेषु। द्रव्यस्य यथा–कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः शुक्लपक्षे त्वन्धकारस्य। गुणस्य यथा–कुन्दकुड्मानां कामिदन्तानां च रक्तत्वस्य, कमलमुकुलप्रकृतेश्च हरितत्वस्य, प्रियंगुपुष्पाणां पीतत्वस्य। क्रियाया यथा–दिवा नीलोत्पलानां विकासस्य, निशानिमित्तस्य, शेफालिकाकुसुमानां विस्रंसस्य, असतोपि सामान्यस्य निबंधो यथा–नदीषु पद्मनीलोत्प-लादीनां, जलाशयमात्रेपि हंसादीनां, यत्र तत्र पर्वते सुवर्णरत्नादीनामिति। द्रव्यस्य यथा–तमसि मुष्टिग्राह्यत्वस्य, सूचिभेद्यत्वस्य च। ज्योत्स्नायां च कुम्भोपवाह्यत्वादेः। गुणस्य यथा–यशो-हासादौ शौक्ल्यस्य, अयशः पापादौ कार्ष्ण्यस्य, क्रोधानुरागयोः रक्तत्वस्य। क्रियाया यथा–चकोरेषु चन्द्रिकापानस्य, चक्रवाकमिथुनेषु निशिभिन्नतटाश्रयस्य। जातेर्नियमो यथा–समुद्रेष्वेव मकराः, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि। द्रव्यस्य यथा–मलय एव चन्दनस्थानम्, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम्, गुणस्य यथा–सामान्योपादाने रत्नानां शोणतैव, पुष्पाणां

शुक्लतैव, मेघानां कृष्णतैव। क्रियाया यथा—ग्रीष्मादौ संभवदपि कोकिलरुतं वसन्त एव। मयूराणां वर्षाष्वेव विरुतं नृत्तं चेति।

अथवा—नियमः समयः कवीनाम्। यथा—कृष्णनीलयोः कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोः,चन्द्रेशशमृगयोः, कामेतने मकरमत्स्ययोः, अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्नयोश्चन्द्रयोः द्वादशानामप्यादित्यानां नारायणमाधव-विष्णु-दामोदर-मूर्त्यादिः। कमलासंपदोः, नागरार्वयोः, क्षीरक्षारसमुद्रयोः, सागरमहासमुद्रयोः, दैत्यदानवासुराणां चैव। तथा चक्षुरादेरनेकवर्णोपवर्णनम्, बहुकालजन्मनोपि शिवचन्द्रमसो बालत्वं कामस्य मूर्तत्वममूर्तत्वं चेत्यादि। (काव्यानुशासन, पृ. 14/22)

11. कवीनां समुदाचारः समयो नाम मीयते। सामान्यश्च विशिष्टश्च धर्मवद् भवति द्विधा ॥ सिद्धसैद्धान्तिकानां च कवीनां च विवादतः। यः प्रसिद्ध्यति सामान्य इत्यसौ समयो मतः ॥ सर्वे सैद्धान्तिका येन संचरन्ति निरत्ययम्। कियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन स द्विधा ॥ बन्धन्ति व्यतिपश्यन्तो यद् विशिष्टः स उच्यते। परिग्रहादप्यसतां सतामेव परिग्रहात् ॥ भिद्यमानस्य तस्यायं द्वैविध्यमुपपीयते। प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यद् बाधितं तदसद् विदुः ॥

कविंभिस्तत्प्रतिग्राहं ज्ञानस्य द्योतमानता। यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ॥

(अग्निपुराण, अध्याय 347/30-39)

8
काव्यपाक

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यपाक की सर्वप्रथम प्रामाणिक रूप में चर्चा करने वाले आचार्य वामन हैं जिनका समय आठवीं शती ई. माना जाता है। इस समय तक कालिदास कविकुलगुरु तथा रससिद्ध कवि के रूप में स्वीकार किए जा चुके थे, तथा भारवि का किरातार्जुनीय महाकाव्य सामने आ चुका था। इन दोनों कवियों को हम संस्कृत के सबसे अधिक जागरूक कवि कहते हैं। कुंतक ने तो भारवि को अवहित कवि की संज्ञा दी ही थी। कालिदास और भारवि के इस अवधान को दृष्टि में रखने पर हम वामन के द्वारा अवेक्षण की इस बात को समझ सकते हैं :

पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्।...

तदाहु :

आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

(काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः, 1/3/15)

काव्य के क्षेत्र में कालिदास और भारवि की सफलता का रहस्य क्या है—इस पर विचार करने पर आचार्यों को संभवतः यह लगा होगा कि दोनों कवियों में पदों के आधान और उद्धरण में मन दोलायित नहीं दिखाई पड़ता, एक-एक पद स्थिर है—अपनी जगह पर सर्वथा संगत और उपयुक्त है। इसीलिए अच्छी कविता का एक वैशिष्ट्य यह माना गया कि उसमें पद परिवृत्तिसहिष्णु न हों, बदले न जा सकें। इसी को वामन ने शब्दपाक बतलाया।

पदों के परिवृत्तिसहिष्णु न होने से द्विविध तात्पर्य था—एक तो पदों का पूरी पंक्ति में स्थान न बदला जा सके, दूसरे, उनके स्थान पर उनके पर्याय रखने पर भी काव्यसौंदर्य की क्षति न हो। इसी को 'पदनिवेशनिष्कम्पता' कहा गया जिसे आगे चलकर राजशेखर ने काव्यपाक की परिभाषा के रूप में उद्धृत किया।

काव्यपाक की इस धारणा का संबंध कालिदास, और उससे भी अधिक भारवि से था—यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि शीघ्र आचार्यों का ध्यान इस बात की ओर गया कि भारवि की विशेषता तो पदनिवेशनिष्कम्पता अथवा पदों की परिवृत्यसहिष्णुता में उतनी नहीं है, जितनी अर्थ की स्थिरता या गंभीरता में। इस समय तक भारवि के किसी पारखी ने अर्थगौरव को भारवि की सबसे बड़ी संपत्ति भी घोषित कर दिया था। अतः काव्यपाक के विषय में एक मंतव्य यह सामने आया कि उसका लक्षण अर्थगांभीर्य ही होना चाहिए। इस आधार पर प्रतापरुद्रीय के लेखक ने **'अर्थगम्भीरिमा पाकः'** यही पाक की परिभाषा दी (प्र. रु., 2/35)।

किंतु अर्थगौरव को ही पाक का लक्षण मान लेने पर वामन के समय से पदों का स्थिरता रूप जो लक्षण उसके साथ जुड़ा था, वह एकदम पृष्ठभूमि में रह जाता है। साथ ही, एक बार फिर भारवि तथा कालिदास के काव्य पर विचार करने से आचार्यों को यह प्रतिभास हुआ होगा कि अर्थ का जो गांभीर्य इन कवियों के काव्य में आया है, उसके पीछे पदों की स्थिरता का भी हाथ रहा ही है। भारवि को जो बात अपने संपूर्ण महाकाव्य में कहनी है, अथवा किसी एक पद्य में कहनी है उसका अर्थ तो उसके सामने स्पष्ट है ही, साथ ही, उनके मानस में वे शब्द भी एकदम स्पष्ट हैं जिनसे उन्हें यह बात कहनी है। अतः काव्यपाक में अर्थ की स्पष्टता, गंभीरता के साथ पदों की स्थिरता अथवा परिवृत्यसहिष्णुता को भी सम्मिलित करना चाहिए। रूप से वस्तु भिन्न नहीं है, अतः दोनों के उचित प्रयोग से जो सौष्ठव आता है, उसे पाक कहा जाना चाहिए। अग्निपुराण की रचना तक पाक के संबंध में यह मान्यता स्वीकृत हो चुकी थी कि पाक शब्द और अर्थ के समुचित प्रयोग की उत्तम परिणति है :

उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते।

(अग्निपुराण)

किंतु उत्तम परिणति कह देने से यह निश्चित नहीं हो पाता कि पाक का रस से क्या संबंध है। काव्यपाक की अवधारणा मूलतः पदशय्या से अनुबद्ध थी। प्रतापरुद्रयशोभूषण में पदशय्या की चर्चा करते हुए उसका परंपरित लक्षण यह दिया गया है : **'या पदानां परान्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते।'** (पृ. 67, 2/34)।

रत्नार्पणटीका में उपर्युक्त स्थल की व्याख्या करते हुए कहा गया है : **'मैत्री विनिमयासहिष्णुत्वम् ।'** इस प्रकार पदशय्या का तात्पर्य वही है जिसे वामन ने काव्यपाक कहा था।[1] इस पदशय्या का सीधा संबंध रस से है। बाण ने अपनी कादम्बरी की भूमिका में इस तथ्य की ओर संकेत दिया है कि रस यदि कवि की वाणी में है तो रचना में पदशय्या अपने आप फूट पड़ती है : **'रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ।'**

अतः बाद में आने वाले आचार्यों ने एक ओर पदशय्या, दूसरी ओर अर्थगौरव, इन दो धारणाओं को जोड़कर रस से संबंध निर्धारित करते हुए पाक का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया। विद्याधर ने अपनी एकावली में तथा राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अपने पूर्वाचार्यों के काव्यपाक विषयक अनेकानेक मत उद्धृत करते हुए उसका जो लक्षण निश्चित किया है, उसमें यह प्रयास स्पष्ट है। राजशेखर ने सर्वप्रथम मंगल का मत उद्धृत किया है जिनके अनुसार सुप्-तिङ् आदि के व्युत्पत्तिरूप परिणाम ही काव्य में पाक कहलाता है। अन्य लक्षण **'पदनिवेश-निष्कम्पता'** है। यह वामन के ऊपर उद्धृत विवेचन के आधार पर निर्धारित हुआ होगा। अवन्तिसुंदरी ने वामन आदि आचार्यों के इस मत का विरोध किया कि पदों की निष्कंपता अथवा परिवृत्यसहिष्णुता ही पाक है। यह तो इसके विपरीत कवि की अक्षमता ही है। क्योंकि एक रचना में अनेक पाठ होने पर भी रचना में सौंदर्य वैसा ही बना रह सकता है। अतः अवन्तिसुंदरी का कहना था कि रसोचित शब्द और अर्थ की सूक्ति का निबंधन ही पाक है। राजशेखर ने काव्यपाक का संबंध काव्यव्यापार से निर्धारित किया।[2] विद्याधर ने अवन्तिसुन्दरी के ही समान **रसोचितशब्दार्थनिबंधन** को पाक बतलाया।[3]

इस प्रकार काव्यपाक की अवधारणा में 'शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है' इस लक्षण का निकष निर्मित होता है। शब्द और अर्थ के साहित्य से काव्य में होने वाली उत्कृष्ट परिणति काव्यपाक है। राजशेखर तथा विद्यानाथ दोनों ने स्वीकार किया है कि यह काव्यपाक रचना में निरंतर साधना और अभ्यास से ही आ सकता है।[4] काव्यपाक के संबंध में यह मंतव्य सटीक तथा महत्त्वपूर्ण है, तथा रस, व्यंग्यरूप ध्वनि तथा विशिष्टपदरचनारूप रीति आदि से उसका पार्थक्य समझने में सहायक भी। रस, ध्वनि, रीति आदि का उत्तम सहभाव होते हुए भी काव्य में शब्द और अर्थ के समुचित प्रयोग से होने वाली उत्कृष्ट परिणति नहीं भी हो सकती है।

काव्यपाक के स्वरूप को लेकर आचार्यों के बीच भले ही मतैक्य न हो पाया हो, पर काव्यरसिकों के समाज में कालिदास आदि कवियों के काव्य के अवगाहन

से काव्यपाक का प्रस्थान अतिशय प्रसिद्ध था। इसी बात का मल्लिनाथ ने एकावली की टीका में संकेत किया है : **'अयं च पाकः कालिदासादिप्रबंधेषु प्रसिद्ध एव।'** (पृ. 22)।

इस प्रकार कालिदास आदि श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में पहले से सुप्रसिद्ध काव्यपाक के तत्त्व का आचार्यों ने विवेचन तो किया, पर उसका स्वरूप एकदम स्पष्ट नहीं हो पाया। काव्यपाक की कल्पना को विशद रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसके भेदों का निदर्शन करना आवश्यक समझा गया। काव्यपाक के भेदों पर विचार करते समय आचार्यों का ध्यान कालिदास के साथ पुनः भारवि पर गया जिनके काव्य का काव्यपाक के सिद्धांत को जन्म देने में योग रहा था। सहृदयों के समाज में भारवि के काव्य को नारिकेल के समान माना जाता था। भारवि अर्थगौरव के सिद्ध कवि थे, अर्थ की गंभीरता को अपने काव्य में बनाए रखने के लिए उन्होंने पर्याप्त साधना की थी, जिसका परिणाम था कि उसका काव्य हल्के-फुल्के मुक्तक के समान तुरंत आस्वाद्यमान नहीं हो सकता था। भारवि ने अपने सारभूत और सुचिंतित अर्थों को सुदृढ़, उपपत्तिमत्, अतिवीर्यवान्, और अपृथगर्थ वाले पदों के आवरण में स्थापित कर दिया था। उस आवरण को भेद कर ही उस सारभूत अर्थ को पाया जा सकता था। भारवि के काव्य के विषय में सहृदयसमाज में प्रचलित इस मान्यता को कालांतर में टीकाकार मल्लिनाथ ने भी उनके काव्य पर टीका लिखने का उपक्रम करते हुए स्पष्ट किया :

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

उधर कालिदास का काव्य वैदर्भी रीति और माधुर्य गुण की उपस्थिति के कारण मृद्वीका या द्राक्षा के तुल्य माना जाता रहा है। इस प्रकार पाक को आस्वाद से संबद्ध करते हुए उसके दो भेद बन जाते हैं : नारिकेल पाक तथा द्राक्षापाक। प्रतापरुद्रीय के लेखक ने काव्यपाक के ये दो ही भेद बताए हैं।[5] अग्निपुराण ने चार[6] तथा राजशेखर ने इनकी संख्या नौ तक बढ़ाई।[7] किंतु खाद्यपदार्थों के नाम के आधार पर काव्यपाक के इस प्रकार भेद करते समय इन आचार्यों का ध्यान इस बात की ओर नहीं गया कि इन भेदों के द्वारा वे काव्यपाक को आस्वाद के भीतर ही सीमित किए दे रहे हैं, जबकि काव्यपाक का क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक है। उसके भीतर पदों का आधान और उद्धरण, अर्थ के प्रति सजगता तथा शब्दार्थ का उत्कृष्ट समवाय—ये तत्त्व भी आते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यपाक पर व्यवस्थित चर्चा का सूत्रपात वामन से हुआ था, वामन के बाद उसकी कुछ विस्तार से चर्चा करने वाले आचार्य थे—राजशेखर तथा प्रतापरुद्रयशोभूषण के लेखक विद्यानाथ। विद्यानाथ ने अपने काव्यपुरुष के स्वरूप के विवेचन में शय्या के साथ काव्यपाक का भी उल्लेख किया।[8] काव्यपाक का उल्लेख करने वाले अंतिम महत्त्वपूर्ण आचार्य संभवतः चमत्कारचंद्रिका के लेखक आचार्य विश्वेश्वर हैं जिन्होंने काव्यपाक को काव्यचमत्कार के सात कारणों में से एक स्वीकार किया।[9] आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ जैसे आचार्यों ने काव्यपाक का विवेचन नहीं किया है।

कविसमय और काव्यपाक, दोनों ही काव्य की सही समझ के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सिद्धांत रहे हैं। पहले से कविप्रतिभा के स्वातंत्र्य और नवोन्मेष की परीक्षा होती है, दूसरे से काव्यगत रूप और वस्तु के समवाय की उत्कृष्टता की। आचार्यों ने इनमें से प्रथम को कविप्रसिद्धि मात्र बनाकर उपेक्षित कर दिया, दूसरे को श्रेष्ठ आचार्यों के द्वारा विस्तृत विवेचन का सौभाग्य नहीं मिल सका।

काव्यपाक का यह सिद्धांत स्पष्ट ही उस युग में सामने आया जबकि एक ओर आचार्य काव्य में शब्द और अर्थ का साहचर्य होता है अथवा शब्द ही काव्य है—इस विवाद में उलझे थे, तो दूसरी ओर कालिदास और भारवि की शब्दार्थ की साधना का परिपाक सहृदयों के द्वारा आस्वादन किया जा रहा था। अतः कवियों और सहृदयों के समुदाय से यह विचार उठा कि काव्य में न तो शब्द ही प्रमुख है, और न अर्थ ही, अपितु इन दोनों के समवाय से जो परिपाक होता है, वह प्रमुख है। यह परिपाक कवि की प्रौढ़ता और साधना का परिणाम है, इसलिए इसे प्रौढ़ि या प्रौढ़ता भी कहा गया। कालिदास तथा भारवि जैसे कवियों के काव्य पर विचार करने पर यह काव्यपाक अथवा प्रौढ़ता सहृदयों के समाज में काव्य के सर्वातिशायी निकष के रूप में प्रतिष्ठित थी। इसी प्रकार के वातावरण के प्रभाव से महाकवि भवभूति ने काव्य में पांडित्यमात्र देखने के अभिलाषी आचार्यों पर कटाक्ष करते हुए अपने मालतीमाधव नाटक की भूमिका में कहा था कि वचनों की प्रौढ़ता तथा उदारता और अर्थ का गौरव ही काव्य या नाटक के लिए सबसे बड़ी बात है :

> यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
> ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।
> यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
> तच्चेदस्ति, तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ॥

(1/7)

डा. राघवन् ने अपने शृंगारप्रकाशविषयक ग्रंथ में यशोवर्मा के अप्राप्त रामाभ्युदय नाटक का यह उद्धरण दिया है, जिससे भी उस समय कविसमाज में प्रौढ़िप्रकर्ष का बहुमान सूचित होता है : **'शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्चशब्दार्थयोः।'** आगे चलकर भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में पाक की इसी आधार पर परिभाषा भी दी : **'उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया।'** पूर्णसरस्वती ने भी मालतीमाधव के उपर्युक्त पद्य की टीका में प्रौढ़ि तथा पाक को एक ही वस्तु माना है।

वामन ने **'अर्थस्य प्रौढिरोजः'** (काव्या. सू., 3/2/2) कहकर काव्यपाक का समावेश अपने ओजोगुण में करना चाहा है। परन्तु काव्यपाक ओजोगुण से कहीं बड़ी धारणा है जिसका धीरे-धीरे लोप हो जाना काव्य तथा काव्यशास्त्र के विकास के लिए अयुक्त रहा है।

संदर्भ

1. पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाक इत्यपरे। (एकावली) पृ. 22
   परिवृत्तिवैमुख्यं विनिमयासहिष्णुत्वम्। एतदेव मैत्रीशय्येति चाख्यायते। (उक्त स्थल की टीका में मल्लिनाथ) पृ. 22
2. कः पुनरयं पाकः इत्याचार्याः। 'परिणामः'—इति मंगलः। कः पुनरयं परिणामः इत्याचार्याः। सुपां तिङां चैव श्रवः सैषा व्युत्पत्तिः इति मंगलः। सौशब्ध्यमेतत्। पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः इत्याचार्याः। तदाहुः,

   आवापोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः।
   पदस्य स्थापित स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

   आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः—इति वामनीयाः। तदाहुः

   यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
   तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥

   इयमशक्तिर्न पुन पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनामनेकोपि पाठ परिपाकवान् भवति। तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबंधनः पाकः। कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परः पाकोभिधाविषयः। तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहारांगमसौ इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसा) पृ. 20-21
3. पाकस्तु रसोचितशब्दार्थनिबंधनम्। (एकावली) पृ. 22
4. सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं परिपाकमायाति। (का.मी.) पृ. 20
   अनवरतमभ्यसतामेव कवीनां वाक्यानि पाकमासादयन्ति। (एका.) 22
5. अर्थगम्भीरिमा पाकः। (प्रतापरुद्र.) 2/35
   स द्विधा हृदयंगमः।
   द्राक्षापाको नारिकेलपाकश्च प्रस्फुटान्तरौ ॥

द्राक्षापाकः स कथितो बहिरन्त स्फुरद्रसः।
स नारिकेलपाकः स्यादन्तर्गूढरसोदयः ॥

6. मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः।
आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः ॥ (अग्निपुराण का का.शा. भाग) पृ. 85

7. स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति। तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमंदपाकम्, आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्, आदावस्वादु परिणामे स्वादु मद्वीकापाकम्, आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्ताकपाकम्, आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तीडीक पाकम्, आदौ मध्यममन्ते च स्वादु सहकारपाकम्, आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्, आद्यन्तयः स्वादु नारिकेलपाकम्। (काव्यमी.) पृ. 21

8. शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यंग्यवैभवम्।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादयः ॥
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इवस्थिताः।
आत्मोत्कर्षावहास्तत्र स्वभावा इव रीतयः ॥
शोभामाहार्यिकीं प्राप्ता वृत्तयो वृत्तयो यथा।
प्राप्तानुगुण्यविश्रान्ता शय्या शय्येव सम्मता ॥
रसास्वादप्रभेदाः स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः।
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसम्पदः ॥ (प्रताप, 2/2-5), पृ. 2

9. गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः ॥ (विश्वेश्वर : चमत्कारचन्द्रिका)
विश्वेश्वर ने अन्य आचार्यों की ही भांति पाक को वाणी का परिपाक कहा है, पर इसके मृदु और खर–ये दो भेद किए हैं, ये भेद काव्यमार्ग के कुन्तक द्वारा किए गए विभाजन –सुकुमार, विचित्र–के निकट आते हैं :

पाकं वाचां परीपाकमाहुरास्वादमेदुरम्।
सोऽयं मृदुः खरश्चेति समासेन द्विधा भवेत् ॥ (वही, 4/38)

विश्वेश्वर में शय्या की धारणा स्वतंत्र रूप में निरूपित है, जो उनकी दृष्टि में पदों की विनिमयासह मैत्री है। चमत्कारचन्द्रिका (सं. पी. राममूर्ति, आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर, 1969) में उन्होंने कहा है :

शय्या पदानामन्योन्यमैत्री विनिमयासहा।
स एवास्य पराकाष्ठा शय्या देशविभेदतः।
लोके प्रसिद्धमित्येषा प्राज्ञैः शय्येति कीर्तिता ॥ (चम., 4/39-40)

उपर्युक्त विवरण से सूचित होता है कि शय्या की धारणा लोकप्रसिद्ध तथा विद्वानों में प्रतिष्ठित थी।

9
काव्यानुभूति

भरत के टीकाकारों में लोल्लट सर्वप्रथम आते हैं। लोल्लट ने भरत के रससूत्र की जो व्याख्या की उसे मीमांसा दर्शन पर आधारित बताया जाता है। अभिनवभारती में लोल्लट के एक उद्धरण के आधार पर म.म. पी.व्ही. काणे का अनुमान है कि लोल्लट मीमांसक थे। झलकीकर ने काव्यप्रकाश की अपनी टीका में (पृ. 225) लोल्लट को भट्टमतोपजीवी मीमांसक कहा है। तथापि रसव्याख्या में लोल्लट ने मीमांसा के किसी सिद्धांत का उपयोग किया हो, यह स्पष्ट नहीं है। डा. नरेंद्रनाथ चौधरी ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' (84) में आए **'संबद्ध वर्तमानं गृह्यते च चक्षुरादिना'** का संबंध लोल्लट के मत में प्रतिपादित राम आदि अनुकार्य पात्रों की प्रतीति से स्थापित करने की चेष्टा की, जो अनावश्यक खींचातानी प्रतीत होती है।

अभिनवगुप्त तथा मम्मट के अनुसार लोल्लट का मत यह है : आलंबन तथा उद्दीपन विभावों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से ये स्थायी भाव प्रतीति के योग्य बनाए जाते हैं। अनंतर निर्वेद आदि संचारी या व्यभिचारी भावों से वे उपचित (पुष्ट) होते हैं। ये उपचित हो चुके स्थायी भाव ही रस हैं। ये स्थायी भाव साक्षात् तो राम आदि मूल ऐतिहासिक पात्र (अनुकार्य) में ही रहते हैं, पर अनुसंधान व्यापार के द्वारा नट में भी (सामाजिक को) इनकी प्रतीति होती है। प्रेक्षक नट में (राम आदि के) ताद्रूप्य या तादात्म्य का अनुसंधान करता है और उसके द्वारा चमत्कृत होकर आनंद पाता है।

इस प्रकार लोल्लट के अनुसार रस की निष्पत्ति में तीन दशाएं पहले आती हैं : प्रथम, विभावों के द्वारा स्थायी भाव की उत्पत्ति, द्वितीय, अनुभावों के द्वारा उसकी प्रतीति, तृतीय, व्यभिचारी भावों के द्वारा उसकी पुष्टि। ये तीनों व्यापार तो नाट्य के अंतर्गत ही होते हैं, फिर सामाजिक को रस की अनुभूति कैसे होती है? लोल्लट ने

इसका उत्तर अनुसंधान व्यापार के द्वारा दिया। लोल्लट के मत में अनुसंधान की विवृत्ति अस्पष्ट या अव्याख्येय नहीं थी, पर उनका मूल ग्रंथ उपलब्ध न होने तथा परवर्ती आचार्यों के द्वारा इसके विभिन्न अर्थ लगाए जाने के कारण यह विवादास्पद बन गया। काव्य-प्रकाश की विवरण टीका के अनुसार नर्तक या नट में रामत्व (राम होने) का अभिमान ही अनुसंधान है। सारबोधिनी तथा उद्योतकार के अनुसार नर्तक पर रामत्व का आरोप अनुसंधान है। (इस आधार पर लोल्लट के मत में आरोपवाद भी कहा जाता है।) अभिनव ने अनुसंधान की व्याख्या करते हुए कहा है : **'एकीभावरूपमनुसंधानम्'** अर्थात् एकीभाव होना अनुसंधान है। नागेशभट्ट ने काव्यप्रकाश की नागेश्वरी टीका में इसके दो अर्थ किए : (1) नट अथवा काव्यपाठक (गायक या पौराणिक) में रामत्व आदि का आरोप, (2) सामाजिक का रामत्व का अभिमान—उसको मैं राम हूं, ऐसी प्रतीति होना। पंडितराज जगन्नाथ ने लोल्लट का मत प्रस्तुत करते हुए अनुसंधान के स्थान पर आरोप शब्द का ही प्रयोग किया है।

अभिनवगुप्त उपर्युक्त टीकाकारों में (समय की दृष्टि से) लोल्लट के सर्वाधिक निकट हैं, तथा उन्होंने लोल्लट की मूल रचना का अध्ययन किया होगा, ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है। अतः अनुसंधान की सही व्याख्या उनके द्वारा की गई लोल्लट के मत की प्रस्तुति में ही समझी जा सकती है। उन्होंने लिखा है : **'मुख्यया वृत्या रामादौ अनुकार्ये, अनुकर्तर्यपि च अनुसंधान-बलात्—'** यहां **'विद्यते'** तथा 'प्रतीयते' की दोनों वाक्यांशों में अनुवृत्ति की जा सकती है जिसके अनुसार अर्थ होगा : 'वह स्थायी भाव साक्षात् रूप से तो रामादि अनुकार्य में ही रहता है, पर अनुसंधान व्यापार के कारण नट में भी प्रतीत होता है। इस प्रकार लोल्लट के अनुसंधान व्यापार की व्याप्ति नट तथा प्रेक्षक—इन दोनों पक्षों के लिए है। नट राम आदि मूल ऐतिहासिक पात्र का अनुसंधान करता है ताकि प्रेक्षक को वह अपने में राम की प्रतीति करा सके। लोल्लट के बाद शंकुक ने अनुसंधान का यह रूप ज्यों का त्यों अपनी व्याख्या में ग्रहण किया। अनुसंधान का दूसरा पक्ष प्रेक्षक के द्वारा नट में राम आदि का अनुसंधान है। इस प्रकार नट तथा प्रेक्षक दोनों की ओर से अनुसंधान का व्यापार संपन्न किया जाता है।

लोल्लट के मत पर मूलतः यह आक्षेप किया गया है कि वह नट में राम आदि अनुकार्य के आरोप के आधार पर रस की निष्पत्ति की व्याख्या करता है और यह आरोप भ्रममूलक है। परंतु लोल्लट का अनुसंधान व्यापार विशुद्ध रूप से आरोप नहीं हो सकता। वैसे भी अनुसंधान का शाब्दिक अर्थ आरोप नहीं है। अनुसंधान की अभिनवगुप्त द्वारा की गई व्याख्या—एकीभावरूप होना—ही उसके सर्वाधिक निकट

है। एकीभाव की यह प्रक्रिया नट तथा सामाजिक दोनों में अलग-अलग स्तरों पर चलती है। मम्मट ने अनुसंधान को समझाने के लिए 'ताद्रूप्य या तद्रूपता का अनुसंधान' कहा है जो आरोप कदापि नहीं हो सकता। यदि अनुसंधान के मूल सीधे-सीधे अर्थ को ही ध्यान में रखते हुए रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया के संदर्भ में उसको समझने की चेष्टा की जाए तो यही प्रतीत होगा कि नट के द्वारा सामाजिक के सामने राम आदि अनुकार्य की प्रतीति उत्पन्न करने के लिए किया गया व्यापार, तथा सामाजिक के भीतर उसे देखकर उसमें राम आदि की प्रतीति होने का व्यापार—ये दोनों अनुसंधान के अंतर्गत आ जाते हैं। नट अपनी अभिनय कुशलता, अभ्यास तथा शिक्षा के कारण राम आदि का अनुसंधान करता है, तो सामाजिक अपनी सहृदयता के कारण। यह अनुसंधान काव्य और नाटक की अनुभूतियों का मूल आधार ही है। अतः लोल्लट पर इस दृष्टि से आक्षेप करने के लिए अवकाश नहीं रह जाता। साथ ही, उनके अनुसंधान व्यापार की परिव्याप्ति को इसी बात से जाना जा सकता है कि शंकुक ने ही उसे स्वीकार नहीं किया, अपितु स्वयं अभिनवगुप्त ने भी अपने मत में अनुव्यवसाय, अनुकीर्तन आदि के विवेचन में लोल्लट के अनुसंधान व्यापार को ही पुनः उपस्थित किया। इस प्रकार लोल्लट की मान्यता अपने मूल रूप में शंकुक से लेकर अभिनवगुप्त तक स्वीकारी गई।

डॉ. के.सी. पांडेय तथा अन्य आधुनिक विद्वान् लोल्लट की रसव्याख्या को आरोपमूलक अथवा भ्रममूलक मानते रहे हैं। लोल्लट के संबंध में यह दृष्टि सही नहीं है। लोल्लट की व्याख्या में अपूर्णता हो सकती है, पर असंगति नहीं है। इस अपूर्णता की ओर शंकुक ने इंगित किया और साथ में उसका निराकरण भी किया।

शंकुक ने लोल्लट के मत की इस आधार पर आलोचना की थी कि उसमें विभाव आदि के साथ स्थायी भाव के संबंध को सम्यक् रूप में विवेचित नहीं किया गया है। इस संबंध का आधार शंकुक ने अनुकरण व्यापार में खोजा। इस अनुकरण व्यापार की व्याख्या करने के लिए उन्होंने न्याय-दर्शन में प्रतिपादित अनुमान प्रमाण की प्रक्रिया का भी सहारा लिया।

न्याय-दर्शन में लिंग के द्वारा लिंगी का ज्ञान अनुमान कहा गया है। लिंग साधक अथवा अनुमापक या हेतु है और लिंगी साध्य अथवा अनुमेय। धुएं को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, इसमें धुआं साधक अथवा लिंग है और अग्नि लिंगी। जहां-जहां धुआं होता है, वहां-वहां आग होती है—यह सामान्यतः अनुमान का स्वरूप है। नाट्य में विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा प्रेक्षक नट में स्थायी भाव का अनुमान करता है। विभाव आदि यहां लिंग अथवा साधक हैं, और अनुमित

होने वाला स्थायी भाव लिंगी। इस प्रकार प्रेक्षक को लिंग या ज्ञापक हेतु के द्वारा नट में स्थायी भाव की प्रतीति होती है। किंतु यह अनुमान तभी संपन्न हो सकता है, जब नट अनुकार्य या मूल पात्र राम आदि के स्थायी भाव का अनुकरण करता है। इस प्रकार नट के द्वारा अनुकरण तथा प्रेक्षक के द्वारा अनुमान—ये दोनों प्रक्रियाएं नाट्य में समानांतर चलती हैं। स्थायी भाव नट के द्वारा अनुकृत होता है, और प्रेक्षक के द्वारा अनुमित। इस प्रकार अनुकृत तथा अनुमित होने वाला यह स्थायी भाव रस है।

जैसाकि पहले कहा गया है, शंकुक ने लोल्लट के अनुसंधान व्यापार को भी स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में अनुसंधान व्यापार अनुकरण तथा अनुमिति—दोनों के मूल में रहता है। विभाव आदि की प्रतीति काव्य आदि के अनुसंधान से ही हो सकती है, यह शंकुक का मत है (**विभावादयः काव्यबलादनुसंधीयन्ते**—अभिनवभारती में शंकुक प्रकरण)। अतः यह स्पष्ट है कि लोल्लट की ही भाँति वे भी अनुसंधान व्यापार के दो पक्ष स्वीकार करते हैं—नट द्वारा राम आदि का अनुकरण भलीभांति संपन्न करने के लिए उन राम आदि विभावों का काव्य की शिक्षा अभ्यास आदि के सहारे अनुसंधान, तथा प्रेक्षक के द्वारा नट से प्रकाशित किए गए विभाव आदि में स्थायी भाव की सम्यक् अनुमिति के लिए उन विभावादि का अनुसंधान। अनुसंधान के इस स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए शंकुक ने कहा है कि नट काव्य के ज्ञान से विभावादि का अनुसंधान करता है, शिक्षा से अनुभावों का तथा अपने अनुभव से व्यभिचारी भावों का। स्थायी भाव का अनुसंधान नहीं हो सकता—क्योंकि वह वाचिक नहीं है। इस प्रकार लोल्लट के मत को शंकुक ने आगे तक ले जाकर पूर्ण स्वरूप दिया है।

नाटक या काव्य के प्रस्तुतीकरण में दो प्रक्रियाएं समानांतर कार्य करती हैं। एक ओर नट या अनुकर्ता द्वारा अनुकार्य का अनुकरण, तो दूसरी ओर प्रेक्षक के द्वारा उसे नट न समझकर अन्य रूप में ग्रहण करना। शंकुक ने प्रेक्षक की इस अनुभूति की, जो रसास्वाद की पीठिका है, पहली बार सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की। प्रेक्षक कृत्रिम विभाव आदि को भी कृत्रिम जैसा नहीं समझता, पर वह उन्हें पूर्ण वास्तविक समझता हो—ऐसा भी नहीं है। नट में राम आदि का बोध, संसार में जितने प्रकार के बोध—सम्यक् (यह वास्तव में राम है), मिथ्या (यह राम नहीं है), संशय (यह राम है या नहीं?), सादृश्य (यह राम के जैसा है)—हो सकते हैं, उन सबसे विलक्षण है। इस विलक्षणता को कला की ही अनुभूति—चित्रतुरगन्याय—से समझा जा सकता है। चित्र में बने घोड़े को देखकर यह वास्तविक घोड़ा है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता

और न यही कहा जा सकता है कि यह घोड़ा है ही नहीं अथवा यह कि यह घोड़े के सदृश है, फिर भी चित्र में घोड़े की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस विलक्षण अनुभूति के द्वारा साक्षात्कृत विभाव आदि स्थायी भाव के गमक (ज्ञापक हेतु) बन जाते हैं। स्थायी भाव वास्तव में नट में नहीं रहता, पर प्रेक्षक अपनी वासना से अविद्यमान रहने वाले स्थायी भाव की भी अनुभूति करता है। यह रसास्वाद है।

शंकुक ने नाटक या कला की रचनाप्रक्रिया और पाठक या प्रेक्षक के द्वारा उसके आस्वाद की प्रक्रिया, इन दोनों की व्याख्या की। काव्य का पाठक तथा नाटक का नट राम आदि मूल पात्र का अनुकरण करता है, पर वह सचमुच का राम नहीं हो जाता है। इसलिए काव्य या नाट्य के द्वारा सारी सामग्री कृत्रिम है। पर प्रेक्षक को वह कृत्रिम नहीं लगती, और न वास्तविक ही। शंकुक यहां यह कहना चाहते हैं कि कला में प्रस्तुत सामग्री प्रेक्षक के लिए कृत्रिम होते हुए भी वास्तविक और वास्तविक होते हुए भी कृत्रिम बनी रहती है। नाट्य में प्रस्तुत सामग्री की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य—इन चारों प्रतीतियों से विलक्षण या भिन्न तो रहती है, पर उसमें इन चारों का मिश्रण बना रहता है। इसलिए शंकुक का यह आशय नहीं है कि कला की प्रतीति तथा सामग्री वास्तव और अवास्तव से परे सर्वथा अलौकिक होती है। नैयायिक होने के कारण वे वस्तुवादी हैं, वे केवल इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को समक्ष रखते लगते हैं कि नाटक देखते समय जहां प्रेक्षक अपनी चेतना के एक स्तर पर इस तथ्य से निरंतर अभिज्ञ रहता है कि वह नाटक देख रहाहै, वास्तविकता नहीं, उसी समय एक भिन्न धरातल पर वह यह भी अनुभव करता है कि उसके सामने जो नाटक प्रस्तुत हो रहा है, वह अवास्तविक नहीं है। अतः राम का अभिनय करने वाले नट को जहां वह एक ओर राम से भिन्न समझता है, वहीं यह भी नहीं कह सकता है कि यह राम नहीं है। आगे के व्याख्याकारों ने शंकुक के इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए कहा कि प्रेक्षक की दृष्टि में राम से रामत्व विगलित हो जाता है, वह उसे साधारण रूप में देखता है। इस प्रकार भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने जिसे भावकत्व या साधारणीकरण कहा, उसका आधार शंकुक ने प्रदान किया था। साधारणीकरण के समय प्रेक्षक को जो बोध होता है, उसे हम शंकुक के शब्दों में सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य—इन चारों प्रतीतियों से भिन्न कह सकते हैं।

इस प्रकार शंकुक अनुसंधान व्यापार की अवधारणा लोल्लट से लेते हैं, तथा भट्टनायक और अभिनव को उनकी परवर्ती व्याख्याओं का सुपुष्ट आधार भी देते हैं। इसके साथ, अपनी वस्तुवादी दृष्टि के कारण शंकुक यह मानकर भी चले कि

विभावादि के संयोग से यदि रस की निष्पत्ति होती है तो विभाव आदि को रस का हेतु (कारण) होना चाहिए। शंकुक का ऐसा मानना तर्कसंगत ही है, तथा इस आधार पर किसी को भी उनसे विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। विभाव आदि को रस का हेतु तो अभिनवगुप्त तथा उनके अनुयायी मम्मट ने भी माना ही। शंकुक ने जो तर्कसम्मत दृष्टि अपनाई, उससे वे हटे नहीं, उन्होंने अनुमितिवाद को अनावश्यक रूप से अपनी व्याख्या पर आरोपित नहीं होने दिया। जहां एक ओर न्याय मत का सहारा लेकर उन्होंने यह कहा कि विभावादि के गम्यगमकभावरूप संयोग से स्थायी भाव अनुमित होता है, वहीं न्याय के सिद्धांत से अलग हटकर यह भी प्रतिपादित किया कि अनुमिति की यह प्रक्रिया अन्य अनुमानों से विलक्षण है। लौकिक अथवा नैयायिकों के अनुमान में अनुमान उसी वस्तु का होता है, जो वास्तव में अस्तित्त्व में हो, कला में तो स्थायी भाव वास्तव में नट में रहता नहीं फिर भी सामाजिक उसका अनुमान करता है। विभावादि हेतु यहां कृत्रिम होते हुए भी अकृत्रिम बन जाते हैं, अतः उनको हेत्वाभास भी नहीं कहा जा सकता। अतः शंकुक के संबंध में यही कहा जा सकता है कि वे न्याय का किंचित् अपेक्षित आधार लेकर भी उसका अतिक्रमण कर जाते हैं और जिस प्रकार लोल्लट के संबंध में यह कहना कठिन है कि उन्होंने अपनी रसव्याख्या में मीमांसा (अथवा डॉ. के.सी. पांडेय के अनुसार शैव दर्शन) का आधार लिया, उसी प्रकार शंकुक के विषय में भी यह कहना संगत नहीं कि उनका सिद्धांत पूर्णतः अनुमान पर आधारित है, अथवा उन्होंने न्याय-दर्शन के सिद्धांत का अपनी व्याख्या पर आरोप किया है। वास्तव में काव्यबोध में किसी-न-किसी स्तर पर अनुमिति की प्रक्रिया का योगदान सदैव रहता है। आगे चलकर महिमभट्ट ने काव्यानुमिति को व्यंजना का स्थानापन्न बनाकर विस्तृत रूप दिया।

शंकुक के संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने केवल अनुमिति अथवा अनुमिति के अतिक्रमण के आधार पर रसनिष्पत्ति की व्याख्या नहीं की। उन्होंने दो व्यापारों का विवेचन किया है—अनुकरण तथा अनुमिति। जिस प्रकार लोल्लट में नट तथा सामाजिक दोनों की दृष्टि से स्थायी के अनुसंधान का संकेत मिलता है, उसी प्रकार शंकुक के दो व्यापार नट तथा सामाजिक दोनों के लिए हैं, तथा ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। नट के द्वारा विभाव आदि की अनुकृति तथा उस अनुकृति के काव्यशिक्षा, अभ्यास आदि के कारण निर्दुष्ट रूप में संपन्न होने पर सामाजिक द्वारा स्थायी भाव की अनुमति—इस प्रकार रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः शंकुक के संबंध में जहां यह कहना गलत है कि वे निष्पत्ति = अनुमिति मानते हैं, वहीं अभिनवगुप्त तथा भट्टनायक के द्वारा उनकी इस आधार पर आलोचना करना

भी अनुचित है कि शंकुक में रस अनुमित होता है तो उसमें चमत्कार कैसे होगा। (जिस वस्तु का बोध अनुमान जैसी बौद्धिक प्रक्रिया से हो उसमें आस्वाद कैसे रह सकता है?) वास्तव में शंकुक तो यही दिखाना चाहते हैं कि किस सीमा पर पहुंचा कर रस की अनुभूति लौकिक अनुमान से पृथक् हो जाती है। अतः शंकुक की दृष्टि से रस मात्र अनुमित है—यह कहना ठीक नहीं है, और न इस आधार पर उन्हें आलोचना का पात्र बनाना ही।

शंकुक की दृष्टि से अनुकृति ही पूर्णतः निष्पत्ति है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, जैसा हिंदी के एक समीक्षक—अनुसंधाता ने उनके विषय में माना है।[1] शंकुक में निष्पत्ति की प्रक्रिया केवल अनुकृति में ही समाप्त नहीं हो जाती, अनुमिति भी उसके साथ अपेक्षित है। यद्यपि अभिनवगुप्त ने शंकुक का मत समझाते हुए कहा है कि इस मत के अनुसार 'अनुकरण स्वरूप वाला होने के कारण ही रस रस कहा जाता है (**तेन च अनुकरणरूपत्वादेव नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः**), तथा 'अनुक्रियमाण रति (स्थायी भाव) ही शृंगार (रस) है' (**तेन च रतिरनुक्रियमाणा शृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम्**), पर यहां अनुकृति का उल्लेख नट की दृष्टि से हुआ है। रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया सामाजिक के बिना पूर्ण नहीं होती और सामाजिक के पक्ष में उसमें अनुमिति को भी स्वीकार करना पड़ता है।

अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने शंकुक पर यह आक्षेप किया था कि शंकुक स्थायी का अनुकरण होने पर रसनिष्पत्ति मानते हैं, स्थायी भाव तो चित्तवृत्तिरूप है, चित्तवृत्ति का अनुकरण कैसे हो सकता है? किंतु स्थायी भाव के अनुकरण से शंकुक का आशय यही प्रतीत होता है कि जिन विभावों तथा अनुभावों से स्थायी भाव सूचित या अनुमित हो सके, उनका अनुकरण। आगे चलकर स्वयं अभिनवगुप्त ने इस अनुकरण व्यापार को प्रायः इसी अर्थ में अपनी रसव्याख्या में स्वीकार किया।

शंकुक में अनुकरण का अर्थ नकल भी नहीं है, क्योंकि रत्यादि स्थायी भावों की नकल होगी भी कैसे। अतः अनुक्रियमाण रति को शृंगार समझने वाले शंकुक का अनुकरण से आशय नकल से नहीं हो सकता, और इसीलिए उन पर यह आक्षेप भी असंगत है कि 'शंकुक की यह मान्यता कि रस स्थायी भाव की अनुकृति है, स्वीकार नहीं की जा सकती, अनुकृति अनुकार्य से भिन्न तथा निम्नकोटि की होती है, अतः रस भाव की अपेक्षा निम्नकोटि का सिद्ध हो जाएगा।'[2] शंकुक के विषय में इस प्रकार की विप्रतिपत्ति निराधार है, क्योंकि शंकुक का अनुकरण भरत के '**त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्**' की परंपरा में है, भरत ने भी नाट्य या रस को भाव का अनुकीर्तन कहा है।

अतः भारतीय काव्यचिंतन में अनुकृति की तुलना प्लेटो तथा अरस्तू के अनुकृतिवाद से की जाए तो केवल शंकुक ही नहीं उनके पूर्ववर्ती भरत तथा परवर्ती अभिनव को भी दृष्टि में रखा जाना चाहिए। डॉ. तारकनाथ बाली ने शंकुक के अनुकरण की तुलना प्लेटो तथा अरस्तू के साहित्यचिंतन से करते हुए कहा है कि प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत उसके दर्शन विशेष पर आधारित है। प्लेटो ने सृष्टि को मूल सत्य की अनुकृति माना है और साहित्य उस अनुकृति की भी अनुकृति है। शंकुक का अनुकरण अनुकृति की अनुकृति नहीं है। उन्होंने उसे एक नाट्य व्यापार के रूप में ही ग्रहण किया है। अरस्तू ने अनुकरणसिद्धांत को साहित्य के धरातल पर ही रखा, इसलिए प्लेटो की अपेक्षा शंकुक व अरस्तू में समानता है।

प्लेटो ने साहित्य या कला को 'इमीटेशन आफ ऐन इमीटेशन थ्राइस रिमूव्ड फ्राम ट्रुथ' कहकर हेय बताया। भरत, शंकुक तथा अभिनव में अनुकरण का यह अर्थ नहीं है। अरस्तू ने माध्यम, विषय तथा रीति की दृष्टि से अनुकरण की समस्या का हल करना चाहा है, वह अनुकरण को आनंदमूलक भी मानता है, अतः वह भारतीय चिंतन के अधिक निकट है।

परंतु अरस्तू तथा भरत आदि के अनुकरण सिद्धांतों में मौलिक अंतर भी हैं। अरस्तू ने अनुकरण पर ट्रेजेडी या काव्य की संपूर्ण रचना के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हुए उसे ट्रेजेडी का मूल तत्त्व माना है। 'ट्रेजेडी में कार्य का अर्थात् इच्छाशक्ति और विचारशक्ति से संपन्न मानव के कार्य का अनुकरण होता है। मानव जीवन में घटनाओं का क्रम ही कार्य है।...यह कार्य गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण और आदि-मध्य-अंत सहित भी होना चाहिए, अर्थात् ट्रेजेडी में कार्य की अन्विति होनी चाहिए'।[3] इस प्रकार अरस्तू में अनुकरण ट्रेजेडी और काव्य की संपूर्ण वस्तु का निर्धारण करता है। शंकुक ने अनुकरण का निरूपण नट के अभिनय के संदर्भ में ही किया है, अतः वहां अनुकरण की इतनी व्यापक विवृत्ति नहीं हो सकी। अनुकरण का व्यापक स्वरूप भरत में मिलता है। उन्होंने कहा कि इस त्रैलोक्य के सभी भावों का अनुकीर्तन ही नाट्य है।

अभिनवगुप्त ने भरत के इस कथन पर विचार करते हुए कहा कि अनुकीर्तन या अनुकरण से आशय नकल से नहीं लेना चाहिए, क्योंकि किसी की नकल करने पर रसनिष्पत्ति नहीं होती, उपहास अवश्य होता है। भरत ने भी कहा है कि दूसरे की चेष्टाओं की नकल करने से हास्य होता है (ना.शा., 7/10)। यदि अनुकीर्तन या अनुकरण किसी की चेष्टाओं का नहीं है, तो किसका है? अभिनव का कहना है कि यह अनुकीर्तन **'संविज्जातीय तथा संविद्विशेषरंजक'** होता है, वह चेतना के

स्तर पर संपन्न होकर उसी स्तर पर अनुभूत भी होता है। शंकुक ने भी इसी दृष्टि से कहा था कि अनुकरण स्थायी भावों का होता है। अभिनव में आकर अनुकीर्तन शंकुक की अपेक्षा दार्शनिक आधार ले लेता है। भरत और शंकुक में अनुकरण जहां नाट्य के ही संदर्भ में है, प्रेक्षक के आस्वाद की प्रक्रिया के संदर्भ में नहीं, वहीं अभिनव उसे प्रेक्षक की चेतना से भी संयुक्त करते हैं, तथा उसकी संविज्जातीयता संकेतित करने के लिए ही अनुकरण जैसे शब्द के स्थान पर 'अनुव्यवसाय' शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित समझते हैं।[4]

इस प्रकार भरत, शंकुक तथा अभिनव तीनों में अनुकरण की अवधारणा है तो एक ही परंपरा में किंतु उसकी व्याप्तियां कुछ भिन्न होती गई हैं। भरत में यह संपूर्ण नाट्य की संरचना बताने के लिए है। इस दृष्टि से भरत अपने दोनों परवर्ती व्याख्याकारों की अपेक्षा अरस्तू के निकट हैं। शंकुक ने अनुकरण की व्याख्या नट के अभिनयव्यापार के प्रसंग में की, अभिनव ने उसे नाट्य में व्यक्त चेतना तथा प्रेक्षक की चेतना के संदर्भ में समझाया। तीनों में मूलतः अंतर न होते हुए भी उनकी परिणति में अंतर है।

संदर्भ

1. डॉ. तारकनाथ बाली : रससिद्धान्त की दार्शनिक तथा नैतिक व्याख्या, पृ. 50
2. वही।
3. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पश्चिमी आलोचनाशास्त्र (उत्तर प्रदेश हिंदी समिति, 1965), पृ. 59
4. नाट्ये तु प्रत्येकं सामाजिको देशकालविशेषापरामर्शेन एवंकारिणामिदमिति लिङ्गात्मक-विधिसमर्पितं संविज्जातीयमेव संविद्विशेषरंजकप्राणवल्लभाप्रतिमरसास्वादसहचररम्य-गीतातोद्यादिसंस्काररसानुभववशेन हृदयाभ्यन्तरनिखातं तत एवोत्पुंखशतैरपि म्लानिमात्र-मप्यभजमानं भजंस्तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासासततस्यूतवृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति। इदानी-मुपायसंवेदनालाभात् तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायो नाट्यापरपर्यायः। नानुकार इति भ्रमितव्यम्। अनेन भाण्डेन राजपुत्रस्यान्यस्य वानुकृतेऽन्याकृ- तावन्यादिबुद्धेरभावात्। तद्धि विकारणमिति प्रसिद्धं हास्यमात्रफलं मध्यस्थानम्। यदभिप्रायेण मुनिर्वक्ष्यति परचेष्टानुकरणाद्धासस्समुपजायते ॥ (अ. 7/10)
तेनानुव्यवसायवत् विशेषविषयीकार्यं नाट्यम्। (नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, गायकवाड़ सं., प्रथम भाग, पृ. 36-47)

10

भट्टनायक तथा साधारणीकरण का सिद्धांत

रससूत्र के व्याख्याकारों में भट्टनायक संभवतः पहले हैं जिनमें आस्वाद की प्रक्रिया को स्पष्ट दार्शनिक शब्दावली में निरूपित करने की प्रवृत्ति मिलती है। मम्मट ने उनका मत संक्षेप में इस प्रकार समझाया है : 'न तो (सामाजिक को नट अथवा मूल पात्र से) तटस्थ मानने पर और न सामाजिक के भीतर रस मानने पर ही रस की निष्पत्ति समझी जा सकती है। रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न और न अभिव्यक्त, अपितु काव्य या नाटक में अभिधा के अतिरिक्त विभावादि का साधारणीकरण जिसका स्वरूप है, ऐसे भावकत्व व्यापार से भावित होकर स्थायी सत्त्वोद्रेक से युक्त प्रकाशमय और आनंदमय संवित् में विश्रांतिस्वरूप भोग व्यापार से भुक्त होता है।' भोग व्यापार से भुक्त होता हुआ यह स्थायी भाव ही रस है।

इस प्रकार भट्टनायक ने रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में अभिधा के अनंतर दो व्यापारों का योग माना : भावकत्व तथा भोजकत्व (भोग)। भावकत्व की कल्पना में उन्होंने मीमांसा दर्शन का सहारा लिया है। भावना (**भवितुर्भवनानुकूलो व्यापारविशेषः**) को मीमांसा में किसी प्रयोजन से होने वाला पुरुषनिष्ठ व्यापार माना गया। इस भावना के दो प्रकार बताए गए हैं : शाब्दी और आर्थी। इनमें से प्रथम द्वितीय का साध्य है। आर्थी भावना के—साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता—ये तीन अंश हैं। काव्यगत भावना में रस साध्य है, विभावादि का साधारणीकरण साधन तथा गुणालंकारादि का संयोजन अथवा अभिनय इतिकर्तव्यता (प्रक्रिया) है। इस प्रकार भावकत्व या भावना में ये तीनों व्यापार आ जाते हैं, परंतु साधारणतया भावकत्व से अभिप्राय विभावादि के साधारणीकरण से ही लिया जाता है (**तच्चैतत् भावकत्वं नाम रसान् प्रति काव्यस्य तद् विभावादीनां साधारणीकरणत्वापादनं नाम**—अभिनवभारती)। काव्य रसों का भावक है अतः उसमें भावना या भावकत्व रहता है।

रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में विभावादि का साधारणीकरण होता है—इस बात को भट्टनायक से ग्रहण करके अभिनवगुप्त ने उसे विस्तार दिया, यद्यपि उन्होंने भावकत्व या साधारणीकरण को काव्य का एक स्वतंत्र व्यापार मानने का विरोध किया। भोग के स्थान पर अभिनव ने अभिव्यक्ति का निरूपण किया, भट्टनायक व्यंजना को स्वीकार नहीं करते इसलिए उन्हें भोग व्यापार को ग्रहण करना पड़ा। रसिक या भावक के प्रकाश और आनंदमय चैतन्य (संवित्) में स्थायी भाव की विश्रांति होना ही भोग है। भोग अथवा संविद्विश्रांति का यह सिद्धांत नायक ने काश्मीर के शैव दर्शन से लिया है। काश्मीर के शैव दर्शन की समस्त धाराओं तथा उनके आधारग्रंथों में भोगतत्त्व का निरूपण किया गया है। भोग से वहां अभिप्राय व्यक्ति के सुख-दुःख अथवा मोहमय अनुभव से है। इस अनुभव से भिन्न विशुद्ध आनंद की अनुभूति परमभोग है।

गोविंद ठक्कुर ने काव्यप्रकाश की अपनी टीका काव्यप्रदीप में भट्टनायक के मत के विषय में कहा है : 'अत्र **सत्त्वरजस्तमसां गुणानामुद्रेकेण क्रमात् सुखदुःखमोहाः प्रकाशन्ते, उद्रेकेश्च स्वेतरावभिभूय अवस्थानमिति सांख्यसिद्धान्तानुसारेण विवृणुते**।' अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों का उद्रेक होने पर चित्त में क्रमशः सुख, दुःख या मोह की प्रधानता रहती है। रसास्वाद के समय सत्त्व का उद्रेक तथा अन्य दोनों गुणों का निगरण रहता है, अतः सुख की प्रधानता रहती है—यह भट्टनायक ने सांख्य के सिद्धांत के अनुसार कहा है। ठक्कुर के अभिमत के अनुसार भट्टनायक के सिद्धांत की सांख्यपरक व्याख्या भी की जा सकती है, और अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी सांख्य के त्रिगुणवाद से उन्हें प्रभावित माना है, किंतु सांख्य का त्रिगुणसिद्धांत शैव दर्शन में भी स्वीकार किया गया है, तथा लोचन और अभिनवभारती दोनों में भोग का जो लक्षण दिया गया है—'**निजचित्स्वभावविश्रांति तथा प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति**' वह सीधा शैव दर्शन से ही आया है। इस प्रकार भट्टनायक पर प्रत्यक्ष प्रभाव शैव दर्शन का ही है, तथा परोक्ष प्रभाव सांख्य का।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भट्टनायक की प्रमुख देन भावकत्व या साधारणीकरण के व्यापार की कल्पना मानी जाती है। साधारणीकरण की पीठिका लोल्लट तथा शंकुक ने अनुसंधान और अनुकरण व्यापारों के विवेचन में प्रस्तुत कर दी थी। शंकुक के अनुसार नाट्य में प्रेक्षक को होने वाली प्रतीति सम्यक्, संशय, सादृश्य, मिथ्या—इन सब प्रतीतियों से भिन्न है। तब वह प्रतीति है कैसी? चित्र में बने हुए घोड़े को देखकर किसी विशिष्ट अथवा देश-काल विशेष से संबद्ध घोड़े का बोध नहीं होता। इसलिए शंकुक की बात को यहां से आगे बढ़ाकर भट्टनायक ने कहा कि

चित्र में बने घोड़े की प्रतीति साधारणीकृत रूप में होती है, नाट्य में विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार साधारणीकरण की परिकल्पना भट्टनायक के पूर्व सर्वथा अपरिचित नहीं थी, पर भट्टनायक ने और उनसे अधिक उनके परवर्ती अभिनव ने उसे शैव दर्शन का सबल आधार दिया, जिससे वह प्रतिष्ठित हो सकी।

साधारणीकरण के मूल में समस्या यह है कि कई लोग एक साथ एक ही वस्तु को देखते हैं तो उन्हें वस्तु का बोध कैसे होता है? कुछ दर्शन किसी वस्तु के बोध के लिए तदाकाराकारितप्रतीति का सिद्धांत बताते हैं, अर्थात् वस्तु के बोध के समय व्यक्ति का चैतन्य उसी वस्तु के आकार में परिणत हो जाता है, तब उस वस्तु की प्रतीति होती है। शैव दर्शन में वस्तुओं के बोध के लिए इससे कुछ भिन्न दृष्टि अपनाई गई :

तं तं घटादिकमर्थमेकदेशव्यवस्थिताः प्रमातारः।
समं संवेद्यमानास्तावत्यंशे तदैक्यमुपयान्ति ॥

(जयरथ द्वारा तंत्रालोक की टीका में उद्धृत, तन्त्रालोक, 10/67)

जब कई लोग एक स्थान पर स्थित होकर किसी घड़े जैसी वस्तु को देखते हैं तो उन्हें उस वस्तु का एक साथ बोध होता है, और उतने अंश में वे उस वस्तु से ऐक्य का अनुभव करते हैं।

यहां देखी गई वस्तु से दर्शक के चैतन्य का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, ऐसा आशय नहीं है, अपितु उस वस्तु का एक समय और एक स्थान पर एक ही बोध विभिन्न लोगों को होता है, यह आशय है, उस वस्तु का बोध सब लोगों के भीतर साधारण हो जाता है (साधारण का यहां यही अर्थ है, जो अंग्रेजी में कामन का)। इस प्रकार उस वस्तु की प्रतीति साधारणीकृत रूप में होती है। अभिनवगुप्त ने इस सिद्धांत को नाट्य के क्षेत्र में लागू करते हुए कहा है :

तथाह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते ॥
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ॥

(तन्त्रालोक, 10/5/85)

अनेक सामाजिक जन जब एकाग्र होकर नृत्य आदि का अवलोकन करते हैं तो उस वस्तु के विषय में उनका तादात्म्य हो जाता है, (सबको एक ही रूप में एक साथ वह वस्तु भासित होती है) जिससे उस वस्तु के पूर्ण स्वरूप का अनुभव होता

है।

इस प्रकार जब सब लोगों को एक साथ एक ही रूप में नाट्य आदि में देखे गए विभाव आदि का बोध होता है तो वे विभाव आदि किसी विशिष्ट व्यक्ति से संबद्ध नहीं रह जाते। उनका बोध एकरूप होता है क्योंकि उनके देखने से एक ही सर्वात्मक चैतन्य सबके भीतर प्रतिबिंबित हो जाता है। इस प्रकार उस सर्वात्मक चैतन्य में जो तन्मयीभाव है, वह सबका होता है और उससे होने वाला आनंद भी किसी एक का न होकर सबका होता है। इस प्रकार वह आनंदनिर्भर चैतन्य प्रत्येक प्रमाता के भीतर एकत्व को प्राप्त होकर नृत्य आदि के विषय में पूर्णानंद के रूप में प्रकट होता है।

संवित् सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचेत् तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बाद् विकस्वरा ॥
उच्चलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिबिम्बतः।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वदेतादप्ययत्नतः ॥
अत एव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि।
यः सर्वतन्मयीभावे ह्लादो न त्वेककस्य सः ॥
आनंदनिर्भरसंवित् प्रत्येकं सा तथैकताम्।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते ॥
ईर्ष्याशयादिसंकोचकारणाभावतोऽत्र सा।
विकस्वरा निष्प्रतिघं संविदानन्दयोगिनी ॥
अतन्मये तु कस्मिंश्चित् तत्रस्थे प्रतिहन्यते ॥

(तन्त्रालोक, 27/373)

भट्टनायक ने साधारणीकरण का निरूपण काव्य या नाट्य में होने वाले एक व्यापारविशेष के रूप में किया था। काव्य या नाट्य में वर्णित अथवा प्रस्तुत विभाव आदि अपने वैशिष्ट्य को छोड़कर साधारणरूप में प्रतीत होते हैं। नाटक में हम जिस दुष्यंत को देख रहे हैं, वह हूबहू वही दुष्यंत नहीं हो सकता जो शताब्दियों पहले हुआ था। इसी को शास्त्रीय शब्दावली में कहा गया कि काव्य या नाटक में वर्णित दुष्यंत से दुष्यंतत्व का परिहार या निराकरण हो जाता है—वह किसी विशेष समय में विशेष स्थान में जन्मा हुआ व्यक्तिविशेष दुष्यंत नहीं रह जाता। अतः विभावादि के वैशिष्ट्य का परिहार (उनका विशेष न रहकर साधारण हो जाना) ही साधारणीकरण है।

अभिनव ने साधारणीकरण की अवधारणा भट्टनायक से ग्रहण की, साथ ही

उन्होंने शैव दर्शन के अनुकूल उसकी परिणति प्रेक्षक या प्रमाता के चैतन्य में प्रदर्शित की। जैसा पहले कहा गया, किसी वस्तु का बोध एक चैतन्य के रूप में अनेक लोगों में एक साथ अनुस्यूत रहता है, यह शैव मत का सिद्धांत है। अभिनव ने इस साधारणीकृत बोध की काव्य या नाट्य की अनुभूति के संदर्भ में व्याख्या करते हुए कहा कि काव्य या नाट्य में प्रयुक्त विभावादि में विभावन और अनुभावन आदि की जो सामर्थ्य रहती है, उसके कारण सहृदय न तो यह निश्चय कर पाता है कि ये विभावादि मेरे हैं, शत्रु के हैं या किसी अन्य (तटस्थ) के, और न वह यह ही निश्चय कर पाता है कि ये विभावादि न मेरे हैं, न शत्रु के और न तटस्थ के ही। इस प्रकार वह विभावादि के साथ अपने संबंध विशेष को न तो स्वीकार कर पाता है, न परिहार ही। इस प्रकार ये विभावादि उसे साधारणीकृत रूप में प्रतीत होते हैं। इस साधारणीकृत प्रतीति के कारण वह उन विभावादि के बोध में तन्मय हो सकता है। भट्टनायक तथा अभिनव दोनों के मत में प्रेक्षक के विभाव आदि के साथ तादात्म्य अथवा उनके अपने ऊपर आरोप का उल्लेख साधारणीकरण के प्रसंग में नहीं किया गया है। अभिनव ने तन्मयीभाव तथा एकीभाव जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, परंतु विभावादि से तादात्म्य के अर्थ में नहीं, अपितु यह बताने के लिए कि विभावादि के साधारणीकृत रूप के कारण सब सहृदयों में उनकी प्रतीति एकाकार होती है, अलग-अलग या विशिष्ट नहीं। इस एकाकार प्रतीति के कारण तन्मयता आ जाती है।

साधारणीकरण की तुलना प्लेटो और अरस्तू की सार्वजनीनता से की जाती है। अरस्तू के मत में नायक सार्वजनीन न होकर व्यक्ति रूप में ही अवस्थित रहता है, पर उसके दोष विशेष सार्वजनीन हो जाते हैं—अर्थात् उसकी दुर्बलता को सभी सहृदय अपनी दुर्बलता समझने लगते हैं। इस प्रकार विभावादि के वैशिष्ट्य का परिहार नहीं हो पाता। यह भट्टनायक के मत के विपरीत है। भट्टनायक ने अरस्तू के विपरीत यह कहा कि यदि सामाजिक नायक के दोष-गुण को अपना समझने लगे, तब आस्वाद नहीं हो सकेगा। शकुंतला के प्रति मेरे भीतर रति है, ऐसा दुष्यंत की भांति सामाजिक यदि सोचता है कि उसका व्यक्तित्व भी सीमित हो जाता है, जबकि भट्टनायक तथा अभिनव में साधारणीकरण का लक्ष्य सामाजिक के व्यक्तित्व को सीमाओं से मुक्त करना है।

अरस्तू की सार्वजनीनता भट्टनायक के साधारणीकरण की अपेक्षा सीमित है। उसमें काव्यजन्य समस्त अनुभूति को नहीं समेटा जा सकता, उसका दृष्टिकेन्द्र विशेष रूप से शोकांत नाटक का नायक है। भट्टनायक समस्त विभावादि के

साधारणीकरण का निरूपण करते हैं जिसके कारण काव्य का जगत् वस्तुजगत् के देशकाल आदि की सीमाओं से मुक्त हो जाता है।

साधारणीकरण के आधुनिक व्याख्याकारों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलंबनत्व धर्म के साधारणीकरण की बात कही है। उनके अनुसार आलंबन ऐसा होना चाहिए कि जो सभी के भाव का आलंबन हो सके, अर्थात् जनसाधारण का जो विभाव होगा वही काव्य में भी विभाव होने के योग्य है। इस प्रकार शुक्ल जी की धारणा भी भट्टनायक तथा अभिनव से भिन्न है। उनके अनुसार काव्य में वर्णित विभाव सामाजिक का भी विभाव बन जाता है जिससे वह विभावादि के साथ तादात्म्य का आरोप कर लेता है। इस तादात्म्यारोप का भट्टनायक तथा अभिनव के निरूपण में अवकाश नहीं है। भट्टनायक आलंबन के व्यक्ति रूप के तिरोभाव तथा सामान्य के उदय को साधारणीकरण में स्थान देते हैं।

भट्टनायक तथा अभिनव की साधारणीकरण की व्याख्या शैव दर्शन की दार्शनिक विचारधारा में बँधी होते हुए भी काव्य तथा नाटक की संप्रेषणीयता की सुसंगत व्याख्या करती है क्योंकि उसमें सामाजिक द्वारा अपने ऊपर नायकत्व आदि का आरोप अथवा विभाव के उसका आलंबन बनने की अपेक्षा के बिना ही आस्वाद की प्रक्रिया तक पहुंचा जा सकता है। यदि साधारणीकरण में अनुकार्य का आरोप अथवा सामाजिक का विभाव होना—इस प्रकार की शर्त रहती है तो उससे प्रमाता या प्रेक्षक के व्यक्तित्व का सीमित वैशिष्ट्य बना रहता है। उस स्थिति में वह अपने ऊपर दुष्यंतत्व या आलंबनत्व का आरोप करता है, अथवा अपने को दुष्यंत समझता है, तब उसकी अनुभूति दुष्यंत की अनुभूति होती है, काव्यार्थ की नहीं। अतः काव्यार्थ की अनुभूति प्रेक्षक को हो सके, इसके लिए यह मानना आवश्यक है कि दुष्यंतत्व आलंबन के देशकाल में सीमित वैशिष्ट्य का भी परिहार हो, तथा प्रमाता के देशकाल में सीमित व्यक्तित्व का भी। तब काव्य का बोध प्रमाता के चैतन्य में विश्रांत होता है। यही साधारणीकरण की वास्तविक परिणति है।

आगे चलकर पंडितराज जगन्नाथ ने भट्टनायक के मत को आधार बना कर रसस्वरूप के निरूपण में नई व्याख्या प्रस्तुत की। भट्टनायक पदार्थ और चेतना दोनों की रसानुभूति में सहवर्तिता स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से उन्हें द्वैतवादी कहा जा सकता है जबकि इस दृष्टि से आचार्य अभिनवगुप्त अद्वैतवादी हैं।

11
रसध्वनिविचार

पृष्ठभूमि

भट्टनायक के समय तक ध्वनिवाद सामने आ चुका था। व्यंजना व्यापार के आधार पर रस की व्याख्या भी की गई थी। भट्टनायक ने व्यंजना का विरोध किया था। काव्य के क्षेत्र में ध्वनि के विषय में उनका मत था कि ध्वनि काव्य का एक भेद हो सकता है, पर वह काव्य का अंश ही है, काव्य का स्वरूप नहीं :

> **ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यंजनात्मकः।**
> **तस्या सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्येंऽशत्वं न रूपता॥**

(अभिनवगुप्त द्वारा ध्वन्यालोकलोचन में उद्धृत)

इस प्रकार भट्टनायक तथा आनंदवर्धन दोनों के पूर्व ध्वनिवाद तथा उसके विरोधियों की परंपरा विद्यमान थी। आनंदवर्धन ने इसका संकेत अपने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में दे दिया था। ध्वनि का सिद्धांत रस के पूरक के रूप में तथा अलंकारवाद की प्रतिक्रियास्वरूप उपस्थित हुआ था। रस सिद्धांत में रसानुभूति तथा आस्वाद की प्रक्रिया के जटिल विवरण पर विवेचन केंद्रित होने लगा था, तथा अलंकारवाद में उक्तिवैचित्र्य के नाना प्रकारों पर। कवि का आशय क्या है, यह मूल बात आचार्यों की दृष्टि से ओझल होने लगी थी। इस उपेक्षित तथा मूलभूत पक्ष को लेकर ध्वनिसिद्धांत ने नए सिरे से काव्यचिंतन का उपक्रम किया।

इस प्रकार ध्वनि विचार का प्रारंभबिंदु यही था कि कवि की उक्ति के पीछे कुछ विशेष अभिप्राय छिपा रहता है जिसका बोध न तो रसविवेचन से जाना जा सकता है, न अलंकार से ही। कवि का यह अभिप्राय न तो इतना गूढ़ या छिपा हुआ ही रहता है कि सहृदय को उसे समझने के लिए मानसिक उठापटक करनी पड़े, और

न वह इतना स्पष्ट ही रहता है कि वह सामान्य या महत्त्वहीन प्रतीत हो। इस प्रकार ध्वनि के संबंध में परंपरागत मान्यता यह है कि वह ऐसा काव्य है जिसमें कवि का अभिप्राय कहीं तो स्पष्ट और कहीं छिपा हुआ सा रहे, 'क्वचित्प्रकाशः क्वचिदप्रकाशः।' अर्थ के कुछ खुले और कुछ छिपे रहने से जो सौंदर्य काव्य में आता है, उसे बताने के लिए स्त्री के सौंदर्य का उदाहरण दिया जाता है :

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशः
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामहिपिपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेतिमरहट्टवधूकुचाभः॥

आनंदवर्धन तथा उनके पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्यों के समक्ष अपने विचार की अवतारणा के लिए वाल्मीकि और कालिदास का काव्य प्रमुख आधार के रूप में था। आनंदवर्धन ने तो—ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है—अपनी इस स्थापना की पुष्टि के लिए अपने ग्रंथ के प्रारंभ में ही वाल्मीकि का प्रमाण उपस्थित किया है :

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वंद्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

साथ ही कविप्रतिभा की परख प्रतीयमान अर्थ की काव्य में उपस्थिति से ही हो सकती है, इस सिद्धांत की उपपत्ति के लिए उन्होंने कालिदास को उदाहरण स्वरूप स्मृत किया है। अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण के लिए भी आनंदवर्धन ने वाल्मीकि का एक पद्य प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः वाल्मीकि और कालिदास—इन दो कवियों के काव्य का अवगाहन करने पर काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ध्वनिवाद का प्रादुर्भाव आवश्यक तथा अपेक्षित ही था। यद्यपि अलंकारवाद ने काव्यसौंदर्य के समस्त पक्षों पर दृष्टि डाली थी, पर शब्द और अर्थ की वक्रोक्तिपरक मीमांसा में कई बार कवि की उक्ति का वास्तविक अभिप्राय इतना स्पष्टतः विवेचित नहीं हो पाता—यद्यपि कुंतक जैसे समर्थ आचार्यों के साथ यह सीमा कभी नहीं रही—अतः कवि के छिपे अभिप्राय को ही निकष बनाकर ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्यसमीक्षा का उपक्रम किया। ध्वनि विचार का मूल आधार—कवि के अभिप्राय का कहीं-कहीं पर सीधे शब्दों में न कहा जाकर सहृदय के समझने के लिए अनकहा या गूढ़ रहने देना—वाल्मीकि और कालिदास के काव्य में सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में परिलक्षित होता है। बात को कुछ शब्दों में इस तरह कहकर छोड़ देना कि उसका विस्तार और प्रसार देर तक सहृदय के मन में टीसता

रहे—यह कालिदास की शैली की विशेषता है। यद्यपि कालिदास का कवि हर स्तर पर वाल्मीकि से अनुप्राणित है, पर इस शैली का परिष्कार सर्वाधिक उन्होंने ही किया। कालिदास व्यंजना के कवि कहे जाते हैं और यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि उनके पश्चात् काव्यशास्त्र के क्षेत्र में व्यंजनावृत्ति तथा ध्वनिकाव्य की प्रतिष्ठा हो। उदाहरण के लिए हम उनका एक पद्य लें :

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीत् श्रुतस्य तत् किं सदृशं कुलस्य ॥

रघुवंश महाकाव्य में परित्यक्ता सीता लक्ष्मण के द्वारा राम का संदेश पाकर उनसे कहती हैं : तुम अपने उन राजा से कहना कि अपने समक्ष ही अग्नि में शुद्ध प्रमाणित हुई मुझको जो उन्होंने इस तरह लोकापवाद के कारण छोड़ दिया, वह क्या उनके उच्च कुल के अनुरूप है?

यहां केवल राजा—इस शब्द के प्रयोग से अर्थ के अनेक स्तर व्यंजित हो उठते हैं। सीता जैसी अनन्यनिष्ठ सहधर्मिणी के लिए राम एक राजा मात्र रह गए हैं—इससे वढ़कर दारुण दुःख उसके लिए क्या हो सकता है? राम का उसके प्रति व्यवहार न तो मानवीय है, न पति के अनुरूप ही, वह मात्र एक राजा का कठोर यंत्रणाप्रद निर्णय है, जिसको अब उसे जीवन भर झेलना है। सीता का मर्मांतक शोक, राम के प्रति उलाहना और शिकायत तथा राजधर्म की संपूर्ण व्यवस्था के प्रति आक्रोश—ये सभी भाव शब्दों से सीधे-सीधे न कहे जाकर केवल 'राजा' शब्द से प्रकट कर दिए गए हैं, और वह शब्द उन सबको अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणिक रूप में प्रकट कर सकता है, जिस कवि की सीता की पीड़ा को समझने के लिए परिपक्व अनुभूति हो, तथा उसे अभिव्यक्ति देने में भी जो सफल हो, वही इस प्रकार की रचना कर सकता है। इसीलिए ध्वनि के महान आचार्य आनंदवर्धन ने कहा कि महाकवि की वाणी से जब इस तरह की सफल व्यंजनाएं प्रवाहित हो उठें तो जानना चाहिए कि उसकी प्रतिभा सचमुच उत्कृष्ट है :

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

इसके साथ ही, कालिदास के ऐसे प्रयोगों के आधार पर ही आनंदवर्धन ने यह भी कहा कि जो सफल व्यंजना दे सकें, ऐसे शब्द और अर्थ की परख कवि को होनी चाहिए :

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥

इस प्रकार पदप्रकाश्यध्वनि—किसी एक शब्द के सटीक प्रयोग से सूक्ष्म अर्थों का अभिव्यंजित होना—से लेकर प्रबंधध्वनि—संपूर्ण काव्य में कवि का निगूढ़ आशय तक ध्वनि की परिकल्पना आनंदवर्धन जैसे पारखी आचार्यों ने वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों से प्रेरित होकर ही की। आनंदवर्धन ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है :

वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः ॥

(ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत में)

वाल्मीकि, व्यास आदि जो प्रख्यात कवीश्वर हैं, उनके आशयों के आधार पर ही हमने अपना सिद्धांत गढ़ा है। आनंदवर्धन ने काव्यचिंतन में काव्य की कसौटी कवि के निष्कृष्ट अभिप्राय को माना जिसे तात्पर्य, प्रतीयमान, व्यंग्य अर्थ या ध्वनि कहा गया। यदि कवि में प्रतिभा हो तो उसकी उक्ति में इस प्रतीयमान का सौंदर्य सर्वोपरि रहता है, अतः प्रतिभा की कसौटी व्यंग्य अर्थ का सौंदर्य है, तो उस सौंदर्य का निकष भी ऐसे कवि की प्रतिभा है। आनंदवर्धन ने यह माना कि वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों की प्रतिभा से अनंतसौंदर्यमंडित प्रतीयमान अर्थों की निरंतर सृष्टि होती है :

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥

(ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत)

यहां 'वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी एक कवि' से आशय कालिदास से ही हो सकता है।

जैसा कि हम आगे के अध्यायों में देखेंगे, अलंकारवादियों का अलंकार प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा काव्य का अधिक व्यापक, बड़ा और लचीला प्रतिमान है। ध्वनिवाद अपनी परिणति में काव्य के मात्र प्रतीयमान पक्ष पर ही केंद्रित हो जाता है, काव्य के अन्य पक्षों की सटीक व्याख्या वह नहीं कर पाता। इसलिए भट्टनायक ने ठीक ही कहा था कि ध्वनि काव्य का एक अंशमात्र हो सकता है, वह काव्य का सब कुछ ही नहीं है। फिर भी, ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वालों का जहां एक ओर तीव्र विरोध हुआ, वहीं संस्कृत काव्यशास्त्र में अंततः ध्वनिवाद को सर्वोपरि प्रतिष्ठा मिली। इसका कारण वस्तुतः यही था कि ध्वनिवाद ने वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों से प्रेरणा ही नहीं ली, कविप्रतिभा तथा काव्यसौंदर्य के अंतःसंबंध की भी गवेषणा की। आनंदवर्धन के समय तक अलंकारवाद कविप्रतिभा तथा

उसके कर्तृत्व को भूलकर उक्तिवैचित्र्य के भेदोपभेदों में उलझने लग गया था, अतः आनंदवर्धन तथा उनकी परंपरा के आचार्यों ने जब कवि की प्रतिभा तथा उसके अभिप्रायों के आधार पर काव्यशास्त्र के सिद्धांतों पर पुनर्विचार किया तो उन्हें जितना विरोध मिला, उतना ही सम्मान भी। यद्यपि आनंदवर्धन के पश्चात् अलंकारवादियों की परंपरा में आचार्य कुंतक ने कविप्रतिभा की विभिन्न परिणतियों तथा काव्य की वस्तु और रूप से उसके संबंध का जितना सूक्ष्म और तलावगाही विवेचन किया, उतना कोई ध्वनिवादी आचार्य भी नहीं कर पाया, पर कुंतक के समय तक ध्वनिसिद्धांत स्थापित होने लगा था, और उसके अनंतर अभिनवगुप्त ने उसे शैवदर्शन का ऐसा पुष्ट आधार दे दिया कि उसके सामने कुंतक का दार्शनिक पेचीदगियों से अलग, नितांत व्यावहारिक किंतु कविकर्म के अंतर्मर्म को उद्‌घाटित करने वाला विवेचन अनदेखा-सा कर दिया गया।

कहा जाता है कि ध्वनिवादियों ने अपने सिद्धांत की परिकल्पना व्याकरण के स्फोटदर्शन से ली थी। स्वयं आनंदवर्धन और मम्मट ने भी आग्रह के साथ यही मंतव्य प्रकट किया हैं। व्याकरण में शब्द नित्य और अनित्य दो प्रकार के माने जाते है। अनित्य शब्द वे ध्वनियां हैं जिन्हें हम अपने उच्चारण अवयवों से उच्चरित करते हैं। ध्वनि प्रतिक्षण विनष्ट होती रहती है फिर उससे अर्थबोध कैसे हो सकता है। इसी समस्या के उत्तर में वैयाकरण कहता है कि अनित्य शब्द नष्ट होते-होते मनुष्य की बुद्धि में स्थित नित्य शब्द की अभिव्यक्ति कर देता है जिसे स्फोट भी कहा जाता है। जिस प्रकार व्याकरण में स्फोट रूप व्यंग्य अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द को ध्वनि कहा गया, उसी प्रकार काव्य में प्रतीयमान व्यंग्य अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द तथा अर्थ को ध्वनि अथवा ध्वनिकाव्य कहा गया।

किंतु काव्य के क्षेत्र में प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि की कल्पना पहले की है, आनंदवर्धन आदि आचार्यों ने व्याकरण की प्रतिष्ठा का सहारा लेने के लिए उसके स्फोटवाद के आधार पर ध्वनि की व्याख्या आगे चलकर उसी प्रकार की, जिस प्रकार रसनिष्पत्ति की व्याख्या बाद में शैव या सांख्य आदि दर्शनों के आधार पर। काव्य में कहीं प्रकट तो कहीं कुछ गूढ़ अर्थ रहता है—यह मान्यता जिससे ध्वनि सिद्धांत मूलतः जन्मा, रामायण के रचनाकाल से ही चली आ रही थी :

रहस्यं च प्रकाशं यद्वृत्तं तस्य धीमतः।

(बालकांड, 2/34)

वैदेह्याश्चैव यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः।

(वही, 2/35)

वस्तुतः ध्वनिवादियों ने जिसे प्रतीयमान का व्यंग्य अर्थ कहा, उसका काव्य से संबंध इतना अनिवार्य है कि उसे अस्वीकार करके कोई भी काव्यचिंतन आगे नहीं बढ़ सकता। आनंदवर्धन के आविर्भाव के पूर्व अलंकारवादी आचार्य, जिन्हें ध्वनि का विरोधी समझा जाता है—भामह, दण्डी आदि—काव्य में प्रतीयमान की सत्ता तथा महत्ता को निरूपित कर ही चुके थे। पाश्चात्य काव्यचिंतन में भी किसी न किसी रूप में व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ को स्वीकारा जाता रहा है। ऐबरक्रांबी ने लिखा है : 'शब्दों को विचारों के वहन के लिए कुछ चीजों के वर्णन का मामूली माध्यम मात्र नहीं समझना चाहिए। वे कल्पना तथा अनुभव के साथ प्रतीकात्मक रूप में साम्य रखते हैं, वे किसी वस्तु के लिए व्यवहृत होने वाले माध्यम नहीं, अपितु उस वस्तु से तदाकार रहते हैं।' (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पश्चिमी आलोचनाशास्त्र, पृ. 14 पर उद्धृत अंश का अनुवाद)

एक अन्य पाश्चात्य समीक्षक विलियम एंप्सन ने तो ध्वनिवादी आचार्यों के समान यह माना है कि शब्दों के पीछे उनके सीधे-सीधे अर्थ के अतिरिक्त एक निगूढ़ भावात्मक अर्थ भी होता है। वस्तुतः अधुनातन समीक्षा के मानदंडों के आधार पर भी ध्वनि की मूल मान्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि से डॉ. नंदकिशोर देवराज मानते हैं कि ध्वनिसिद्धांत के भीतर सचाई यह है कि काव्य विशेष वस्तुओं के चित्र खड़े करना न होकर उनके द्वारा संकेतित मूल्यों का उद्घाटन है।

ध्वनिवाद तथा अन्य प्रस्थान

शब्द के साथ नियमतः जुड़ा अर्थ ही काव्य में सहृदय नहीं समझता, उसके अतिरिक्त कुछ और भी वह समझता है—इस तथ्य को काव्यचिंतन के सभी प्रस्थानों ने स्वीकार किया। ध्वनिवादी आचार्यों ने उस अन्य अर्थ की व्याख्या के लिए व्यंजना व्यापार का निरूपण किया। शब्द का एक अर्थ उसके साथ सदैव बना रहने वाला होता है जिसे हम अभिधा शक्ति से समझते हैं। कई बार यह अर्थ काम नहीं करता, तब उससे संबंधित अन्य अर्थ लिया जाता है। यह लक्ष्य अर्थ होता है जिसका बोध लक्षणा नामक शब्दवृत्ति से होता है। 'यह मनुष्य बैल है'- इस वाक्य में बैल का अर्थ—चार पैरों वाला विशेष पशु काम नहीं करता, तब उससे संबंधित दूसरा अर्थ 'बैल के समान मूर्ख' लिया जाता है। किंतु काव्य में कई बार अभिधा तथा लक्षणा दोनों शब्दवृत्तियों से विदित होने वाले अर्थ गौण हो जाते हैं, तथा प्रधानता उनके अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ की रहती है। यह व्यंग्य अर्थ है जिसका बोध व्यंजना व्यापार से होता है। कालिदास के कुमारसंभव में नारद और हिमालय के बीच पार्वती

के विवाह की चर्चा चल रही है और पार्वती वहां उपस्थित है। इस स्थिति के वर्णन में कवि ने कहा : 'जब नारद उसके विवाह की बात कर रहे थे, तो वह पिता के पार्श्व में नीचा मुंह किए बैठी लीला-कमल* के पत्ते गिन रही थी।'

एत एवं वादिनि देवर्षो पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में तीन बार यह पद्य उद्धृत किया है। उनके अनुसार यहां 'लज्जा' व्यभिचारी भाव प्रकाशित होता है, जो शब्द से परे है। उन्होंने इस पद्य में अर्थ की नवीनता को भी सराहा है। यहां पर शब्दों से सीधे निकलने वाला अर्थ तो पाठक के द्वारा समझा ही जाता है, साथ ही नीचा मुंह किए कमल के पत्ते गिनते रहने (वाच्य अर्थ) सें पार्वती की लज्जा, विवाह संबंधी चर्चा में मन अटका रहने पर भी अन्यमनस्कता का अभिनय, उत्सुकता आदि बातों को काव्य का रसज्ञ अपने मन में समझ लेता है। ये बातें शब्दों से सूचित होती हैं, फिर भी वे शब्दों से परे हैं, क्योंकि शब्द अपने आप में उन्हें बताने की सामर्थ्य नहीं रखते। काव्यपारखी उन्हें अपनी सहृदयता तथा संवेदना से समझता है। इसीलिए आनंदवर्धन ने कहा है :

शब्दानुशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

वह व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ शब्दानुशासन—व्याकरण तथा कोषगत अर्थ—के जान लेने भर से नहीं जाना जा सकता, उसको तो केवल काव्यार्थ के मर्मज्ञ ही समझ पाते हैं। इस कारण रसध्वनिवादी आचार्य समझदार व्यक्ति—सहृदय, भावक या रसिक को ही सर्वोपरि प्रमाण मान कर चलते है : **'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।'** कविता की संप्रेषणीयता, उद्देश्य तथा आस्वाद की दृष्टि से रसिक या विदग्ध को सर्वोपरि प्रमाण अलंकारवाद ने भी माना था, पर उसे प्रामाणिक लक्षण तथा प्रतिष्ठा आनंदवर्धन और अभिनव जैसे आचार्यों ने दी : **'येषां काव्यानुशीलनवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयसंवादभाजः'** काव्य के अनुशीलन से निर्मल हो चुके जिनके चित्त रूपी दर्पण में काव्य की विषयवस्तु के साथ तन्मयीभवन की योग्यता आ जाती है, वे सहृदय हैं। इस प्रकार काव्यार्थ की समझ के लिए पाठक का चित्त समस्त पूर्वाग्रहों, विक्षोभों से रहित निर्मल होना चाहिए। तब उसमें काव्य का मर्म अनुसंधान कर पाने की

* लीला कमल = कमल का वह फूल जिसे शोभा के लिए युवतियां हाथ में लिए रहती हैं।

प्रतिभा उदित होती है। ध्वनिवाद ने एक ओर काव्य के तात्पर्य के अनुसंधान के लिए कवि के अभिप्राय तथा उसकी प्रतिभा को प्रतिमान बनाया, तो दूसरी ओर उसके आस्वाद के लिए रसिक की प्रतिभा को। उसकी सफलता का कारण यही सुसंगत दृष्टि थी।

पार्वती नीचा मुंह किए कमल के पत्ते गिनती रही थी, ऐसा कहने से उसकी मनःस्थिति का मार्मिक रूप में बोध होता है, जो कि पार्वती लज्जित हो रही थी, अपने विवाह की बात सुनने को उत्सुक थी फिर भी अन्यमनस्कता दिखा रही थी, इत्यादि सूचनाओं के द्वारा कदापि नहीं होता। इसलिए लज्जा, उत्सुकता तथा अन्यमनस्कता की मनःस्थिति का बोध सीधे-सीधे विवरण दे देने से भी भले ही हो जाता हो, पर उससे सौंदर्य की अनुभूति नहीं होती।

किंतु यहां यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अलंकारवादी भी तो यही मानता है कि बात को सीधे-सीधे कह देने से सौंदर्य की अनुभूति नहीं होती। इसीलिए वह वक्रोक्ति व्यापार की कल्पना करता है जो उसकी दृष्टि में काव्य का प्राण है। तब व्यंजनावादी तथा अलंकारवादी में अंतर क्या है? तत्त्वतः तो अंतर नहीं ही है, केवल दृष्टि का भेद है। व्यंजनावादी मानता है कि इस पद्य में व्यंग्य अर्थ का चमत्कार ही अधिक है, वही विवक्षित है, अतः उसी की प्रधानता है और सौंदर्य भी उसी के कारण है। लज्जा, उत्सुकता आदि की प्रतीतिरूप यह व्यंग्य अर्थ शब्दों से सीधे-सीधे नहीं कहा जा सकता है अतः उसके बोध के लिए व्यंजना वृत्ति मानना आवश्यक है।

यहां फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि पार्वती नीचा मुंह किए कमल के पत्ते गिनती रही थी, ऐसा कहने पर ही यदि सौंदर्यानुभूति होती है, तो इस वाच्य अर्थ के ही कारण सौंदर्य है, इसी में चमत्कार है तथा तब इसी की प्रधानता मानी जानी चाहिए। रसध्वनिवादी कहता है कि यहां लज्जा आदि भावों की अनुभूति कराना कवि का लक्ष्य है, अतः वही प्रधान है। किंतु इस अनुभूति का आधार तो शब्द और उनका वाच्यार्थ—पार्वती का नीचा मुंह किए कमलपत्र गिनते रह जाना—ही उपस्थित करता है। यदि वह न हो, तो सहृदय को पार्वती के अंतस्तल के भावों की प्रतीति भी नहीं होगी। अतः यह मानना पड़ता है कि यहां वाच्य अर्थ भी विवक्षित है। यदि कवि को मात्र लज्जा-औत्सुक्य वाला अर्थ ही विवक्षित होता तो वह सीधे-सीधे कह सकता था कि पार्वती लज्जित होते हुए भी मन में उत्सुक थी। इस प्रकार यहां वाच्यार्थ विवक्षित है। फिर जो विवक्षित है वह अन्यपरक तथा गौण कैसे हो सकता है। यह ध्वनिवाद का अंतर्विरोध है—वह रसादि ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य मानता है—जहां वाच्यार्थ विवक्षित होते हुए भी अन्यपरक हो। इस पर महिमभट्ट ने आपत्ति

उठाते हुए कहा है :

किंचेदं विवक्षितान्यपरवाच्यत्वं नाम न बुध्याहे। यदि विवक्षितत्वं नाम प्राधान्यमुच्यते, तत् कथं तस्य अन्यपरत्वं घटते? अन्यपरत्वं ह्यन्यस्यांगभावो भण्यते। यस्य चांगभावः स कथं तदेव विवक्षितत्वात् प्रधान्यमनुभवेत्? इति यद् वाच्यस्य विवक्षितत्वमन्यपरत्वं चोपगतं तद् विप्रतिषिद्धं विवक्षितान्यपरत्वयोर्विरोधात्।

(महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ. 173)

यदि कवि पार्वती की लज्जा और उत्सुकता की बात को सीधे-सीधे शब्दों से कह देता तो सौंदर्य नहीं रहता। अतः वाच्य अर्थ के रहने पर यहां सौंदर्य की प्रतीति होती है, उसके लिए केवल व्यंग्य अर्थ पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार वाच्यार्थ चारुत्वप्रतीति के लिए अनिवार्य है, कवि को वह विवक्षित भी है। इस पद्य को यदि सहृदय पसंद करता है और बार-बार पढ़ना चाहता है तो वाच्यार्थ में जो कथनभंगी है उसी के कारण, मात्र लज्जा या उत्सुकता की अनुभूति के कारण नहीं।

परंतु व्यंजनावादी वाच्यार्थ के सौंदर्य या वक्रोक्ति को यह गौरव नहीं देता। वाच्यार्थ उसके लिए साधन भर है, साध्य तो व्यंग्य ही है, उसी में चमत्कार और सौंदर्य है। सीढ़ियों पर चढ़कर लक्ष्यस्थल पर पहुंच जाने पर जिस प्रकार सीढ़ियां व्यर्थ हो जाती हैं, उसी प्रकार व्यंग्य में विश्रांति हो जाने पर वाच्यार्थ अनावश्यक हो जाता है। ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन का यही कहना है :

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः।
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते॥
तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥

(ध्वन्यालोक, 1/9-12)

'जिस प्रकार (अंधेरे में) प्रकाश चाहनेवाला व्यक्ति दीपशिखा के लिए प्रयत्न करता है, क्योंकि दीपशिखा प्रकाश का उपाय है, उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ के लिए आदर रखने वाला (कवि) वाच्य अर्थ के लिए यत्न करता है। (क्योंकि वाच्य अर्थ व्यंग्य अर्थ का उपाय है।) जिस प्रकार अलग-अलग पदों या वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ से पूरे

वाक्य का अर्थ जाना जाता है, इसी प्रकार वाच्य जान लेने पर व्यंग्यार्थ। जिस प्रकार अपनी सामर्थ्य से वाक्य के अर्थ का बोध करा चुकने पर पद का अर्थ अलग से प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार वह व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से विमुख आत्मा वाले सहृदय जनों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में तुरंत अवभासित हो जाता है।'

आनंदवर्धन के उपर्युक्त मंतव्य से यह प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच सहृदय वाच्यार्थ से विमुख होकर ही काव्यार्थ की अनुभूति करता है? कालिदास के उपर्युक्त पद्य के आस्वाद के समय भी क्या मुख झुकाए कमलपत्र गिनती पार्वती का जो शब्दचित्र वाच्यार्थ में है, वह उसके मानस में निरंतर बना नहीं रहता? यदि यह कहा जाए कि पार्वती का यह चित्र तो सहृदय के मानस में बनता है, वह शब्द से वाच्य है ही कहां? वह भी व्यंग्य ही है। तब उस स्थिति में तो काव्य से गम्य प्रत्येक प्रकार का अर्थ व्यंग्य ही होगा। यदि शब्द से अनिवार्यतः संकेतित अर्थ ही वाच्य अर्थ है तो वह तो काव्य में सदैव गौण ही रहेगा, चाहे वह किसी भी श्रेणी का काव्य हो। इस दृष्टि से महिमभट्ट का आनंदवर्धन के ध्वनिकाव्य के लक्षण (जहां पर शब्द तथा उसका अर्थ दोनों अपने आपको गौण बनाकर अन्य अर्थ को प्रकट करें, वह काव्यविशेष ध्वनि हैं) पर वह आक्षेप चिंत्य है : **अर्थस्य तावदुपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव, तस्यार्थान्तरप्रतीत्यर्थान्तरमुपात्तस्य तद्व्यभिचाराभावात्।** (महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ. 21)

ध्वनिकाव्य में वाच्य अर्थ उपसर्जनीकृत (गौण या अप्रधान) रहता है, यह कहना भी अनुपादेय या अनावश्यक है, क्योंकि वह अर्थ तो सदैव अन्य अर्थ की प्रतीति के लिए आता है, अतः वह सदैव गौण ही रहेगा। यदि ध्वनिवादी वाक्य के तात्पर्यभूत समस्त अर्थों को व्यंग्य मानता है तो उसकी यह मान्यता असंगत हो जाती है कि काव्य के कई प्रकारों में वाच्य अर्थ भी प्रधान रह सकता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में व्यंजना का क्षेत्र अति व्यापक है, लक्ष्य अर्थ भी व्यंग्य अर्थ के सहयोग के बिना उत्पन्न नहीं हो पाता, और वाच्य अर्थ का क्षेत्र तो अत्यंत सीमित हो जाता है, तब वह किसी भी उक्ति में प्रधान बनकर रह ही कैसे सकता है? और यदि वह सदैव अप्रधान ही है, केवल व्यंग्य अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है, तब तो उसे विवक्षित (कवि के द्वारा कहने के लिए चाहा गया) भी नहीं होना चाहिए। किंतु ध्वनिवादी आचार्य जहां एक ओर तो वाच्यार्थ की भंगिमाओं के कारण आए हुए सौंदर्य को व्यंग्य कहकर वाच्यार्थ को सर्वथा गौण बताता है, वहीं दूसरी ओर वह उसे विवक्षित तथा प्रधान भी कहता चलता है। यह ध्वनिवाद का अंतर्विरोध है और जैसा हम अंतिम अध्याय में देखेंगे, इसके कारण वह काव्य का सही मूल्यांकन करने में कई बार चूक

जाता है। वह रस या ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर चलता है, और जहां-जहां उत्कृष्ट काव्यसौंदर्य देखता है वहां-वहां प्रधानता व्यंग्य अर्थ या ध्वनि की ही दिखाना चाहता है। आनंदवर्धन ने ध्वनिवाद की इस दुर्बलता का अनुमान संभवतः पहले ही कर लिया था और उन्होंने अपने अनुयायियों को संभवतः चेतावनी-सी देते हुए कहा भी था : **'न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्।'** अच्छे आचार्य या समीक्षक को चाहिए कि वह काव्य के सुंदर स्थलों में सर्वत्र ध्वनि ही ध्वनि न देखे। किंतु दूसरी ओर आनंदवर्धन ने ही देह और आत्मा की शब्दावली काव्य पर आरोपित करके यह मान्यता भी प्रचारित की कि व्यंग्य या प्रतीयमान ही काव्य का प्राणभूत है अतः उसकी उपस्थिति ही काव्य की सारवत्ता और चमत्कार का एकमात्र कारण है। जिन काव्यों में व्यंग्य अर्थ अस्फुट या एकदम दबा हुआ रहता है, वहां भी काव्यत्व तो इसीलिए है कि व्यंग्यार्थ वहां उपस्थित है। यही नहीं, यदि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तो प्रतीयमान उसकी आत्मा। ऐसा मानकर चलने पर प्रतीयमान अर्थ देहभूत शब्दार्थ से सर्वथा परे और पृथक् हो जाता है :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

(ध्वन्यालोक 1/4)

काव्य में प्रतीयमान अर्थ तो वाच्य आदि से कुछ अलग ही वस्तु है, वह काव्य के प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त रहकर चमत्कार उत्पन्न करता है, जिस प्रकार सुंदर स्त्री का लावण्य उसके हाथ-पैर आदि अवयवों से अतिरिक्त अनुभव किया जाता है। किंतु काव्यसौंदर्य या प्रतीयमान अर्थ काव्य के शब्द, अर्थ आदि उपादानों से परे है, तो प्रश्न यह आता है कि वह रहता कहां है? चूंकि वह सहृदय के द्वारा ही संवेद्य है, इसलिए यही कहना पड़ेगा कि उसका अस्तित्व काव्य में न होकर सहृदय में है। इस प्रकार रसध्वनिवाद शब्द, अर्थ आदि काव्य के उपादानों के आधार पर उसका मूल्यांकन न करके सहृदय की प्रतीति के आधार पर करता है। वाच्य अर्थ सबके लिए एकरूप है, व्यंग्य या प्रतीयमान अनियत होने से विभिन्न लोगों को विभिन्न रूपों में भी भासित हो सकता है। रसनिष्पत्ति के व्याख्याकारों ने साधारणीकरण के व्यापार के आधार पर इस प्रकार के विकल्प और वैविध्य का निराकरण करके रसास्वाद की एकरूपता स्थापित की थी, पर व्यंजनावादी की दृष्टि से व्यंग्य अर्थ के विकल्प तथा वैशिष्ट्य बने रहते हैं। आनंदवर्धन तथा मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों का यही अभिमत है :

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तृन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ।

नहि गतोऽस्तमर्कः इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते... इत्यादिरनवधिर्व्यंग्यार्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति। (काव्यप्रकाश : पंचम उल्लास) एवंविधादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते। - (वही)।

सहृदय के अनुभव को निकष मान लेने पर जहां ध्वनिवाद की सामर्थ्य प्रकट हुई, वहीं उससे उसकी दुर्बलता भी ध्वनित हो जाती है। किसी सहृदय को असुंदर उक्ति में भी किसी न किसी कोण से सौंदर्य के दर्शन हो सकते हैं। शब्द, अर्थ आदि काव्य के अंगों को छोड़कर, काव्यसौंदर्य को उनसे परे मानकर सहृदय की प्रतीति के आधार पर ही उसका मूल्यांकन ध्वनिवाद ने किया, उससे काव्य के अनेक निगूढ़ पक्षों का उद्‌घाटन तो हुआ, पर काव्य को समझने का एक ठोस आधार उससे छूटता गया।

सौंदर्य के संबंध में दो दृष्टियां हो सकती हैं : एक तो यह है कि वह सुंदर वस्तु में रहता है, दूसरी यह कि वह वस्तु में नहीं प्रमाता या देखने वाले के भीतर रहता है। भारतीय दर्शन में पहली दृष्टि के बीज न्याय-वैशेषिक जैसे वस्तुपरक दर्शनों में तथा दूसरी के बौद्धों के विज्ञानवाद, वेदांत, सांख्य आदि आत्मपरक दर्शनों में है। रसध्वनिवादी चिंतन दूसरी दृष्टि की परंपरा में आता है। कुछ आधुनिक पंडितों ने ध्वनिवाद पर एक आक्षेप यह भी किया है कि व्यंजना तो शब्दव्यापार है, वह उस व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ का बोध कैसे करा सकता है जो प्रमाता के भीतर रहता है, शब्द में रहता ही नहीं? इसके उत्तर में व्यंजनावादी कह सकता है कि व्यंजना शब्दव्यापार तो है, पर वह साक्षात् शब्दव्यापार नहीं है। शब्द अपने आपमें व्यंग्य या प्रतीयमान का बोध कराने की शक्ति नहीं रखता, जिस प्रकार सोपान खुद-ब-खुद ऊपर चढ़ने वाले को ऊपर नहीं पहुंचा देता। वक्ता, प्रतिपत्ता, प्रकरण आदि की सहायता से प्रमाता शब्द के द्वारा प्रतीयमान तक पहुंचता है।

व्यंजनावादी शब्द से प्रतीयमान तक पहुंचने की इस प्रक्रिया की सुसंगत व्याख्या तो देता है, पर प्रतीयमान तक पहुंचने के पश्चात् प्रायः उसका स्थूल आधार वह छोड़ देता है। प्रतीयमान तो काव्य के उपादानों से भिन्न अन्य ही कुछ वस्तु है ऐसा कहकर वह प्रतीयमान को विलक्षण ही नहीं, काव्य के स्थूल उपादानों से निरपेक्ष भी बना देता है। वह यह भी घोषित करता है कि प्रतीयमान अर्थ शब्द तथा उसके वाच्य अर्थ से अनियतसंबंध वाला भी हो सकता है। यदि प्रतीयमान का वाच्य अर्थ से संबंध होना आवश्यक नहीं है तो कवि को उस वाच्य अर्थ का प्रयोग करने की

आवश्यकता ही क्या है? इसके उत्तर में ध्वनिवादी कहता है : शब्द और वाच्य अर्थ उस प्रतीयमान तक पहुंचने के उपाय हैं। उपेय को पा लेने पर उपाय की आवश्यकता समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रतीयमान तक पहुंच चुकने पर वाच्य आदि की। किंतु क्या काव्यबोध की प्रक्रिया में वास्तव में ऐसा होता है?

काव्य के अवयवों—शब्द, पदरचना, वक्रोक्ति, वाच्यार्थ आदि—से प्रतीयमान अर्थ विलक्षण भले ही हो, पर क्या वह इनके बिना टिका रह सकता है? यदि नहीं, तो वह इनसे पृथक् कैसे है?

किंतु ध्वनिवादी प्रतीयमान अर्थ को अपनी परिणति में काव्य के विभिन्न उपादानों से स्वतंत्र तो मानता ही है, देह और आत्मा की शब्दावली का आग्रह लेकर अलंकारों को काव्य में हार-कंगन आदि आभूषणों के समान बाह्य मानता है। किंतु जिस प्रकार स्त्री के शरीर से आभूषण उतारकर अलग किए जा सकते हैं, और अलग कर देने पर भी स्त्री का लावण्य प्रायः यथावत् बना रह सकता है, उसी प्रकार क्या काव्य के अलंकार को अलग किया जा सकता है? ध्वनिवादी इसका उत्तर हां में देता है—तो उसका मंतव्य अलंकार की मूल अवधारणा के ही विपरीत बैठता है। अलंकारवादियों की दृष्टि में अलंकार काव्य के अंतरंग तथा बहिरंग दोनों से संश्लिष्ट है। परिकर जैसे अनेक अलंकारों के पीछे तो धारणा ही यही है कि काव्य में एक-एक पद का प्रयोग इतना मंजा हुआ तथा सटीक हो कि उसे अपने स्थान से हटाया न जा सके। आगे चलकर इसी आधार पर पदनिवेशनिष्कम्पता या काव्यपाक की अवधारणा पल्लवित हुई, जिसका विशेष विवरण काव्यपाक संबंधी अध्याय में दिया गया है।

वस्तुतः यदि विशिष्ट उक्ति काव्य है (**उक्तिविशेषः काव्यम्**—राजशेखर), तो यह उक्ति अपने आपमें संश्लिष्ट संपूर्ण इकाई होती है, उसके सभी अवयव एक-दूसरे में इस प्रकार गुंथे रहते हैं कि उन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र तथा निरपेक्ष रूप में देखना असंभव है। यही नहीं, काव्य का वैशिष्ट्य भी इसी में है कि उसका प्रत्येक अवयव एक-दूसरे को अलंकृत करता है। कामिनी को ही भूषण अलंकृत नहीं करते, वह भी भूषणों को अलंकृत करती है। कालिदास ने अपनी एक नायिका के विषय में यह कहा है :

आभरणस्याप्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥

ध्वनिवादी ने अपने काव्यचिंतन का प्रमाण भी कालिदास को बनाया, उन्हें

अत्यंत विचित्र परंपराओं वाले कवियों के संसार में दो-तीन या ज्यादा से ज्यादा पांच कवियों में से अन्यतम घोषित किया, पर अलंकार के विषय में कवि की यह सौंदर्यमूलक दृष्टि वह नहीं अपना सका। अलंकारवादी आचार्यों ने कवि की इस दृष्टि को अपने काव्यचिंतन में स्वीकार किया। इसीलिए उनमें अलंकार तथा अलंकार्य के पार्थक्य पर इतना आग्रह नहीं है, अलंकार के व्यापक रूप के भीतर दोनों समाविष्ट हैं। अलंकार तथा अलंकार्य के भेद का सबसे अधिक आग्रह ध्वनिवादियों ने ही किया। उनकी दृष्टि में जो अलंकार है, वह अलंकार्य कैसे हो सकता है? किंतु उनसे पहले भामह, दण्डी आदि आचार्य काव्य के ऐसे अनेक स्थल दिखा चुके थे, जहां अलंकार भी अलंकार्य बन जाता है। ध्वनिवादियों ने ऐसे स्थलों के विषय में कहा कि यहां पर अलंकार को ब्राह्मणश्रमणन्याय से ही अलंकार कहा जाता है, वास्तव में तो वह अलंकार नहीं ही है। संन्यास लेने के पहले यदि कोई ब्राह्मण था तो उसे श्रमण बन जाने पर भी पहचान के लिए 'ब्राह्मण-श्रमण' कहा जाता है उसी प्रकार वाच्य के रहने पर जो अलंकार था, वही व्यंजना से प्रकट किये जाने पर अलंकार नहीं रह गया, फिर भी उसे अलंकार या अलंकार-ध्वनि कहते हैं।

काव्य की सफलता इसी में है कि उसमें सबके सब अवयव एक-दूसरे को अलंकृत करते हुए इस प्रकार घुलमिल जाते हैं कि किसका चमत्कार अधिक है तथा किसकी प्रधानता अधिक है, इस प्रकार के विमर्श के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता। अलंकारवादियों ने जो इस दृष्टि से विशेष विचार नहीं किया कि काव्य में कौन-सा अलंकार्य है तथा कौन-सा उसे अलंकृत करने वाला तत्त्व, उसके पीछे यही कारण हो सकता है। उदाहरण के लिए हम पूर्वप्रस्तुत कालिदास के पद्य पर इस दृष्टि से फिर विचार करें। इस पद्य को ध्वनिवादी ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य का ही उदाहरण कहेगा, जिसमें व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ का सौंदर्य तथा चमत्कार सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा रहता है, तथा वाच्य आदि काव्य के अन्य उपादान उसके सामने दबे रहते हैं। इस पद्य में पार्वती के अपने विवाह की बात को सुनने में लज्जा, मन में उत्सुकता पर ऊपर से तटस्थता दिखाना आदि अर्थ व्यंग्य हो सकते हैं। वस्तुतः सहृदय अपनी कल्पनाशीलता से यहां अनंत अर्थों की कल्पना कर सकता है, जिनकी सबकी प्रतीति उसे व्यंजना से होगी। वह यहां शंकर के प्रति पार्वती की रति को भी प्रतीयमान मान सकता है। वाच्य अर्थ सुस्पष्ट और निर्धारित है उसमें केवल यही कहा गया है कि उस समय पार्वती मुख नीचा किए कमलपत्र गिनती रही थी। व्यंग्य अर्थ यहां पर भले ही अगणित संख्या में निकलें, अथवा निकाले जाएं, फिर भी कमलपत्र की गणनारूप जो सुस्पष्ट, निर्धारित वाच्यार्थ है, उसकी सुंदरता क्या उन

अनंत व्यंग्य अर्थों से कम है? पार्वती की लज्जा, अन्यमनस्कता आदि भावनाएं यदि उसके कमलपत्र गिनते रहने की बात से उपपन्न होती हैं तो क्या उसकी लज्जा, अन्यमनस्कता आदि भावनाओं से उसका कमलपत्र गिनते रहना उपपन्न नहीं होता? ध्वनिवादी कौन अलंकार्य है अथवा किसकी प्रधानता अधिक है—यह जांचने का एक मानदंड यह भी निर्धारित करता है कि जिसको उपपन्न करने के लिए या जिसकी सिद्धि के लिए अन्य काव्यांग उपयुक्त हों, वही अलंकार्य तथा प्रधान होगा। यहां कमलपत्र गिनते रहने की सिद्धि लज्जा आदि भावों के बिना नहीं होती, और न लज्जा आदि भावों की सिद्धि कमलपत्र गणना के वाच्य अर्थ के बिना हो सकती है। इस तरह वाच्य और व्यंग्य अर्थ के बीच अगांगीभाव का संबंध न होकर परस्पर भूषणभूष्यभाव या उपकार्योपकारकभाव माना जाना चाहिए। कालिदास की ही शब्दावली साधारण भूषणभूष्यभाव है, अर्थात् भूषणता और भूष्यता वाच्य तथा व्यंग्य में उभयनिष्ठ है, इनमें एक केवल भूषण व दूसरा केवल भूष्य हो—ऐसा नहीं। काव्य की समग्र संरचना में दोनों एक-दूसरे को उपकृत करते हैं। अतः दोनों एक-दूसरे की सिद्धि कर रहे हैं, तब फिर किसकी प्रधानता अधिक है? यहां ध्वनिवादी यह भी कह सकता है कि यदि किसकी प्रधानता अधिक है—इसमें संदेह है तो यह संदिग्धप्राधान्य नामक गुणीभूतव्यंग्य या मध्यमश्रेणी का काव्य माना जाएगा। इस प्रकार जिसे काव्य की शक्ति कहा जा सकता है, वह ध्वनिवाद की दृष्टि से तो ऐसी स्थिति में कवि की दुर्बलता मानी जाएगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनिवाद का उपक्रम तो इस प्रतिज्ञा के साथ हुआ था कि कवि की दृष्टि तथा आशय क्या है, वह कहना क्या चाहता है—इस आधार पर ही कविता की जांच होनी चाहिए। कवि का आशय वही नहीं होता जो शब्दों से सीधे-सीधे अथवा अभिधा शक्ति से वाच्य अर्थ के रूप में प्रकट हुआ है, वह प्रायः इनके भीतर छिपा रहता है। समझने वाला काव्यमर्मज्ञ भी काव्य से केवल उतना ही नहीं समझता, जितना अभिधा से कहा गया है। इन दोनों दृष्टियों से प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ को काव्य का प्रतिमान बनाया गया। प्रतीयमान की अवगति अलंकारवादियों को भी थी, पर उन्होंने कवि के आशय तथा सहृदय की प्रतीति के उद्‌घाटन के लिए उसे काव्य के प्रतिमान के रूप में स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से ध्वनिवाद अलंकारवाद की अपेक्षा काव्य को समझाने में अधिक सफल तथा सहायक हुआ।

ध्वनिवाद को इसलिए भी सफलता मिली कि उसने काव्य में रस का महत्त्व स्वीकार करके उसे अपने सिद्धांत में सबसे ऊपर प्रतिष्ठापित किया। अलंकारवादियों ने भी रस पर विचार किया था तथा उसे अलंकार का ही एक अंश माना था। यदि

अलंकार का स्वरूप व्यापक रूप में समझा जाए तो रस उसका एक अंश ही होगा। अतः अलंकारवादियों की दृष्टि गलत नहीं थी। किंतु उन्होंने आगे चलकर स्थूल दृष्टि से अलंकार के उपमा आदि जो भेद किए, उन्हीं में से एक रस को भी मान लिया। इससे उपमा, रूपक आदि सामान्य अलंकारों से रस का वैशिष्ट्य नहीं रह गया। ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन के ध्वनि के मोटे तौर पर तीन भेद किए : वस्तु, अलंकार तथा रस। इनमें उन्होंने रसध्वनि को सर्वोपरि स्थान दिया। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही कहा कि इन तीनों में रसध्वनि ही वास्तव में ध्वनि है, वस्तु तथा अलंकार—इन दोनों ध्वनियों का पर्यवसान अंततः रसध्वनि में ही होता है।

यहां तक ध्वनिवाद की सफलता स्पष्ट थी। किंतु उसका विरोध हुआ तथा अलंकारवादियों की एक परम्परा प्रायः निरंतर उस पर आक्षेप करती रही। इसका कारण यह है कि ध्वनिवाद में व्यंग्य या प्रतीयमान सूक्ष्म, अमूर्त हो जाता है, और काव्यसौंदर्य के मूर्त उपादानों को छोड़ देता है। इसमें उसके चिंतन में अस्पष्टता तथा मूल्यांकन में असंगतियां आ जाती हैं। वाच्यार्थ भले ही कैसा भी हो, उसमें किसी-न-किसी आधार पर कुछ भी व्यंग्यार्थ निकालकर उसे उत्तम काव्य सिद्ध किया जा सकता है। ध्वनिवादी मम्मट एक ओर तो कहते हैं कि वाच्यार्थ से असंबद्ध व्यंग्यार्थ नहीं हो सकता, नहीं तो 'पूर्व दौड़ता है' का अर्थ 'अपूर्व दौड़ता है' होने लग जाएगा। दूसरी ओर वे व्यंग्य को वाच्य से अनियत संबंध वाला भी कह देते हैं। तब, जैसाकि हम अंतिम अध्याय में देखेंगे, पूर्व के अपूर्व तथा अर्थ के अनर्थ होने की संभावना ध्वनिवाद में सत्य होने लगती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रसध्वनिवाद की एक दुर्बलता यह थी कि वह एक सीमा के बाद तर्काश्रित न होकर तर्कातीत होने में विश्रांति खोजता है। इसके कारण उस पर सबसे कठोर प्रहार अनुमितिवादी महिमभट्ट ने किया। महिम के पूर्व शंकुक रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में अनुमान की उपादेयता प्रकाशित कर चुके थे, महिम ने उनसे आगे जाकर समस्त ध्वनिवाद को अनुमान में गतार्थ कर दिखाया। उनके अनुसार ध्वनिवाद में जितने भी प्रकार का व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ हो सकता है, वह सब अनुमेय ही है, अतः व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। अनुमान के द्वारा काव्य के समस्त अर्थ का बोध सहृदय कर सकता है, और अनुमान से ज्ञात होने वाला यह अनुमेय अर्थ अनुमेय वस्तु, अनुमेय अलंकार, अनुमेय रस इत्यादि भेदोपभेदों में विभाजित होकर प्रतीयमान अर्थ की समस्त कोटियों को आत्मसात् कर सकता है।

महिम का मूल तर्क यह था कि शब्द से सीधे प्रकट होने वाले अर्थ-वाच्यार्थ-तथा उसके अनंतर सहृदय को प्रतीत होने वाले व्यंग्य अर्थ, इन दोनों में कोई संबंध

है या नहीं? यदि संबंध है, तो वाच्य अर्थ को व्यंग्य अर्थ का हेतु या ज्ञापक मानना पड़ेगा। जिस प्रकार धुआं देख कर अग्नि का अनुमान होता है और उसमें धुआं ज्ञापक हेतु बनता है और अग्नि अनुमेय या साध्य, उसी प्रकार वाच्य रूप ज्ञापक से व्यंग्य रूप ज्ञेय या साध्य अर्थ अनुमित होता है। इस तार्किक सरणि पर चलते हुए महिम ने ध्वनिवाद के जिन विरोधों को पकड़ा, उनमें से कुछ का संकेत पहले किया जा चुका है। ध्वनिवाद की उपलब्धियों के संदर्भ में एक बात यह भी कही जाती रही है कि वह अलंकारवाद की अपेक्षा काव्य के तारतमिक मूल्यांकन करने में अधिक सफल रहा, अर्थात् व्यंग्य के चमत्कार तथा प्राधान्य के आधार पर काव्य की उत्तमता, मध्यमता या अधमता पहचानी जा सकती है (मम्मट ने तो उक्त आधार पर काव्य की ये तीन श्रेणियां भी बनाई थीं)। महिम ने सीधा इस पर आक्षेप किया : 'ध्वनिवादी ध्वनि को 'काव्यविशेष' कहता है, यह तो अनुपपन्न है, क्योंकि उसके लिए काव्यमात्र ध्वनि है, और यह काव्यमात्र, उसी की मान्यता के अनुसार रसात्मक भी है, तब उसमें विशेष या निर्विशेष की कोटियां कैसे बन सकती हैं, क्योंकि रसात्मक काव्य तो निर्विशेष–सुखास्वाद स्वरूप ही होता है?' महिम ने यह भी दिखाया कि किस प्रकार अनुमान की तार्किकता से वियुक्त होने पर ध्वनिवाद 'प्रहेलिकाप्राय' पद्यों को भी उत्तम काव्य समझ लेता है।

महिमभट्ट का ध्वनिवाद का खंडन अलंकारवाद के पक्ष को पुष्ट करता है, क्योंकि महिम का अपना कोई प्रस्थान नहीं है। वे व्यंजनावृत्ति और ध्वनिवाद का विरोध करते हैं, पर काव्य में रस की पराकाष्ठा को स्वीकार करते हैं। महिम की यह दृष्टि उन्हें अलंकारवाद के निकट ला देती है। जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे, काव्य में रस की पराकाष्ठा को बिना व्यंजनावृत्ति माने अलंकारवादी आचार्यों ने भी स्वीकार किया ही था।

राजशेखर, मुकुलभट्ट तथा महिमभट्ट, इन तीन आचार्यों का दृष्टिकोण सामने रखने पर हम व्यंजनावाद के विरोध को समझ सकते हैं। मुकुलभट्ट ने अपनी अभिधावृत्तिमातृका में तथा महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में अभिधा को ही शब्द की एकमात्र शक्ति माना। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में विभिन्न काव्यप्रस्थानों के उल्लेख में ध्वनि को कहीं स्थान नहीं दिया। व्यंजना तथा ध्वनि का विरोध करने वाले ये तीनों आचार्य 9वीं से 11वीं शती के बीच हुए थे। तीनों ने किसी विशेष प्रस्थान से प्रतिबद्धता प्रकट नहीं की, पर अभिधा को ही एकमात्र शक्ति सिद्ध करने से उनके द्वारा अलंकारवादी धारा का ही परिपोष किया गया था क्योंकि अलंकारवादियों ने समस्त काव्यसौंदर्य को अलंकार की व्यापक अवधारणा के भीतर निरूपित किया

था, तथा अलंकार के बोध के लिए अभिधा शक्ति को ही पर्याप्त समझा था।

व्यंजना का कोई उल्लेख न करते हुए भी राजशेखर काव्य में रस को सबसे वरेण्य तत्त्व समझते हैं। यही बात महिमभट्ट के साथ भी है, पर वे व्यंजना के विरोध में सर्वाधिक मुखर हैं। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की अंग-प्रत्यंग का रूपकात्मक प्रतिपादन करते हुए कहा है कि इस काव्यपुरुष का आत्मा रस है। महिमभट्ट ने काव्यार्थबोध की प्रक्रिया तो व्यंजना के स्थान पर अनुमान से प्रदर्शित की, पर काव्य की आत्मा रस को ही माना :

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।

(व्यक्तिविवेक)

महिम ने इस रस का बोध अनुमिति की प्रक्रिया के द्वारा स्थापित किया। उनके काव्यानुमितिवाद का खंडन करना व्यंजनावादी के लिए दुष्कर कार्य था। महिम के मत का खंडन करते हुए मम्मट केवल इतना ही कह पाते हैं कि व्यंग्य अर्थ वाच्य से असंबद्ध होकर भी प्रतीत हो सकता है, जबकि अनुमान के लिए हेतु और अनुमेय—लिंग तथा लिंगी—के बीच अनिवार्य संबंध होता है। अनुमितिवादी की ओर से इसके प्रत्युत्तर में फिर यह कहा जा सकता है कि कोई तो ऐसा आधार अनिवार्यतः होगा ही, जिससे वाच्य अर्थ के पश्चात् व्यंग्य की निष्पत्ति होती हो, उस आधार को लेकर दोनों में संबंध स्थापित हो जाएगा, तब उस संबंध की व्याप्ति बन सकेगी और यह अंततः अनुमिति की ही प्रक्रिया को पूर्ण करेगी।

रसध्वनि विषयक चिंतन की परंपरा में आचार्य अभिनवगुप्त अविस्मरणीय हैं। उन्होंने रस तथा ध्वनि, इन दोनों काव्य-प्रस्थानों का इस प्रकार पूर्ण समन्वय स्थापित किया कि इन्हें एक-दूसरे से पृथक् रूप में देखना असंभव हो गया। यद्यपि उनके पूर्व आचार्य आनंदवर्धन ने रस को ध्वनिवाद की परिधि में लेकर उसे उसके साथ एकाकार कर दिया था, पर अभिनव ने आनंदवर्धन के सिद्धांत को दार्शनिक आधार देकर परिपुष्ट किया।

अभिनवगुप्त की रसमीमांसा

रसनिष्पत्ति पर विचार करते समय अभिनव की दृष्टि मूलतः स्थायी भाव केंद्रित रही है। उन्होंने स्थायी भाव की व्याख्या दो दृष्टियों से की : दार्शनिक दृष्टि से तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से। दार्शनिक आधार पर उन्होंने कहा कि कुछ स्थायी भाव पुरुषार्थनिष्ठ होते हैं, इसलिए उनकी प्रधानता रहती है, तथा अन्य स्थायी भाव उनके साथ जुड़े रहते हैं (इस दृष्टि से वे भी प्रधान माने जा सकते हैं)। रति कामनिष्ठ

है, और काम से धर्म तथा अर्थ जुड़े हुए हैं, इसलिए रति धर्मार्थनिष्ठ भी है। उत्साह का अंततः पर्यवसान धर्म में होता है अतः वह धर्मनिष्ठ है। इसी प्रकार निर्वेद मोक्षनिष्ठ है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर अभिनव ने कहा कि इतने भावों को ही स्थायी भाव माना गया है, क्योंकि उत्पन्न होने के साथ ही ये (नौ) भाव किसी भी प्राणी के भीतर प्रारंभ से ही रहते हैं। कोई भी प्राणी दुःख के संसर्ग से विद्वेष करता है, तथा सुख का आस्वाद करना चाहता है – यह रिरंसा (रति की इच्छा) है। अपने को ऊंचा समझकर दूसरे का उपहास करने की प्रवृत्ति भी प्राणी के भीतर प्रारंभ से रहती है– यह हास स्थायी भाव है। अभीष्ट वस्तु के वियोग में वह दुखी होता है– यह शोक स्थायी भाव है। वियोग के कारण पर वह क्रुद्ध होता है– इस प्रकार क्रोध स्थायी भाव उसमें प्रारंभ से रहता है। दुःख के कारण का प्रतीकार न कर पाने पर वह उससे भीत होता है– अतः भय उसमें प्रारंभ से रहता है। प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ अर्जन करना चाहता है– यह उत्साह है। वह अनुचित वस्तु से विमुख होकर उसे अनभीष्ट मानता है– यह जुगुप्सा है। आश्चर्यजनक बातों को देखकर विस्मित होता है। यह विस्मय स्थायी भाव है। वह संसार को छोड़ना चाहता है– यह निर्वेद है।

इस प्रकार मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) से संबद्ध होने तथा वासना के रूप में चित्त के भीतर वर्तमान होने के कारण परिस्थिति के अनुसार ये स्थायी भाव अभिव्यक्त होते रहते हैं। अभिव्यक्त हुआ स्थायी भाव रस है। अभिनवगुप्त के रसविषयक मत का सार यही है।

उक्त नौ स्थायी भावों के अतिरिक्त ग्लानि, शंका, असूया आदि अन्य भावों को स्थायी भाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि विभावादि के अभाव में ये नहीं रहते। ये निरंतर व्यक्ति के चेतन या अवचेतन में विद्यमान भी नहीं रहते। जैसे, जो व्यक्ति स्फूर्तिदायक रसायन का सेवन करता है, उसे ग्लानि, श्रम आदि नहीं होंगे। यदि किसी कारण से होंगे भी तो उस कारण के न रहने पर क्षीण हो जाएंगे।

उक्त स्थायी भावों तथा उनके अतिरिक्त अन्य भावों में अंतर को स्पष्ट करने के लिए अभिनव ने एक व्यावहारिक दृष्टांत यह दिया है–यह व्यक्ति ग्लान (ग्लानि से युक्त) है, ऐसा कहने पर 'क्यों है?' यह हेतु प्रश्न उठ खड़ा होता है जिससे ग्लानि नामक भाव की अस्थायिता सूचित होती है। पर 'यह उत्साही है' ऐसा कहने पर 'क्यों' यह प्रश्न नहीं बनता, क्योंकि उत्साह स्वभाव से व्यक्ति में रहता है, वह संस्कार रूप से उसके भीतर सदैव बना रहता है। इसलिए वह स्थायी भाव है।

दार्शनिक दृष्टि में अभिनव की रसनिष्पत्ति की व्याख्या उसी आधार पर प्रतिष्ठित है जिस पर भट्टनायक की। उन्होंने काव्य में भावकत्व तथा भोजकत्व, इन दो व्यापारों को स्वतंत्र रूप से स्वीकार करने की भट्टनायक की धारणा का खंडन किया, पर प्रकारांतर से इन दोनों व्यापारों को स्वीकार भी किया। भट्टनायक शैव दार्शनिक होते हुए भी द्वैतवादी थे (द्वैत की परंपरा शैव दर्शन में भी रही है)। अभिनव अद्वैतवादी होने के कारण भावकत्व को प्रेक्षक की चेतना से स्वतंत्र रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने उसे काव्य का स्वतंत्र व्यापार नहीं माना। इस प्रकार अभिनव ने भरत, लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक तक चली आती रसचिंतन की वस्तुनिष्ठ परंपरा से अलग होकर यह स्थापना दी कि सौंदर्य वस्तु में नहीं, रसज्ञ में ही रह सकता है। आनंदवर्धन के ध्वनिवाद तथा शैवदर्शन की अद्वैतवादी धारा का संबल पाकर उन्होंने काव्यचिंतन को आत्मनिष्ठ दृष्टि में ढाला। अभिनव इसी आत्मनिष्ठ दृष्टि के अतिरेक में यहां तक भी कहते हैं कि 'विभावादि रसनिष्पत्ति के हेतु होते ही नहीं, क्योंकि उनके न रहने पर भी रस प्रेक्षक के चित्त में बना रह सकता है।' (अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, काशी सं.पृ. 669)। वस्तुनिष्ठता के स्थान पर आत्मनिष्ठता की स्थापना में अभिनव को आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक से भी पर्याप्त मार्गदर्शन मिला। आनंदवर्धन की सुप्रसिद्ध कारिका (**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव** ...–जिसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं) की व्याख्या में उन्होंने कहा : '**लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यंग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मांतरमेव।**' लावण्य या सौंदर्य अवयवों के समूह से अभिव्यंग्य तो होता है, पर वह अवयवों में रहने वाला तत्त्व नहीं है।

इसके साथ ही अभिनव ने अपनी रसनिष्पत्ति और रसास्वाद की व्याख्या में अपने पूर्ववर्ती मतों का समाहार करने का प्रयास भी किया और जहां आवश्यक समझा शैव दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनप्रस्थानों का भी आश्रय ग्रहण किया। भट्टनायक ने शैव दर्शन की आधारभूमि पर सांख्य के त्रिगुणवाद का भी परोक्ष रूप से अपनी व्याख्या में आश्रय लिया था। अभिनव ने भी रस को समझाने के लिए सांख्य का एक स्थान पर आश्रय लिया है। रस की सुखप्रधानता दिखाने के लिए उन्होंने कहा : 'स्थायी भाव सुख प्रधान ही होते हैं। संवित् का चर्वणारूप प्रकाश आनंदमय ही होता है...अंतरायशून्यविश्रांति ही सुख का स्वरूप है। अविश्रांतिरूपता ही दुःख है। अतएव कपिलमत के अनुयायी सांख्यशास्त्रियों ने चंचलता या अविश्रांति को ही रजोवृत्ति वाले दुःख का प्राण माना है।' (अभिनवभारती)

जहां अभिनव ने शंकुक के अनुकरणसिद्धांत का खंडन किया, वहीं यह भी कहा कि स्थायी भाव के उपचय की दशा में देश आदि से नियंत्रित न होने के कारण

रति अनुकरणरूप भी कही जा सकती है, **'तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियंत्रणा-दनुकारोऽप्यस्तु'** (अ.भा.)। इसके साथ ही बौद्धों के विज्ञानवाद के आधार पर वे यह भी कहते हैं कि यह रति विषयसामग्री भी हो सकती है, क्योंकि क्रिया भावों की अनुगामिनी है।

लोल्लट के अनुसंधान को शंकुक ने अनुकरण के रूप में व्यापक व्याख्या दी थी जिसे अभिनव ने अंशतः स्वीकार किया। इसके साथ ही जैसा हम पहले देख चुके हैं, साधारणीकरण की आधारभित्ति शंकुक ने अपने अनुकरणवाद में प्रस्तुत कर ही दी थी जिसे भट्टनायक तथा अभिनव ने ग्रहण किया। अभिनव ने भट्टनायक के भावकत्व तथा भोग को प्रकारांतर से स्वीकार किया, तथा शंकुक के अनुकरण को 'अनुकीर्तन तथा अनुव्यवसाय' कहकर सूक्ष्मता दी। इस प्रकार अभिनवगुप्त में रसविषयक चिंतन जहां एक ओर भिन्न दिशा में मुड़ता है, वहीं पूर्ववर्ती चिंतन की विकासपरंपरा को स्वीकृत कर परिपूर्ण भी बनता है।

भोज का रसविमर्श

अभिनव के पश्चात् भोज ने रससंबंधी चिंतन की एक समन्वित व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया। भोज के रसविचार पर दार्शनिक सिद्धांतों के साथ तत्कालीन साहित्य तथा साहित्यिक वातावरण की छाप स्पष्ट है। उनके समय तक काव्यरचना का केंद्र रसिक बन चुका था। राज सभा में रसिकजनों के लिए काव्य प्रस्तुत होता था, कवि की रचनाप्रक्रिया पर यह परिस्थिति असर डालती थी। भोज के समय तक होने वाले कवियों, विशेषतः भर्तृमेण्ठ, भारवि, माघ आदि की कविता को इस रसिक ने परिचालित किया था। भोज ने रस की पुनर्व्याख्या इस रसिक को केंद्र में रखकर देने का प्रयास किया। जिसमें रस हो, वह रसिक है। यदि रस रसिक के भीतर है, तो सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद के अनुसार यह रस सत् पदार्थ है, क्योंकि कोई भी उत्पन्न होने वाली वस्तु सांख्य के इस सिद्धांत के अनुसार अपने कारण में पहले से विद्यमान रहती है। काव्य के श्रवण अथवा नाट्य के अवलोकन से रसिक के भीतर रस निष्पन्न होता है तो यह रस निश्चय ही उसमें पूर्व विद्यमान है :

> **स एव प्रमाणत्रयोपन्यासहेतुः वक्तुरभिप्रायः प्रतीयमानः प्रमाणत्रयोपन्या-सादिना सांख्यदर्शनाश्रयेण च शृंगारः सन्नेव आविर्भवति, न त्वसदुत्पद्यते।**
>
> (डॉ. वी. राघवन् : भोज'ज शृंगारप्रकाश, पृ. 479 पर उद्धृत)

इस चिंतनधारा को आगे बढ़ाते हुए भोज कहते हैं कि यदि रसिक के भीतर

पूर्व विद्यमान रस ही अभिव्यक्त होता है, तो अपने मूल रूप में वह एक है। सभी शृंगार आदि रस, रति आदि स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव इसी मूल रस के भाव हैं। वास्तव में तो रस यही है, शृंगार, करुण आदि तो उपचार से ही रस कहे जाते हैं। शृंगार आदि रसों से इस मूल रस को अलग बताने के लिए भोज ने पुनः सांख्य का अनुवर्तन करते हुए इसे अहंकार कहा। अहंकार से उनका आशय गर्व से नहीं है। अहंकार रसिक की चेतना का वह मूल है, जहां तथा जिसके कारण समस्त भाव आस्वादित और विश्रांत होते हैं।

रसोऽभिमानोऽहंकार शृंगार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।
विशिष्टाहंकारजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेः एको हेतुः प्रकाशते॥

(भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 5/1-3)

भोज ने इस अहंकार को 'अभिमान', 'प्रेमन्' तथा 'शृंगार्' भी कहा, जो रति स्थायी भाव वाले शृंगार रस से भिन्न है।[1] इसी अहंकार से समस्त रस, स्थायी भाव आदि उच्छलित होते हैं, इसी में विश्रांत होकर उनका आस्वाद होता है। इसी का एक रूप सिसृक्षा या मनुष्य की सृजन की इच्छा है। वेदों में इसे काम तथा उपनिषद् में आत्मन् कहा गया है। यह मनुष्य की अनुभूतियों का केंद्र है :

कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

तथा

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति।
आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति।...
सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च।

भोज के इस चिंतन के पीछे उपनिषद् तथा सांख्य की विचारधारा का ही नहीं, वाल्मीकि से कालिदास तक की काव्यधारा का भी हाथ है। कालिदास के समग्र काव्य का मूल स्वर सिसृक्षा के प्रति आग्रह है जिससे समस्त चिंतनप्रस्थान तथा काव्य की कलाएं उद्गत होती हैं। **'स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया'** (कुमारसंभव, 2/7) कहकर उन्होंने सृष्टि के मूल में निहित सिसृक्षा के तत्त्व को इंगित ही नहीं किया, अपनी सारी कविता में इसे प्रतिफलित तथा रूपायित भी किया। कालिदास के प्रभाव से जहां शैवदर्शन के प्रस्थान को उत्तेजना मिली, वहीं भोज जैसे महत्त्वाकांक्षी काव्यशास्त्र के लेखकों को भी। भोज के अनुयायी शारदातनय ने अपने रसविवेचन में कहा :

या चेयमिच्छा जगतः सिसृक्षोः परमात्मनः।
विषयाक्ता रति सैव शृंगार इति गीयते ॥

(शारदातनय : भावप्रकाश, बड़ौदा, सं., पृ. 55)

'जगत के सृजन के इच्छुक परमात्मा की जो इच्छा है, वही विषय से संपृक्त रति बनकर शृंगार कहलाती है।' यह कालिदास की प्रतिध्वनि है। संसार के भौतिक पदार्थों में निहित परमतत्त्व की खोज तथा मनुष्य की वासना को परमात्मा की सिसृक्षा तक पहुंचाना, यह कालिदास की कविता का विषय रहा है। कालिदास ने भी रसिक नागरक की मनोवृत्ति का अन्वेषण करके उसका प्रसार रूपायित किया, भोज ने रसिक को काव्यचिंतन का केंद्र बनाकर रस के मूलबिंदु—अहंकार—का अन्वेषण किया। कालिदास के पश्चात् आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, भोज आदि काव्यशास्त्रियों का अवतरण काव्यरचना से काव्यचिंतन के ऐतिहासिक विकास को स्पष्ट करता है।

भोज ने अपने पूर्ववर्ती मतों का खंडन न करके उनमें तालमेल बैठाने तथा अहंकार के अंतर्गत रस के सारे अंगों का समावेश करने का प्रयास किया था। इस समन्वयवादी दृष्टि के कारण उनकी स्थापनाओं पर विपरीत प्रतिक्रिया नहीं हुई, परवर्ती आचार्यों में उन्हें स्वीकृति ही मिली। शारदातनय के द्वारा भोज का अनुगमन किया ही गया, अग्निपुराण ने भोज की मान्यताओं को संकलित करके उन्हें स्वीकृति दी :

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥
आनंदः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्।
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचारादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते।
तद् भेदात्काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ॥

(अग्निपुराण, 339/1-6)

रस और चमत्कार-तत्त्व

अभिनवगुप्त की दृष्टि अद्वैतवादी तथा आत्मपरक थी ही, भोज ने रस का मूल अहंकार के रूप में प्रतिपादित किया, जिसमें रसिक को प्रधानता मिली। इस प्रकार के विवेचन में काव्य में निहित रसोत्पादनक्षमता का विचार पृष्ठभूमि में छूट गया।

इसका प्रतीकार विश्वेश्वर (15वीं शती) ने अपने ग्रंथ 'चमत्कारचन्द्रिका' में चमत्कारसिद्धांत का प्रतिपादन करके किया। उन्होंने रस का सार चमत्कार मानते हुए चमत्कार को काव्य की समस्त अनुभूतियों का सर्वोपरि निकष माना। चमत्कार के आधार पर उन्होंने काव्य की तीन कोटियां निर्धारित कीं : चमत्कारी चमत्कारितर, चमत्कारितम :

शब्दचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारीति कथ्यते।
वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितरं मतम्॥
व्यंग्यस्य च गुणीभावे तदेवाहुर्मनीषिणः।
प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितमम् मतम्॥

(विश्वेश्वर : चमत्कारचन्द्रिका, सं.पी. राममूर्ति, आंध्र वि.वि. 1969, 3/37, 38, 40)

चमत्कार को काव्य की परिणति तथा निकष मानने पर यह लाभ हुआ कि रस के साथ अन्य काव्य के प्रस्थानों तथा अंगों को उसमें समान रूप से स्थान दिया जा सका। विश्वेश्वर ने गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या तथा अलंकार—ये सात चमत्कार के कारण माने हैं :

गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः॥

(चमत्कारचन्द्रिका, 1/6-7)

इसके साथ काव्य के लक्षण में भी चमत्कारयुक्त शब्दार्थ को उन्होंने काव्य माना, जिससे उसमें काव्य के सभी प्रस्थान एक साथ समाविष्ट हो सकते हैं। इस प्रकार अभिनव के पश्चात् भोज तथा विश्वेश्वर दोनों की दृष्टि एक ऐसा समन्वित निकष खोजने की ओर थी जिसमें काव्य में उसके समय तक स्वीकृत सभी प्रस्थान यथोचित स्थान पा सकें। भोज ने रस के चिंतन में तो रसिक को केंद्र बनाया, पर काव्यप्रस्थानों में उन्होंने अलंकार की व्यापक व्याख्या स्वीकार करके रस आदि को उसी के भीतर माना। भोज तथा विश्वेश्वर—अलंकारवाद तथा रसध्वनिवाद—इन दो धाराओं में काव्यचिंतन की सारी परम्परा को समाहित करने का प्रयास करते हैं।

भक्तिरस

नवीं शती में श्रीमद्भागवत की तथा ग्यारहवीं शती में शृंगारी भक्तकवि जयदेव के द्वारा गीतगोविंद की रचना ने संस्कृत काव्यधारा को ही नहीं, काव्यशास्त्रीय चिंतन को भी एक नया मोड़ दिया। दोनों काव्यों से वैष्णव भक्ति आंदोलन ने गति पकड़ी। इस धारा में सैकड़ों कवि तथा कुछ समर्थ आचार्य उत्पन्न हुए। जयदेव ने गीतगोविंद

में राधाकृष्ण के प्रेम की तन्मयता का जो गायन किया, उससे संस्कृत काव्यशास्त्र में माधुर्य भक्तिरस का सिद्धांत सामने आया। गीतगोविंद श्रीकृष्णभक्ति तथा उपासना का ही नहीं, गीतिकाव्यों तथा काव्यशास्त्र की भक्तिरस संबंधी परंपरा का भी एक आकर ग्रंथ बना। समूचे काव्य में जयदेव ने शृंगार के साथ भक्ति की जो धारा बहाई, उसी में डूबकर रूपगोस्वामी (14वीं शती) ने उज्ज्वलनीमणि, भक्तिरसामृतसिंधु तथा नाटकचन्द्रिका आदि काव्यशास्त्रीयग्रंथों में भक्ति रस का सिद्धांत गढ़ा। जयदेव की मूल प्रतिज्ञा थी :

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकथासु कुतूहलम्।
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीं मधुरकोमलकान्तपदावलीम्॥

हरिस्मरण में सरस मन के साथ विलास कथाओं में अध्यात्मिक भाव भरने का काम संस्कृत कविता में प्रमुखतः जयदेव ने किया। उन्होंने श्रीकृष्ण और राधा को भक्ति का ही नहीं, रति का भी आलंबन बनाकर एक-दूसरे के विरह में तथा भावना में तल्लीन निरूपित किया :

सा विरहे तव दीना।
माधवमनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना।

जयदेव के इस निरूपण के आधार पर रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने भक्तिरस के ये सिद्धांत निर्धारित किए :

1. राधाकृष्ण का शृंगार लौकिक नहीं है।
2. रस का सार माधुर्य है।
3. संसार में कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं। रस का पूर्ण आस्वाद उन्हीं में संभव है।
4. 'राधाभावद्युतिशबलत्व' राधा के भाव में डूबा होना ही रसानुभूति की पीठिका है।
5. राधाभाव में संपृक्त भक्तजन को ही रस की सच्ची अनुभूति हो सकती है। भक्ति रस का स्वरूप यह है :

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानां या नीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्॥

(जीवगोस्वामी : भक्तिरसामृतसिंधु, द.वि. 1/5-6)

इस भक्ति रस के पांच भेद किए गए हैं, जिनमें से एक प्रीतिभक्ति रस है। इसके दो भेद हैं : दास्य और सख्य। इन दोनों की अवधारणा भागवत से ली गई है।[2]

रस और वेदान्त परक दृष्टि

अभिनव के पश्चात् शारदातनय तथा धनंजय इन दो आचार्यों को छोड़कर शेष सबने अभिनव की रसनिष्पत्ति की व्याख्या को स्वीकार करते हुए भट्टनायक का मत पूर्वपक्ष के रूप में ही ग्रहण किया। उक्त दोनों आचार्यों ने भट्टनायक को प्रमाण माना। मम्मट में आकर अभिनव के सिद्धांत को पूर्ण प्रतिष्ठा और स्वीकृति मिली। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (14वीं शती) तथा पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शती) ने अभिनव के मत का परिपोष ही किया, यद्यपि विश्वनाथ में शैवदर्शन की अपेक्षा अभिनव की व्याख्या को वेदांत के आलोक में निरूपित करने की प्रवृत्ति मिलती है, और पंडितराज ने तो अभिनव के मत की पूर्णतः वेदांत की दृष्टि से ही व्याख्या की है। विश्वनाथ ने रस का स्वरूप इस प्रकार बताया है :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानंदचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥
रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत् ।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्धयति॥

(साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, 2, 3)

यहां पर शब्दावली तथा व्याख्या अभिनवगुप्त के मत की होते हुए भी ज्ञान तादात्म्य की बात वेदांत से आई है। वेदांत में ज्ञान या ब्रह्म को प्रकाशरूप तथा अखंड कहा जाता है। विश्वनाथ ने रस के लिए इन दोनों विशेषणों का प्रयोग उसी आधार पर किया है।

पंडितराज ने अभिनवगुप्त का मत स्पष्ट करते हुए कहा है : 'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा मिलकर अलौकिक व्यापार (भावकत्व) संपन्न किया जाता है जिससे प्रमाता के आनंदमय चैतन्य से आवरण हट जाता है, उसका परिमित प्रमातृत्व (सीमित व्यक्तित्व) नहीं रह जाता, तब अपने आनंदमय स्वरूप के साथ साक्षात्कृत वासना के रूप में पूर्वविद्यमान रत्यादि स्थायी भाव रस है।...चैतन्य से आवरण का भंग होना ही उस स्थायी भाव का व्यक्त होना है। भग्नावरण चैतन्य विभावादि से संवलित रत्यादि को प्रकाशित करता है। (स्थायी भाव अंतःकरण में वासना के रूप में रहने के कारण अंतःकरण के धर्म हैं, और वेदांत के अनुसार) अंतःकरण के धर्म साक्षी (चैतन्य) से प्रकाशित होने वाले हुआ करते हैं।

इस प्रकार रस चैतन्यरूप होने से न तो उत्पन्न होता है, न विनष्ट, विभावादि

से युक्त उसकी चर्वणा उत्पन्न या विनष्ट होती है, अथवा आवरणभंग उत्पन्न या विनष्ट किया जाता है। चर्वणा तथा आवरणभंग से सहचरित होने के कारण 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' ऐसा उपचार से व्यवहार किया जाता है। अथवा, यह भी कह सकते हैं कि अपनी सहृदयता के कारण उत्पन्न विभावादि की चर्वणा के प्रभावरूपी हेतु से विभिन्न स्थायी भावों से उपहित (युक्त) अपने स्वरूप आनंद के आकार की जो चित्तवृत्ति सहृदय के भीतर उत्पन्न होती है, उसमें तन्मय होना ही रस है। इस प्रकार भग्नावरण चैतन्य से विशिष्ट रत्यादि स्थायी भाव रस है, अथवा रत्यादि विशिष्ट भग्नावरण चैतन्य रस है।'[3]

यहां पंडितराज ने अभिनव के मत को मूलतः सुरक्षित रखते हुए भी उसका वेदांतीकरण कर दिया है। वेदांत के सिद्धांत के अनुसार प्रमेयाकारा परिणति चित्तवृत्ति का स्वभाव है। अभिनवगुप्त तथा शैवदर्शन किसी वस्तु का बोध होते समय उस वस्तु (प्रमेय) की आत्माकारा परिणति मानते हैं, जबकि वेदांत के अनुसार चित्तवृत्ति की विषयाकारा परिणति होती है। पंडितराज ने अभिनव के तन्मयीभवन को समझाते हुए उसका स्वरूप वेदांत की दृष्टि से उपस्थित किया है, रसानुभूति के समय चैतन्य के आवरणभंग की बात भी वेदांत के अनुसार कही गई है। अभिनव आदि में व्यक्ति का अर्थ भग्नावरण चैतन्य नहीं है। अभिनव के मत में चैतन्य विशेषण तथा स्थायी भाव विशेष्य है, पंडितराज में आकर स्थायी भाव विशेषण तथा चैतन्य विशेष्य हो जाता है। यह शंकर के अद्वैत वेदांत का प्रभाव है जिसमें चैतन्य को ही आनंदरूप माना गया है। शैव दर्शन के अद्वैत में प्रकृति के अंश रत्यादि स्थायी भावों में भी चैतन्य का प्रतिभास होने के कारण आनंद की स्थिति मान्य है।

संदर्भ

1. आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य शृंगारमाहुरिह जीवितात्मयोनेः।
   तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्वं युक्तस्य तेन रसिकोऽयमिति प्रवादः ॥
   सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
   सर्वात्मसम्पदुदयातिशयैकहेतुर्जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः।
   अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेर्यः संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
   ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्ते रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः ॥

   (भोज : शृंगार प्रकाश, प्रथम भाग, 1/3, 4, 8 मैसूर संस्करण)

   शृंगारो हि नाम विशिष्टेष्टद्रष्टचेष्टाभिव्यंजकानाम् आत्मगुणसम्पदुत्कर्षबीजं बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्काराद्यतिशयहेतुरात्मनोऽहंकारगुणविशेषः सचेतसा रस्यमानो रस इत्युच्यते। यदस्तित्वे रसिकोऽन्यथात्वे नीरस इति। तदाविर्भावहेतवश्च तत्प्रभवा एव भावाः। तत्र केचिदाचक्षते–रतिप्रभवः शृंगार इति। वयं तु मन्यामहे–रत्यादीनामयमेव प्रभव इति।...ते तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः।...मनोऽनुकूलेषु दुःखादिष्वति सुखाभिमानो रसः। स तु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वात् रत्यादिभावेषूपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वं

12
अलंकारविचार

पृष्ठभूमि

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों की एक परंपरा वह है जिसमें भरत के रस सूत्र को केंद्र में रखकर चिंतनप्रस्थान बने। इन आचार्यों के सामने प्रश्न यह था कि काव्य के आस्वाद्य होने का मर्म क्या है तथा रसिक काव्यास्वाद की अनुभूति कैसे करता है। इनके समानांतर काव्यशास्त्र के आचार्यों की एक दूसरी परंपरा भरत के काव्यलक्षणों, काव्यालंकारों तथा काव्यगुणों आदि को लेकर चली। इन आचार्यों के समक्ष काव्यास्वाद की व्याख्या का प्रश्न तात्कालिक नहीं था। काव्य में रस या सौंदर्य रहता है, यह उन्होंने माना, पर उस रस या सौंदर्य की व्याख्या उन्होंने रसिक के आस्वाद की जटिल प्रक्रिया की दृष्टि से न करके काव्य के ही उपादानों तथा उपकरणों के माध्यम से करनी चाही। इस प्रकार रसध्वनिवादी आचार्यों के साथ-साथ अलंकारवादी आचार्यों की धारा भी प्रचलित रही, जिसकी विशाल परंपरा में भामह, दण्डी, कुंतक, रुद्रट, वाग्भट्ट, जयदेव आदि आते हैं। इन दोनों परंपराओं में परस्पर विरोध नहीं है, इनकी पद्धतियां अवश्य एक-दूसरे से भिन्न हैं, और प्रायः विपरीत हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक ओर रसध्वनिवाद तथा दूसरी ओर अलंकारवाद, ये दोनों धाराएं एक-दूसरे की पूरक हैं, तथा कई बिंदुओं पर वे एक-दूसरे से मिलती भी हैं।

यद्यपि भरत ने काव्य में अलंकार, लक्षण, गुण तथा दोष का निरूपण करके अलंकारवाद की प्रथम व्यवस्थित रूपरेखा रखी थी, और उनके द्वारा निरूपित चार अलंकारों के साथ-साथ 36 लक्षणों में से भी कुछ का समावेश अलंकार के रूप में इस धारा में किया गया, तथापि अलंकारसिद्धांत की परंपरा भरत से बहुत पुरानी है।

अलंकार की अवधारणा वहीं से प्रारंभ हो जाती है, जहां ऋग्वेद का कवि कहता है कि वह अपने काव्य को उसी प्रकार तराश कर रच रहा है, जिस प्रकार बढ़ई लकड़ी को; अथवा धीर लोग वाणी को उसी प्रकार छानकर प्रस्तुत करते हैं, जिस प्रकार चलनी से सत्तू छाना जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भारतीय काव्यचिंतन में काव्य पर विचार अलंकारप्रस्थान के साथ प्रारंभ होता है। अलंकारों पर दृष्टि सर्वप्रथम जाना स्वाभाविक है, क्योंकि अलंकार ही ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा हम काव्य के सबसे अंतरंग तथा उसके सबसे बहिरंग दोनों पक्षों को समझ सकते हैं। इसलिए काव्यशास्त्र में अलंकारों पर व्यवस्थित विचार का सूत्रपात होने के बहुत पहले ही अलंकारों का विवेचन प्रारंभ हो चुका था। वेद के कवियों ने उपमा आदि अलंकारों का अपने काव्य में अनेकशः प्रयोग किया था। अतः भाषा और प्रयोग की दृष्टि से वैदिक संहिताओं पर जब यास्क (सातवीं शती ई.पू.) ने विचार किया तो उनका ध्यान वेदों में प्रयुक्त अलंकारों, विशेषतः उपमा की ओर भी गया। वेद में प्रयुक्त विभिन्न उपमाओं का अध्ययन करके यास्क इस निष्कर्ष पर पहुंचे की उपमा में दो वस्तुओं में तुलना की जाती है जिनमें पूर्ण साम्य होना आवश्यक नहीं है। इस संबंध में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य का मत उद्धृत किया, जिनके अनुसार अतत् को तत्सदृश बतलाना उपमा है। अतः उपमा में गुण की दृष्टि से बड़ी और अधिक प्रख्यात वस्तु से किसी छोटी और कम प्रख्यात वस्तु को उपमित किया जा सकता है, अथवा इसके विपरीत गुण में छोटी वस्तु से बड़ी वस्तु को भी उपमित कर सकते हैं।[1] उपयुक्त आधार पर यास्क ने उपमा के पांच भेद किए।[2]

आगे चलकर उपमा को अलंकारों का मूल माना गया, वह मात्र इसलिए नहीं कि काव्य के क्षेत्र में उपमा का ही प्रयोग सबसे पहले चर्चित हुआ, अपितु इसलिए भी कि काव्य में निहित सौंदर्य और उसके उपादानों को उपमा में हम सर्वप्रथम सुस्पष्ट रूप में देखते हैं। दो वस्तुओं में परस्पर भेद होते हुए भी उनमें साम्य बताने से काव्य की जो वस्तु जैसी ऊपर से दिखाई नहीं देती उसे वैसा बताने की, भौतिक जगत् के दृश्याकारों का रूपांतरण करके नया जगत् निर्मित करने की काव्य की प्रतिश्रुति सिद्ध होती है जिसका विवेचन प्रथम व द्वितीय अध्यायों में किया जा चुका है। इसलिए यास्क के बाद अलंकारों की जब भी चर्चा हुई, उपमा को उसमें प्राथम्य दिया गया तथा यास्क ने उपमा की जो शर्तें बताई थीं—दो वस्तुओं का भिन्न-भिन्न होना, तथा गुण, परिमाण आदि की दृष्टि से उपमान की उपमेय से श्रेष्ठता अनिवार्य न होना—इन दोनों को भी अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने स्वीकार किया। भामह ने उपमा ने अपने लक्षण—

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत् साम्यं गुणलेशेन सोपमा।। (काव्या.,2/30)

में उपमान को उपमेय से विरुद्ध (भिन्न) कहकर दोनों में अंतर तथा गुणलेश के द्वारा उपमा दिया जाना स्वीकार करके उपयुक्त दोनों तथ्यों का संकेत दिया। दण्डी ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया कि उपमा में वास्तव में सादृश्य होता नहीं, सादृश्य की उद्भावना करके उसकी प्रतीति कराई जाती है।[3] अलंकार के क्षेत्र में उपमा की इस परिव्याप्ति को देखते हुए ही महिमभट्ट ने **सर्वेष्वलंकारेषूपमा जीवितायते** कहकर उपमा को समस्त अलंकारों का जीवन स्वीकार किया। अंत में, उपमा के विषय में अप्पय दीक्षित का यह मत सबसे अधिक सारगर्भित है कि उपमा ही काव्य में नाना रूपों में उल्लसित होकर व्याप्त रहती है, तथा उसके ज्ञान से कवि का काव्यसंसार उसी प्रकार जाना जा सकता है, जैसे ब्रह्म के ज्ञान से यह संसार :

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥
तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदा सा ॥

(चित्रमीमांसा, पृ. 6)

उपमा के दो पक्ष होते हैं—एक तो उसका बाह्य या अभिधा से प्रकट होनेवाला पक्ष है जिसमें दो वस्तुओं का साम्य वर्णित होता है। दूसरा उसका आभ्यंतर पक्ष है जिसमें वर्ण्य वस्तु का गुण या प्रतिभा स्पष्ट होकर प्रतीत होती है। दोनों पक्षों के समान रूप से सुंदर होने पर ही काव्य में सुंदरता आती है।

इस प्रकार अलंकार पर विचार करने वाले आचार्यों के मस्तिष्क में अलंकार के ये दोनों पक्ष रहे होंगे। इसीलिए अलंकार का सीधा संबंध सौंदर्य से स्थापित किया गया। दण्डी ने काव्यशोभा का आधान करने वाले तत्त्वों को अलंकार कहा,[4] पर वामन ने अलंकार को और भी व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए सौंदर्यमात्र को अलंकार बतलाया—सौंदर्यमलंकारः। (काव्या. सू., 1/1/2)।

इस सूत्र को स्पष्ट करते हुए वामन ने कहा है : '**अलंकृतिरलंकारः। करणव्युत्पत्या पुनरलंकारशब्दोयमुपमादिषु वर्तते**।' वामन का यह मंतव्य अलंकार विचार के क्षेत्र में निकषभूत है। उनकी दृष्टि से अलंकार का सौंदर्यरूप अर्थ ही प्रमुख है, क्योंकि अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी अर्थ को ध्वनित करती है, अलंकार में भावार्थक घञ् प्रत्यय है, उसे करणार्थक मानने पर उपमा आदि शब्द और अर्थ

के अलंकारों वाला अर्थ भी लिया जा सकता है, परंतु वह अर्थ गौण है।

स्पष्ट ही, दण्डी और वामन के मानस में अलंकार की जो कल्पना थी, उसके अनुसार वे काव्य के समस्त शोभाधायक तत्त्वों को उसका अंग मानते थे। दण्डी ने काव्यगुणों को भी अलंकार के भीतर ही रखा, तथा काव्य के समस्त प्रचलित प्रस्थानों के संबंध में व्यवस्था दी कि उन सबको अलंकार के अंतर्गत ही रखा जाना चाहिए :

यच्च सन्ध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥

(काव्यादर्श, 2/367)

अलंकारप्रस्थान के अन्य आचार्यों—उद्भट, रुद्रट आदि के सामने भी अलंकार का काव्य के समस्त सौंदर्य और उसके उपादानों को अपने में समेट सकने वाला व्यापक रूप था। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार भी अलंकार के इस व्यापक रूप के एक भाग थे। ध्वनिवाद की स्थापना के बाद अलंकारप्रस्थान को उसके भीतर खपाने के लिए ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार को मात्र चित्रकाव्य (अनुप्रास आदि शब्दालंकार तथा उपमा आदि अर्थालंकार में ही सीमित करते हुए उसे हार, कटक-कुंडल आदि के समान बाह्य) बना दिया।[5] भोज ने एक बार फिर दण्डी की परंपरा का अन्वेषण करते हुए उनकी **'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारप्रचक्षते'**—इस व्यापक परिभाषा को स्वीकार करके रसध्वनिवादी परंपरा की सारी मान्यताओं को भी उसमें समाविष्ट करते हुए यह सिद्धांत निर्धारित किया कि अलंकार के अंतर्गत गुण, रस, रसाभास, भावाभास आदि भी संग्रहीत हो सकते हैं।[6] भोज के समक्ष एक ओर रस-ध्वनि की तथा दूसरी ओर अलंकार की, ये दोनों परंपराएं थीं। उन्होंने दोनों को मिलाकर एक करना चाहा।

किंतु उस समय तक आचार्यों की दृष्टि में उक्त दोनों परंपराओं का वैमत्य ही अधिक स्पष्ट था। भोज की तरह उनके दो परवर्ती आचार्यों—मम्मट तथा हेमचन्द्र—ने भी उनकी भांति अपने समय तक के काव्यप्रस्थानों के चिंतन का संग्रह करने का कार्य किया, पर इन दोनों परवर्ती आचार्यों ने रसध्वनिवाद की परंपरा से बंधे रहना अधिक उचित समझा तथा अलंकार के लिए उसे नितांत संकुचित रूप देकर ध्वनिवाद में स्थान बनाया।

इस प्रकार अलंकार तथा रसध्वनि की परंपराओं को एक करने का प्रयास भोज ने भी किया और मम्मट आदि ने भी। पर भोज ने अलंकार को उसके व्यापक तथा सही अर्थ में लिया। मम्मट ने अलंकार को, संभवतः जानबूझकर, सीमित ही नहीं किया, उन्होंने भामह आदि अलंकारवादियों के अभिप्रायों की गलत व्याख्या भी की।

मम्मट आदि परवर्ती ध्वनिवादियों के निरूपण में यह दिखाने की चेष्टा स्पष्ट है कि अलंकारवादियों को रस और प्रतीयमान की संपूर्ण परिकल्पना का बोध नहीं था, और न ही वे रस को अपने प्रस्थान में उचित स्थान दे सके। अलंकारवाद तथा रसध्वनिवादियों के इस द्वंद्व पर हम अंतिम अध्याय में पुनः विचार करेंगे।

अलंकारवाद के आचार्यों में भामह की गणना सर्वप्रथम होती है। भामह (लगभग छठी शती) का काव्यचिंतन शब्द और अर्थ के साहित्य से आरंभ होता है। वेद के कवि ने अर्थ को वाक् का सखिभूत कहकर जिस अवधारणा का संकेत किया था, तथा कालिदास ने **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'** कहकर वाक् (शब्द) और अर्थ की जिस संपृक्ति को पार्वती-परमेश्वर के एकरूप हो जाने के समकक्ष रखा था, उसे काव्यशास्त्रीय चिंतन में भामह ने सर्वप्रथम स्पष्टतया रेखांकित किया। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों मिलकर कुछ ऐसा बनाते हैं जिससे वह मनोहर हो उठता है। काव्य में यदि मनोहारिता है तो उसके दोनों उपादानों—शब्द तथा अर्थ—में भी मनोहारिता होनी चाहिए, उनका समायोजन अनुरूप तथा सुंदर होना चाहिए। भामह ने जिस शब्दार्थ साहित्य को काव्य कहा, उसके पीछे मूल विचार यही है। इस विचार की पृष्ठभूमि बताते हुए उन्होंने कहा कि कुछ लोग शब्द की सुंदरता पर बल देते हैं, तो कुछ लोग अर्थ की। हम शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों को इष्ट मानते हैं। अतः हमें दोनों प्रकार का सौंदर्य काव्य में अभीष्ट है।[7] शब्द के सौंदर्य को भामह ने यहां 'सौशब्द्य' कहा है। 'सौशब्द्य' की अवधारणा वस्तुतः काव्यपाक से सम्बद्ध है। काव्य में एक-एक शब्द का सटीक व साभिप्राय होना सौशब्द्य है, जिसके कारण काव्य में शब्दविशेष की अनिवार्य व अपरिवर्तनीय स्थिति बनती है। इस प्रकार अलंकार काव्य में सौंदर्य का आधान करने वाला तत्त्व है। इस अलंकार को भामह ने स्थूल वर्गीकरण की दृष्टि से शब्दालंकार और अर्थालंकार, इन दो भेदों में विभाजित किया। इस स्थूल रूप में साथ-साथ अलंकार का एक आभ्यंतर और सूक्ष्म रूप भी भामह की दृष्टि में था। इसे उन्होंने वक्रोक्ति कहा :

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

(भामह : काव्यालंकार, 2/85)

यह कारिका भामह के द्वितीय परिच्छेद में निरूपित अलंकारों का उपसंहार करते हुए कही गई है। **'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः'** इस शब्दावली से स्पष्ट है कि समस्त अलंकारों में परिव्याप्त तत्त्व के रूप में ही नहीं, भामह वक्रोक्ति को अलंकाररूप भी मानते हैं।

दूसरे शब्दों में अलंकार-वक्रोक्ति, यह उनकी धारणा है। आगे की कारिकाओं से यह और भी स्पष्ट है :

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

(वही, 2/86-87)

हेतु, सूक्ष्म और लेश, इन तीनों को हमने अलंकार नहीं माना, क्योंकि इनमें वक्रोक्ति का अभाव है। सूर्य अस्त हो गया, चंद्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे हैं—ऐसी उक्तियां भी क्या काव्य हो सकती हैं। ये तो सूचना मात्र हैं।

इस प्रकार भामह अलंकार के व्यापक अर्थ में अलंकारवादी हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि उन्हें 'अलंकारवादी की अपेक्षा वक्रोक्तिवादी कहना अधिक न्याय्य है'[8], क्योंकि भामह में अलंकार का स्वरूप वक्रोक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। द्वितीय परिच्छेद में उपमा आदि अलंकारों का निरूपण करके भामह ने उन्हें वक्रोक्ति रूप बताया, उसके पश्चात् तृतीय परिच्छेद में प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी आदि अलंकारों का निरूपण प्रारंभ किया जिनमें रस या भाव की प्रधानता होती है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि भामह वक्रोक्ति की परिव्याप्ति सर्वत्र देखते हैं, पर सभी अलंकारों में वक्रोक्तिरूपता तथा वक्रोक्ति का प्राधान्य वे नहीं देखते। इस दृष्टि से अलंकार वक्रोक्ति की अपेक्षा अधिक बड़ी अवधारणा सिद्ध होता है। आगे चलकर भोज ने भामह से आधार लेकर काव्य-उक्ति को वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति, इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया। कुंतक ने भी वक्रोक्ति की अवधारणा भामह से ही ली, पर उन्होंने उसे अधिक व्यापक रूप देकर रस आदि तत्त्वों का भी अंतर्भाव उसी में निरूपित किया। भामह में वक्रोक्ति अलंकार के सारभूत तत्त्व के अर्थ में भी आती है, तथा अलंकार का आधार करने के निमित्त होने वाले कविव्यापार की दृष्टि से भी, क्योंकि उन्होंने कहा है :

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते॥ (5/66)

वाणी की वक्रार्थ वाली शब्दोक्ति अलंकार के लिए परिकल्पित होती है। तृतीय परिच्छेद के अंत में भामह ने कहा है :

गिरामलंकारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः॥

इससे स्पष्ट है कि वे अलंकार की सामग्री की अपेक्षा अलंकारविधि—काव्य में कवि के सौंदर्याधान करने की पद्धति को अधिक महत्त्व देते हैं। अलंकरण की सामग्री का उतना महत्त्व नहीं है जितना उसके सन्निवेश करने की विदग्धता का—

अनेन वागर्थविदामलंकृता
विभाति नारीव विदग्धमण्डना ॥

(काव्यालंकार, 3/58)

वस्तुतः भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि से उनके द्वारा निरूपित उपमा आदि अलंकार अलंकरण की सामग्री कहे भी नहीं जा सकते, वे अलंकरण की पद्धति के प्रकार हैं जिन्हें भामह ने अन्यत्र (काव्यालंकार, 2/96) भी अलंकारविधि ही कहा है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इन्हें प्रायः कटक-केयूर आदि के समान अलंकरण की बाह्य सामग्री के रूप में देखा जो भामह आदि आचार्यों की दृष्टि से न्याय्य नहीं कहा जा सकता।

भामह ने इस अलंकरण की विधि के 38 प्रकार (अलंकार) बताए हैं, यद्यपि उन्होंने (काव्या., 2/96 में) यह स्पष्ट रूप से सूचित किया है कि वाणी के अलंकरण की ये पद्धतियां और भी अनेक प्रकार की हो सकती हैं। भामह प्रोक्त 38 अलंकार ये हैं :

शब्दालंकार : अनुप्रास, यमक।

अर्थालंकार : रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेश, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविकत्व, आशीः।

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह पहले आलंकारिक थे जिन्होंने उपलब्ध काव्यों के आधार पर अलंकार का स्वरूपनिर्धारण तथा अलंकारों का विभाजन प्रस्तुत किया। उनके पहले भरत, मेधावी आदि आचार्यों ने कुछ अलंकारों की गणना अवश्य की थी, पर उसने अलंकार के क्षेत्र तथा विभाग का इतना व्यवस्थित रूप में निर्णय नहीं हो पाया होगा। अतः भामह को कालिदास, आदि कवियों के काव्य के आधार पर अनेक अलंकारों का स्वयं अन्वेषण करना पड़ा होगा, जिसका स्पष्ट संकेत उन्होंने अपने ग्रंथ में दे दिया है :

मया प्रक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः।

(2/96)

तथा

गिरामलंकारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।

(3/58)

यदि दण्डी को उनका परवर्ती मान लिया जाए (जो विवादास्पद है) तो हम कह सकते हैं कि दण्डी ने भामह द्वारा प्रतिपादित अलंकार के व्यापक स्वरूप को और भी विशद बनाते हुए उसके द्विविध रूप पर स्पष्टतः प्रकाश डाला। अलंकार का एक रूप वह है जो सूक्ष्म तथा निगूढ़ है तथा काव्य का मूल भी है। काव्य के मार्गों (रीतियों) के विभाजन का आधार भी यही अलंकार है। अलंकार का दूसरा रूप साधारण या स्थूल है जिसमें यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार आते हैं :

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमद्य प्रदर्श्यते ॥

(दण्डी : काव्यादर्श, 2/1-3)

अलंकार के प्रथम तथा व्यापक और मौलिक स्वरूप को ही दृष्टि में रखकर दण्डी ने शब्दचित्र और अर्थचित्र को ही नहीं, रस, गुण आदि को भी अलंकार के ही अंतर्गत माना। गुण असाधारण अलंकार हैं, शब्दचित्र और अर्थचित्र साधारण। दण्डी के काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका में इसे और भी स्पष्ट किया गया है :

पूर्वस्मिन् परिच्छेदे वैदर्भमार्गविभागार्थं काव्यशरीर प्रदर्शनार्थं च असाधारणधर्माः केचिदलंकारा उक्ताः। इदानीं शब्दचित्रलक्षणतः प्रतिष्ठापितार्थकाव्यशरीरस्य साधारणा ये अलंकारास्ते अस्मिन् कथ्यन्ते।

दण्डी को कुछ आधुनिक पंडितों ने गुण-रीति प्रस्थान का प्रवर्तक माना है। इस मत के अनुसार ही म.म. पी.वी. काणे ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स' (पृ. ८७) में लिखा है : 'दण्डी का काव्यादर्श कुछ अंशों तक रीतिसंप्रदाय का प्रवर्तक ग्रंथ है, तथा कुछ अंशों में यह अलंकारसंप्रदाय का ग्रंथ भी है।' परंतु दण्डी तो अलंकार को ही रीति के भी विभाजन का मूल आधार मानते हैं, उन्हें रीति संप्रदाय का प्रवर्तक कैसे माना जा सकता है? भामह के साथ वे भी अलंकारवाद की धारा में ही आते हैं। वस्तुतः दण्डी और वामन दोनों रीतिवादी आचार्य नहीं हैं (वामन के

संबंध में विवेचन आगे है)। दण्डी ने काव्यगत अलंकार का लक्षण यह दिया है : **'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'** अतः अलंकार के भीतर काव्यसौंदर्य तथा उसके समस्त उपादान आ जाते हैं। दण्डी ने इस बात को स्पष्ट रूप से घोषित किया कि काव्य के जो अंग आदि हमारे पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने अलग से माने हैं, उन सबको हम इसी अलंकार के अंतर्गत मानते हैं :

यच्च सन्ध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥

(काव्यादर्श, 2/367)

दण्डी न तो रीतिसंप्रदाय के प्रवर्तक हैं, और न रीतिवादी आचार्य ही। भामह की अपेक्षा उन्होंने रीतियों का अधिक स्पष्ट विवेचन अवश्य किया है। अलंकार की व्यापक अवधारणा भामह के सामने थी, पर उसमें रीति का यथास्थान समावेश वे नहीं कर सके। उन्होंने वैदर्भी, पांचाली और गौडी, इन तीन रीतियों के भौगोलिक आधार पर भी आक्षेप किया :

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥

(काव्यालंकार, 1/32)

दण्डी ने भामह की इस शंका का निराकरण किया कि वैदर्भी और गौडी इन रीतियों में अंतर ही क्या है, पर मात्र भौगोलिक आधार पर रीतियों का विभाजन उन्होंने भी अनुचित ही माना। दण्डी ने पहली बार संस्कृत काव्यशास्त्र में यह बात स्पष्ट रूप से कही कि रीति के विभाजन का मूल आधार कवि के द्वारा स्वीकृत मार्ग है, इसलिए उन्होंने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया :

अस्त्येनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरम्॥

(1/40)

तथा

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्‌भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥

(1/101)

कविवाणी के परस्पर सूक्ष्मभेद वाले अनंत मार्ग हैं। उनमें वैदर्भ तथा गौडीय में अंतर अत्यंत स्पष्ट है।...इस प्रकार ये दोनों मार्ग एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्रत्येक

कवि में इनके अलग-अलग प्रकार उपयुक्त हो सकते हैं, अतः इनके भेदोपभेद बताना संभव नहीं है।

कुंतक ने दण्डी के इस स्पष्टीकरण को और भी सुलझाते हुए रीतियों के भौगोलिक आधार का सर्वथा निराकरण करके कविस्वभाव के आधार पर सुकुमार, मध्यम और विचित्र, ये तीन प्रकार के मार्ग निरूपित किए। इस प्रकार काव्यशास्त्र की अलंकारवादी इस धारा में दण्डी संभवतः भामह के ऋणी रहे होंगे, और कुंतक को अवश्य ही कविमार्ग के निरूपण के लिए दण्डी के ऋणी हैं।

रीतियों का भौगोलिक आधार पर विभाजन सर्वथा असंगत भी नहीं कहा जा सकता। ग्रीक काव्यशास्त्र में भी बहुत प्राचीन काल में भौगोलिक आधार पर साहित्य की शैलियों के विभाजन की परंपरा रही है। क्विंलियन ने दो प्रसिद्ध भौगोलिक भेदों का उल्लेख किया है : एटिक और एशियाटिक। साथ ही, उसने रचनाकार की प्रवृत्ति के आधार पर भी—प्रसन्न (सरल), उदात्त तथा मध्यम अथवा सज्जित—इन तीनों भेदों का निरूपण किया। ग्रीक काव्यशास्त्र के साहित्यशैली के ये भेद दण्डी तथा कुंतक द्वारा निरूपित कविमार्ग के भेदों के लगभग समकक्ष हैं। सुकुमार मार्ग या वैदर्भी रीति को यहां माधुर्य आदि गुणों से युक्त माना गया है, तथा विचित्र अथवा गौडीय मार्ग में ओजोगुण, जटिल समासंबंध आदि की प्रधानता रहती है। मध्यम मार्ग अथवा पांचाली रीति इनके बीच की है।

संदर्भ

1. उपमा यत् अतत् तत् सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयासं वा प्रख्यातं वोपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यासांसम्। (निरुक्त, 3/13)
2. वही, 3/13-18
3. काव्यादर्श, 2/14 भामह ने भी उपमा के विषय में यह मत व्यक्त किया है :
   सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य क्वचित्।
   यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते ॥ (काव्या., 2/46)
4. काव्यादर्श, 2/1
5. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ (काव्यप्र., 8/67)
   तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
   अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥ (ध्वन्या. 2/7)
6. तत्र अलंकारसंसृष्टेः इत्येव वक्तव्ये नानालंकारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलंकारत्वात्। यदाह—काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।

...(सरस्वती कण्ठाभरण, पृ. 621)

तत्र काव्यशोभाकरान् इत्यनेन श्लेषोपमादिवद् गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनप्यनुगृह्णाति। मार्गविभागकृद्गुणानामलंक्रियोपदेशेन श्लेषादीनां गुणत्वमिवालंकारत्वमपि ज्ञापयति। (वही, पृ. 612)

7. रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥
(भामह : काव्यालंकार, 1/13-15, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1962)

8. वही, देवेन्द्रनाथ शर्मा की भूमिका, पृ. 41

13
गुणरीतिविचार

जिस प्रकार कविता के आदि युग में अलंकारों का प्रयोग तथा उनपर विचार प्रारंभ हुआ, उन्हीं के साथ गुणों की ओर भी रचनाकारों का ध्यान गया था। वेद के कवियों ने इन्द्र संबंधी सूक्तों में जहां ओजस्, श्लेष, उदारता, अर्थव्यक्ति आदि गुणों का प्रयोग किया, तो उषस् के सूक्तों में प्रसाद, समता, सौकुमार्य आदि गुणों का। प्रयोग करने के साथ ही साथ उन्होंने स्वयं इन गुणों का नामोल्लेख भी किया। प्रथम अध्याय में हम देख चुके हैं कि वाणी की शक्ति और सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए इन कवियों ने उसे द्योतमाना, त्विषीमती (कांतिगुण से युक्त), चित्रा (श्लेषयुक्त), नवस्रक्ति (समाधि से युक्त), इषिरा (अर्थव्यक्ति से युक्त) तथा स्वादुमत् (माधुर्य से युक्त) कहा है। इन विशेषणों में रीति-गुण संप्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन द्वारा निरूपित शब्द और अर्थ के अधिकांश गुणों का संग्रह हो जाता है।

गुण और रीति की यह अवधारणा सिद्धांत और व्यवहार दोनों दृष्टियों से रामायण और महाभारत में परिपक्व होती दिखाई देती है। रामायण में काव्य के कुछ गुणों की चर्चा इस प्रकार की गई है :

पाठ्ये गेये च मधुरम्।

(1/228)

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।

(1/2/17)

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैः ततस्स रामस्य चकार कीर्तिमान्।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्विनं काव्यमुदारधीर्मुनिः ॥

(1/2/42)

तदुपगतसमाससन्धियोगं समधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरवधं निशामयध्वम् ॥

(1/2/43)

चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान् ।

(1/4/43)

श्रूयतामिदमाख्यानमनयोर्देववर्चसोः ।
विचित्रार्थपदं सम्यक् गायकौ समचोदयत् ॥

(1/4/1)

इन पंक्तियों में काव्य के निम्नलिखित गुणों का संकेत दिया गया है : (1) माधुर्य, (2) उदारवृत्तार्थता, (3) समाक्षरत्व, (4) विचित्रपदयुक्तत्व, (5) विचित्रार्थत्व, (6) उपनतार्थत्व। इनमें विचित्रर्थत्व, विचित्रपदत्व और माधुर्य पर विशेष बल दिया गया है। माधुर्य गुण के कारण वाणी में मन को आह्लादित करने की क्षमता आविर्भूत होती है। महाभारत में वाणी के माधुर्य गुण का उल्लेख करते हुए इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है :

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
वसूनां समयं स्मृत्वाभ्यगच्छदनिन्दिता ॥
उवाच चैव राज्ञः साह्लादयन्ती मनो गिरा ।

(आदि., 98/1, 2)

काव्यशास्त्रियों ने न केवल माधुर्य आदि गुणों की अवधारणा रामायण-महाभारत जैसे इन काव्यों से ली, उनके लक्षण भी इन काव्यों में यत्र-तत्र दिए गए संकेतों के आधार पर निर्मित किए। माधुर्य गुण की प्रसिद्ध परिभाषा **'आह्लादकत्वं च माधुर्यम्'**, जो अनेक काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा स्वीकृत है, महाभारत की उक्त पंक्तियों से प्रभावित लगती है। माधुर्य के अतिरिक्त महाभारत में रामायण की भांति विचित्रार्थत्व, विचित्रपदयुक्तत्व तथा उपपत्ति का भी उल्लेख किया गया है :

तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः (आदि., 1/24)
विचित्रार्थपदाख्यानम् । (वही, 2/245)
विचित्रार्थपदाक्षरा शृण्वन्ती विविधा वाचः । (उद्योग., 94/2)
वाक्यमुच्चैर्जगादेवं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् । (आदि., 200/59)
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवार्थवद् वचः । (सभा., 62/1)
...अर्थ्यं तथ्यं हितं युक्तमनुत्तरम् ।

उवाच भगवान् वाक्यं सुभद्रां बहुभाषिणीम् । (सभा., 2/5)
हेतुमद्वचः ।...न्याय्यं युक्तम् । (शान्ति, 18/6, 19/5)
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः । (वन., 36/28)
उपपन्नमिदं वाक्यम् । (उद्योग., 5/2)
वाक्यं हेतुमदर्थ्यं च । (रामा., 6/17/32)
श्लक्ष्णमर्थवन्मधुरम् । (रामा., 6/17/50)

इस प्रकार उस समय काव्य में माधुर्य के साथ शब्दों और अर्थों के सौंदर्य या वैचित्र्य तथा युक्तिमत्व को आवश्यक माना जाने लगा था। रामायण और महाभारत में इन गुणों के अतिरिक्त अविस्तार तथा असंदिग्धता की भी रचना के लिए अनुशंसा मिलती है :

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम् ।
उरस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यंजनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररसेरपि ॥

(रामा., 4/3/31-32)

रामायण और महाभारत के रचनाकाल तक गुण, अलंकार तथा लक्षण—इन तीनों को पृथक्-पृथक् श्रेणियों में नहीं रखा गया था। काव्य की शोभा के उपादानों के रूप में उपर्युक्त गुणों की चर्चा इन दोनों ग्रंथों में की गई। आगे चलकर इनमें से कुछ को लक्षणों और अलंकारों के भीतर ही रखा गया। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में काव्य के 36 लक्षणों का विवेचन किया है जिनमें से श्लक्ष्ण और विचित्र अर्थों वाली शोभा (**तत्र श्लक्षणविचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते**—नाट्यशास्त्र, 16/8) रामायण तथा महाभारत की श्लक्ष्णता और विचित्रता से साम्य रखती है जिनका उल्लेख ऊपर के उद्धरणों में है। काव्य के लक्षणों में भरत ने हेतु को भी एक माना है। हेतु का उल्लेख भी महाभारत में किया गया है (ऊपर देखें)। रामायण और महाभारत दोनों में उपपत्ति और युक्ति को वाणी के गुणों में परिगणित किया गया है। भरत ने उपपत्ति और युक्ति नामक दो पृथक् लक्षण माने हैं।[1]

भरत ने काव्यार्थ के दस गुण इस प्रकार बताए हैं :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥

(नाट्यशास्त्र, 16/97)

इनमें से समता के समकक्ष रामायण में **समाक्षरम्** और महाभारत में **'समं वाक्यम्'**, (उद्योग., 1/25) का उल्लेख हुआ है। माधुर्य और सुकुमारता का उल्लेख दोनों काव्यों में अनेकत्र हुआ है। अर्थव्यक्ति तथा उदारता की भी परिगणना उपर्युक्त उद्धरणों में की गई है। भरत की वैशिष्ट्यरूप समाधि[2] तथा मन को आह्लादित करने वाली कांति[3]– इन दोनों का समावेश भी रामायण और महाभारत के उपर्युक्त विचित्रपदयुक्तत्व, असंदिग्धता, आह्लादकत्व तथा अर्थयुक्तत्व में हो जाता है। महाभारत में मृदुता तथा श्लक्ष्णता का स्थान-स्थान पर वाणी के गुण के रूप में उल्लेख है, उससे आशय भरत के पदसौकुमार्य से रहा होगा।[4] रामायण में उदारवृत्तार्थता नामक जो गुण उल्लिखित है, उसे भी भरत के उदारता नामक गुण से अभिन्न माना जाना चाहिए, क्योंकि भरत ने अपने उदारता गुण के लक्षण में दिव्य भावों से युक्त होना, शृंगार और अद्भुत आदि का समावेश, तथा अनेक भावों की एकत्र उपस्थिति–इनको गिनाया है[5], जो उदारवृत्तार्थता गुण से भी संकेतित होते हैं। संभव है कि रामायण तथा महाभारत में उत्तम वाणी अथवा काव्य की उपर्युक्त जो विशेषताएं सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में प्रकट हुई हैं, उनका प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भरत के गुण और लक्षण के विवेचन पर पड़ा हो।

एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात जो रामायण-महाभारत आदि पुरातन ग्रंथों तथा उनकी परंपरा में लिखने वाले कवियों की रचनाओं से उभरकर सामने आती है, वह यह है कि गुण और अलंकार दोनों का संबंध संस्कार से है। यह संस्कार रचना के समय कवि के भीतर चलने वाली परिष्कार की प्रक्रिया तथा उसके निष्पादन तत्त्व का नाम है। संस्कार के द्वारा शब्द और अर्थ मानो चलनी से छानकर प्रस्तुत कराए जाते हैं। वेद के कवि ने इसी दृष्टि से कहा था : **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।'** (ऋग्वेद, 10/71/2)

रामायण के कवि ने भी वाणी को **'संस्कारक्रमसम्पन्ना'** इसीलिए कहा है।[6] संस्कार से रहित होकर वाणी अर्थांतर–गलत अर्थ–से जुड़ जाती है, वह कवि के अभिप्राय को प्रकट करने में अक्षम रहती है, **'संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थांतरं गताम्'** (रामा., 5/15/36)। वाल्मीकि के इस अनुभूत सत्य को कालिदास ने भी जाना था। तभी उन्होंने कहा : वह मनीषी (कवि) संस्कारवती वाणी से पूत और विभूषित होता है : **'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च'** (कुमार., 1/28)। संस्कार की हुई वाणी ही चरितार्थ–अर्थ से समन्वित होती है, यह सृष्टि के आद्य कवि ब्रह्मा के उदाहरण से कालिदास ने स्पष्ट किया है :

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थेव भारती ॥

(कुमारसंभव, 2/17)

वाणी के संस्कारयुक्त होने की आवश्यकता काव्य में ही नहीं, जीवन में तथा दर्शन और विचार के क्षेत्र में भी बहुत मानी गई : 'वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।'

सांख्य आदि दर्शनों ने तो 'गुणः कृतात्मसंस्कारः प्राधान्यं प्रतिपद्यते' के द्वारा गुणों का संबंध स्पष्ट रूप से संस्कार के साथ जोड़ा। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने गुणों पर विचार तो किया, पर गुणों के संस्कार की बात, जिसे कवियों ने अनुभव किया तथा बार-बार कहा था, उनकी दृष्टी में नहीं आई, यह आश्चर्य का विषय है। काव्यपाक के सिद्धांत में अवश्य कवि द्वारा निरंतर संस्कार तथा साधना की प्रक्रिया और उसकी निष्पत्ति का आकलन किया जा सकता था, पर वह आचार्यों के द्वारा उपेक्षित ही रहा।

ऊपर हम कह चुके हैं कि भामह ने रीतियों के विभाजन में विशेष रुचि नहीं ली थी, तथा दण्डी ने उनके इस अभाव को पूरा किया था। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि भामह के सामने कालिदास तक का ही काव्य रहा होगा, जिसके विवेचन से रीतियों का वैविध्य तथा उनके पारस्परिक भेद का पता इतनी सूक्ष्मता और स्पष्टता से नहीं चल सकता था। दण्डी के समक्ष कालिदास के अतिरिक्त भारवि का भी काव्य रहा होगा। दण्डी के पितामह का भारवि के समकालीन होने का शिलालेखीय प्रमाण इस संभावना की पुष्टि करता है।[7] इसके अतिरिक्त संभवतः बाण और सुबंधु भी दण्डी के पहले हो चुके थे, पर दण्डी इनसे परिचित नहीं जान पड़ते।

कालिदास, सुबंधु और बाण, इन तीन रचनाकारों में संस्कृत काव्यशैली के तीन छोर सर्वाधिक सुस्पष्ट देखे जा सकते हैं। भारवि में इन तीनों की प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। कालिदास ने वैदर्भी रीति को जन्म भले ही न दिया हो, पर वह अनुप्राणित उन्हीं से हुई। उनकी कविता की महत्ता से वैदर्भी रीति को आचार्यों के संप्रदाय में महत्ता मिली तथा काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने इस रीति को श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओजस्, कांति तथा समाधि–इन दस गुणों से युक्त और सभी रीतियों में श्रेष्ठ माना। यह भी उल्लेख्य है कि वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता मानने वाले ये समस्त आचार्य समय की दृष्टि से कालिदास के बाद के हैं। उनके

पूर्ववर्ती भरत ने तो वैदर्भी आदि रीतियों के विभाजन का स्पष्ट उल्लेख भी नहीं किया।

विकास

दण्डी के सामने कालिदास और संभवतः भर्तृमेण्ठ तथा भारवि की कविता के आधार पर संस्कृत काव्यशैली के दो छोर स्पष्ट हुए थे, अतः उन्होंने वैदर्भी और गौडी, ये दो ही काव्यमार्ग निरूपित किए। वामन ने इनमें तीसरी—पांचाली रीति—और जोड़ी, क्योंकि उनके सामने कालिदास, भर्तृमेण्ठ तथा भारवि का ही नहीं, बाण, सुबंधु और भवभूति का काव्य भी आ चुका था। गौडी रीति के उदाहरण में तो उन्होंने भवभूति के महावीरचरित का ही एक पद्य उद्धृत किया। कालिदास, बाण तथा सुबंधु, इन तीन रचनाकारों में काव्यशास्त्र के आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित तीन रीतियां, वैदर्भी, पांचाली तथा गौडी, एकदम स्पष्ट रूप से पहचानी जा सकती हैं, अतः यह स्वाभाविक ही है कि (रीतिवादी समझे जाने वाले) आचार्य वामन में इन तीनों रीतियों का सर्वाधिक सुस्पष्ट विवेचन मिलता है, क्योंकि वामन कालिदास, सुबंधु तथा बाण तीनों के परवर्ती हैं।

इन तीनों रचनाकारों में काव्यशैली के तीन ऐसे परिपक्व रूप प्रकट होते हैं, जो बाद के संस्कृत कवियों के लिए आदर्श तथा उपजीव्य बने। कालिदास अपनी प्रांजलता, माधुर्य और प्रसाद में एक सीमा पर हैं, तो सुबंधु अपने **'प्रत्यक्षरश्लेषमय-प्रबंधवैदग्ध्यनिधि'** होने के दावे और घटाटोप के साथ सर्वथा दूसरी सीमा पर। बाण इन दोनों के बीच में हैं—वे दोनों के वैशिष्ट्य को अपने में समो लेते हैं और एक नई रीति को निर्मित करते हैं। इस आधार पर वामन ने दण्डी के द्वारा प्रतिपादित कविमार्गों—वैदर्भी तथा गौडीय—में एक और रीति पांचाली जोड़ी। वामन के सामने कालिदास के साथ-साथ यदि बाण आदि का लेखन न होता, तो वे इन तीनों रीतियों की अवधारणा प्रस्तुत नहीं कर सकते थे।

वामन ने दण्डी के दो रीतिभेदों में एक भेद ही और नहीं जोड़ा, उन्होंने रीति के विवेचन को और अधिक परिपूर्ण तथा स्पष्ट भी बनाया। पर जैसा दण्डी के बारे में कहा जा चुका है वामन को भी रीतिवादी आचार्य तथा रीतिसंप्रदाय का प्रवर्तक कहना उचित नहीं। यदि वामन को रीति का संप्रदाय प्रवर्तित करना होता तो वे भामह की तरह अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' (सूत्रवृत्ति) न रखते, कुंतक के वक्रोक्तिजीवित अथवा आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक की तरह रीतिजीवित या रीतिप्रकाश

जैसा कोई नाम रखते, काव्यालंकार—यह नाम वामन के अलंकारवादी होने का ही संकेत देता है, जिस प्रकार ध्वन्यालोक आनंदवर्धन के ध्वनिवादी होने का। इसका सबसे बड़ा प्रमाण वामन के ग्रंथ का सबसे पहला सूत्र ही है : **'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'**—काव्य अलंकार से ही ग्राह्य बनता है। ग्रंथ का यह पहला सूत्रवचन वामन की इस मान्यता को स्पष्ट करता है कि वे अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व समझते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र अथवा सभी शास्त्रीय ग्रंथों में यह परंपरा रही है कि ग्रंथकार ग्रंथ के मंगलाचरण, पहली कारिका या पहले सूत्र में अपनी मूल प्रतिज्ञा, मान्यता अथवा प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालता है। यदि वामन रीतिवादी होते अथवा रीतिसंप्रदाय प्रवर्तित करना चाहते तो ग्रंथारंभ में इसका संकेत दे देते। उनके ग्रंथ में पहले अधिकरण के पहले अध्याय में तो रीति का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है, रीति का पहली बार उल्लेख ही दूसरे अध्याय के छठे सूत्र में पहुंच कर आता है।

पहले सूत्र में अलंकार को ही काव्य का मूल तत्त्व बताने के बाद दूसरे सूत्र में वामन ने उसका लक्षण भी दिया : **'सौंदर्यमलंकारः'** तथा उसकी वृत्ति में कहा : **'अलंकृतिरलंकारः'**। भामह तथा उनसे अधिक स्पष्टतया दण्डी ने अलंकार के रूप में काव्य में सर्वव्यापी जिस मूल तत्त्व का प्रतिपादन किया था, वामन ने उसे सूत्रबद्ध रूप में और भी स्पष्ट कर दिया। आगे उन्होंने और भी स्पष्ट रूप में कहा है कि अलंकार का मूल प्राथमिक अर्थ सौंदर्य ही है। अपने द्वितीय अर्थ में वह सौंदर्य के उपकरणों को भी द्योतित करता है, तब उसको हम उपमा आदि अर्थालंकारों के रूप में लेते हैं। वामन ने अलंकार के इन दो अर्थों को तीसरे सूत्र में एक-दूसरे के समानांतर लाकर मंतव्य स्पष्ट कर दिया है : **'स खल्वलंकारो दोषहानाद् गुणालंकारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः'** अर्थात् वह अलंकार (सौंदर्य) दोष के निराकरण तथा गुण और अलंकार (अनुप्रास आदि तथा उपमा आदि) के ग्रहण से काव्य में उत्पन्न होता है।

वामन को रीतिवादी क्यों कहा जाता है? उन्होंने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में या अंत में कहीं तो यह नहीं कहा कि हमने इस ग्रंथ में रीति की स्थापना की है। रीति के संबंध में उनके एक सूत्र से यह भ्रांति उत्पन्न हुई है : **'रीतिरात्मा काव्यस्य।'** (रीति काव्य की आत्मा है)। आधुनिक पंडितों तथा कुछ पुराने आचार्यों ने भी वामन के इस सूत्र का यह आशय लिया कि वामन रीति को काव्य की आत्मा (सार या प्राण) मानते हैं। पर क्या वामन ने अपने उक्त सूत्र में आत्मन् शब्द को कथित अर्थ में प्रयुक्त किया है? आत्मन् शब्द संस्कृत में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उसका

मूल अर्थ किसी पदार्थ का अपना स्वरूप है। उपनिषद् में 'आत्मा वा अरे ज्ञातव्यः' इत्यादि स्थलों पर तथा महाभारत में **'गोपायन्ति कुलस्त्रिय आत्मानमात्मना'** (कर्णपर्व, 107) में आत्मन् शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। वामन के **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** में भी आत्मन् शब्द इसी अर्थ में है—रीति से काव्य आकार या स्वरूप में अवस्थित होता है, वह काव्य का स्वरूप है। **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** में वामन को यही आशय अभिप्रेत है, यह उन्हीं के बाद के सूत्रों से स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद का उनका सूत्र है : **'विशिष्टा पदरचना रीतिः'**, और इसके ठीक बाद उन्होंने कहा है : **'विशेषो गुणात्मा।'** दोनों सूत्रों के आधार पर डॉ. नगेन्द्र ने वामन का अभिप्राय यह बताया है : इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ गुणसंपन्न पद-रचना और **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** का अर्थ हुआ : 'गुणसंपन्न पदरचना काव्य की आत्मा है।' (हिंदी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—सं. विश्वेश्वर, हिंदी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली, 1954, भूमिका, पृ. 9)। डॉ. नगेन्द्र ने वामन के दोनों सूत्रों का अनुवाद तो ठीक ही किया है, पर उन्होंने भी आत्मा शब्द का अर्थ अंग्रेजी के 'सोल' के पर्याय के रूप में ही लेकर वामन के विषय में प्रचलित भ्रांत मान्यता को बढ़ावा दिया। म.म. पी. वी. काणे ने तो अन्य काव्यशास्त्र के आधुनिक विद्वानों के ही समान वामन को रीति संप्रदाय का जन्मदाता कहा है और रीति को पहली बार कविता की आत्मा (सोल ऑफ पोयट्री) निरूपित करने के लिए वामन के साहस की सराहना भी की है। (पी. वी. काणे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ. 144)

यह विचारणीय है कि जिस आचार्य ने अपने ग्रंथ के पहले ही सूत्र में 'काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य बनता है', यह उद्घोषित करके अलंकार (सौंदर्य) को काव्य का मूल तत्त्व ठहराया हो, वह आगे चलकर पदरचना को (काव्य के सारभूत या प्राणभूत आभ्यंतर तत्त्व के अर्थ में) काव्य की आत्मा कैसे कह सकता है? वास्तव में वामन रीति को काव्य की आत्मा (महत्त्वपूर्ण तत्त्व, स्वरूपभूत) मानते हैं, पर वे काव्य का प्राणभूत आभ्यंतर तत्त्व कदापि नहीं मानते। रीति का काव्य में क्या स्थान है, इस प्रश्न का समाधान वामन ने एक नितांत व्यावहारिक दृष्टांत उपस्थित करके बहुत सुलझे ढंग से किया है, जिस पर वामन को रीति संप्रदाय का आचार्य मानने वाले आधुनिक पंडितों की दृष्टि कदाचित् नहीं गई : **'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति**। (वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/2/13 की वृत्ति)

अर्थात् वैदर्भी, पांचाली और गौडी, इन तीनों रीतियों में काव्य उसी प्रकार प्रतिष्ठित

है, जिस प्रकार रेखाओं में चित्र। काव्य यदि चित्र है, तो रीतियां उसकी रेखाएं। इस प्रकार रीतियां काव्य के स्वरूप की निर्धारक हैं, या उन्हें काव्य का स्वरूप भी कहा जा सकता है। पर जिस प्रकार रेखाएं चित्र में स्थूल दृश्यमान तत्त्व हैं, वे अपने आपमें चित्र का सौंदर्य या आत्मा नहीं हैं, उसी प्रकार रीति भी काव्य में स्थूल तत्त्व है, काव्य का आभ्यंतर प्राणभूत तत्त्व नहीं।

इस प्रकार वामन भी भामह और दण्डी की भांति अलंकारवाद की परंपरा में आते हैं, रीति संप्रदाय में नहीं। भामह ने शब्दार्थ के साहित्य को काव्य कहा था, वामन ने विशिष्ट पदरचना को काव्य का स्वरूप कहा। भामह के अनुसार शब्दार्थ के साहित्य से काव्य में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। वामन ने विशिष्ट पदरचना के द्वारा इस वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया। पदों की विशिष्ट रचना रीति है तो वह रीति शब्द और अर्थ के साहित्य या विशिष्ट समायोजन से ही काव्य में आती है। इस प्रकार वामन में भामह की रीति के विषय में उठाई गई शंका निर्मूल हो जाती है, साथ ही भामह की ही साहित्य विषयक अपेक्षाकृत अस्पष्ट धारणा 'रीति' के द्वारा अधिक मूर्त रूप में प्रकट हो जाती है। शब्दार्थ साहित्य अथवा पदों की विशिष्ट रचना यदि रीति है तो शब्दार्थ अथवा पद उसके उपस्कारक हो सकते हैं, वह उपस्कार्य है। इस दृष्टि से जयरथ ने अलंकारसर्वस्व की विमर्शिनी टीका में वामन पर टिप्पणी की है : **'तदुपस्कार्यः पुनरात्मा कैश्चिदपि नाभ्युपगतः। वामनेन तु तदुपस्कार्य आत्मा कश्चिदुक्तः।'** वामन के पूर्व तक काव्य के उपस्कार्य का उल्लेख किसी आचार्य ने नहीं किया था (भामह ने साहित्य के द्वारा उसका संकेत अवश्य किया था), वामन ने पहली बार काव्य के उपस्कार्य रीति का उल्लेख किया।

भामह, दण्डी तथा वामन, ये तीनों अलंकारवादी धारा के चिरंतन आचार्य हैं। इनकी परंपरा का परितोष नवीं, दसवीं शताब्दियों में उद्भट, रुद्रट आदि के द्वारा किया गया। भामह ने रस आदि को अलंकार के ही अंतर्गत माना था, दण्डी ने रस के साथ काव्य के अन्य सभी प्रस्थानों का समावेश अलंकार के ही भीतर किया। उद्भट तथा रुद्रट के समय तक आनंदवर्धन का ध्वनिवाद पुरस्कृत हो चुका था। पर उद्भट ने भामह की ही परंपरा में रहते हुए सभी प्रकार की ध्वनिरस आदि को अलंकार की श्रेणी में ही परिगणित किया। अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक (12वीं शती) ने इस आचार्यों के विषय में अपने ग्रंथ के प्रारंभ में ठीक ही लिखा है कि ये प्रतीयमान अर्थ (रस, ध्वनि आदि) को वाच्य के उपस्कारक के रूप में अलंकार के ही अंतर्गत मानते हैं।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला सं., पृ. 256
2. अभियुक्तेविशेषस्य योऽर्थयैवोपलभ्यते।
   तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते ॥ (ना. शा., 16/102)
3. यन्मनः श्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत्।
   लीलाद्यर्थोपसम्पन्नां तां कान्तिं कवयो विदुः ॥ (वही, 16/108)
4. सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः।
   सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ॥ (वही, 16/105)
5. दिव्यभावपरीतं यच्छृंगाराद्भुतयोजितम्।
   अनेकभावसंयुक्तमुदारं तत्प्रकीर्तितम् ॥ (वही, 16/107)
6. रामायण, 6/3/31
7. विशेष विवरण के लिए देखिए, प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास' (संस्कृत परिषद्, सागर, 1976), पृ. 176-77

14

कुन्तक और वक्रोक्तिविचार

अलंकारवादी चिंतन को प्रकर्ष पर पहुंचाकर सर्वांगपूर्ण स्वरूप कुंतक ने दिया। कुंतक के समय तक आनंदवर्धन का ध्वनिसिद्धांत सर्वातिशायी रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। कुंतक ने भामह, दण्डी, वामन आदि की परंपरा को व्यवस्थित करके आगे ही नहीं बढ़ाया, उन्होंने अलंकारवादी चिंतन को एक बार फिर इतना स्फूर्त तथा क्षम स्वरूप दिया कि वह रसध्वनिवाद के समकक्ष तथा समानांतर खड़ा रह सके।

कुंतक को वक्रोक्तिवादी कहा जाता है। वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया। पर वक्रोक्ति की मूल अवधारणा उन्होंने आचार्य भामह से ही ली थी। उन्होंने भामह की वक्रोक्ति की विस्तृत छानबीन की तथा उसे शास्त्रीय आधार देकर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने ध्वनि या व्यंजना व्यापार का खंडन नहीं किया, ऐसा करने की उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी। वस्तुतः वे ध्वनिविरोधी थे भी नहीं। उन्होंने रसध्वनिवाद के समक्ष अलंकारवादी आचार्यों की सफलता को पहचाना, और अलंकारवाद के समकक्ष ध्वनिवाद की सीमाओं को भी समझा। ध्वनिवाद ने काव्य के मर्म तक पहुंचने के लिए व्यंजना व्यापार को ही माध्यम माना। इस मतंव्य में दो अनुपपत्तियां होने की संभावना बनी रही। ध्वनिवादी शब्दव्यापार की प्रक्रिया के निरूपण में काव्यार्थ को भूल सकता था, अथवा व्यंजना के माध्यम से वह कवि के अभिप्राय के बाहर की बातों को भी वाक्य पर थोप सकता था। कुंतक ने रसध्वनिवाद के उद्देश्य को तो समझा, पर व्यंजना के स्थान पर एक ऐसे व्यापार को उपस्थित करना आवश्यक समझा जो काव्य से ही पूर्णतः संबद्ध हो, तथा जिसमें उक्त दोनों अनुपपत्तियों के लिए अवकाश न हो। ऐसा व्यापार वक्रोक्ति ही हो सकता है। व्यंजना पूरी तरह काव्य का ही व्यापार नहीं है। इस बात को

ध्वनिवादी भी स्वीकार करता है कि व्यंजना का क्षेत्र इतना बड़ा है कि उसकी व्याप्तियां काव्य के अतिरिक्त अनेक स्थलों में देखी जा सकती हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि हमारे जीवन के सभी कार्यकलापों में तथा सब प्रकार की प्रक्रियाओं में व्यंजना व्यापार काम करता है। व्यंजना की यह व्यापकता जहां काव्यपरीक्षण के लिए आचार्य को स्वतंत्रता देती है, वहीं मनमानी प्रकल्पनाओं के लिए पूरा अवकाश भी। कई बार व्यंजनावादी से काव्य का मूल अर्थ ही छूट जाता है, और वह सर्वथा असंबद्ध अर्थ काव्य से निकाल लेता है, क्योंकि उसके अनुसार व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से असंबद्ध भी हो सकता है। वक्रोक्ति पूर्णतः काव्यनिष्ठ है, उसमें ऐसी छूट के लिए अवकाश नहीं रहता, और न उक्त दोष की संभावना ही।

इस प्रकार कुंतक का वक्रोक्तिविचार काव्यचिंतन की अपेक्षाओं के अनुरूप ही विकसित होकर उपस्थित हुआ। साथ ही, कुंतक के समय तक संस्कृत कविता जिन धाराओं में प्रवाहित हो चुकी थी, उसके अनुसार भी वक्रोक्तिविचार का इस रूप में अवतरण अब अपेक्षित था। वाल्मीकि और कालिदास की कविता में जहां कवि के समुन्नत व्यक्तित्व के अनुरूप संपूर्ण प्रबंध में उसकी जीवनदृष्टि उभरी थी, वहीं बाद के कवियों—भारवि, माघ, भर्तृमेण्ठ तथा कुछ अंशों तक भवभूति—में भी एक-एक पद्य में वैशिष्ट्य उत्पन्न करने का आयास प्रकट हुआ जिसे कवि की उक्ति का वैशिष्ट्य कहा गया। इस प्रकार यह विचार सामने आया कि उक्ति विशेष ही काव्य है। भोज तथा राजशेखर ने यह मंतव्य स्पष्टतः सामने रखा।[1] उक्ति का यह वैशिष्ट्य कवि के द्वारा अंगीकृत कथन पद्धति से आता है। यही वक्रता है। कुंतक को शास्त्र के क्षेत्र में भरत, भामह, दण्डी और वामन की परंपरा मिली थी तो काव्य के क्षेत्र में उक्तिवैशिष्ट्य का आधार भी उन्हें मिला।

भामह ने वक्रोक्ति की मूल अवधारणा तो प्रस्तुत की थी, पर काव्यधारा तथा काव्यचिंतन की ऐतिहासिक परंपरा से वे उसे नहीं जोड़ सके। उन्होंने केवल इतना ही संकेत किया कि सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति रहती है। कुंतक ने वक्रोक्ति व्यापार की काव्य में परिणतियों की ही व्याख्या नहीं की, भरत की काव्यबंध की धारणा से भी उन्होंने उसे जोड़ा। भरत ने अनेक स्थलों पर काव्य को 'बंध' कहा है :

काव्यबंधास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः। (15/227)

यत्किंचित् काव्यबंधेषु सादृश्येनोपमीयते। उपमा नाम सा...

(16/41)

काव्य में शब्द और अर्थ का साहित्य होता है, ऐसा कहने से काव्य की अवधारणा एकदम स्पष्ट हो नहीं पाती। भरत ने बंध शब्द का प्रयोग उसे स्पष्ट करने

के लिए ही किया था। काव्य में शब्द, और अर्थ आदि एक बंध में बंधकर व्यवस्थित हो जाते हैं। कुंतक ने भरत की इस बात को और आगे बढ़ाते हुए कहा है कि यह बंध वक्रव्यापारशाली होता है। तब काव्य की अवधारणा को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि वक्रव्यापारशाली बंध में व्यवस्थित शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है, और यह काव्यबंध जब रसिक के मन में खुलता है तो वह उससे आह्लाद पाता है :

शब्दार्थौ व्यवस्थितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

(कुंतकः वक्रोक्तिजीवित, 1/7)

यह बंध क्या है? जिसमें काव्यार्थ को व्यापारित करने की सामर्थ्य हो तथा जो वाच्य और वाचक दोनों के सौभाग्य और लावण्य का परिपोषक हो, ऐसा वाक्यविन्यास बंध है :

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बंध उच्यते ॥

(वही, 1/22)

इस प्रकार कुंतक की वक्रोक्ति इस काव्यबंध से भिन्न कुछ भी नहीं है। व्यंजना काव्य तथा काव्यार्थ का अतिक्रमण कर सकती है, वक्रोक्ति नहीं। वक्रोक्ति में काव्यव्यापार तथा काव्योक्ति दोनों तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं : वक्रता अर्थात् चमत्कारपूर्ण कथनपद्धति भी उसमें रहती है, और उक्ति या कथन भी। इस प्रकार कवि का अभिप्राय तथा कवि का कथन—दोनों वक्रोक्ति के द्वारा प्रकाशित हो जाते हैं।

कुंतक के पूर्व दण्डी ने दो प्रकार की उक्तियां मानी थीं : स्वभावोक्ति और रसोक्ति। वक्रोक्ति में ही उन्होंने रसोक्ति को भी समाहित माना था। आगे चलकर भोज ने विशिष्ट उक्ति को काव्य कहा, तथा इस उक्ति को वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति, इन तीन प्रकारों में निरूपित किया। कुंतक ने भी उक्ति के प्रकार स्वीकार किए हैं, तथा उक्ति को दो श्रेणियों में बांटा है : अलंकार्य तथा अलंकार। शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं, वक्रोक्ति उनका मूल अलंकार है। यह उक्ति को विभिन्न रूपों में समुल्लसित होकर अलंकृत करती है।[2] इस प्रकार कुंतक ने इसके अनेक भेद किए हैं, जिनमें प्रमुख हैं : (1) वर्णविन्यासवक्रता, (2) पदपूर्वार्धवक्रता, (3) पदपरार्धवक्रता, (4) वाक्यवक्रता, (5) प्रकरणवक्रता, (6) प्रबंधवक्रता।

कुंतक ने उक्त समस्त वक्रताप्रकारों का संबंध कविव्यापार से स्थापित करते

हुए यह दिखलाया कि कविप्रतिभा किस प्रकार इन रूपों में काव्य में समुल्लसित होती है। कविप्रतिभा का यह समुल्लास विभिन्न मार्गों में होता है। कुंतक ने इस प्रसंग में तीन महत्त्वपूर्ण मार्ग बतलाए : सुकुमार, मध्यम और विचित्र। इस दृष्टि से कुंतक के सिद्धांत में सभी अलंकार, रीतियां तथा ध्वनिसिद्धांत का स्वारस्य भी बिना व्यंजनावृत्ति को स्वीकार किए समाविष्ट हो जाता है। उन पर यह आक्षेप किया जाता है कि वे काव्य के सभी प्रस्थानों को अपने सिद्धांत में समाविष्ट न कर सके, इसलिए वक्रोक्ति मत प्रतिष्ठित नहीं हुआ। यह पुनर्विचारणीय है।

कुंतक ने वक्रोक्ति को अलंकृति कहा है।[3] संभवतः यह प्रयोग कुंतक ने वामन के **'अलंकृतिरलंकारः'** से प्रेरित होकर किया हो। वक्रोक्ति शब्द तथा अर्थ दोनों का अलंकार तो है, मात्र उपमा आदि अर्थालंकारों तथा अनुप्रास आदि शब्दालंकारों के अर्थ में नहीं। प्रतिभाशील, निपुण कवि के रचना कौशल से निर्मित असाधारण चमत्कारपूर्ण कथनपद्धति ही वक्रोक्ति नहीं, काव्य का समग्र सौंदर्य उसमें समाविष्ट हो जाता है।

ध्वनिवाद में काव्य के सभी प्रस्थानों को स्थान देने का प्रयास किया था, पर उसमें अलंकारप्रस्थान के साथ निश्चय ही अन्याय हुआ था। अभिनवगुप्त तथा उनके अनुयायी मम्मट ने अलंकारों को बाह्य तत्त्व तथा कटककेयूर (कंगन, झुमके) आदि के समान ही नहीं, चित्रकाव्य या अधम काव्य के रूप में कविता में सबसे निचला दर्जा दिया, जबकि वे यह भी जानते थे कि अलंकारवादी आचार्यों के अनेक अलंकारों में व्यंग्य अर्थ का भी चमत्कार रहता है, तथा ध्वनिवाद की दृष्टि से भी वे गुणीभूतव्यंग्य की श्रेणी में आते हैं, जिसे आनंदवर्धन ने ध्वनि का निष्यंदभूत कहा है। कुंतक ने अलंकारों को वक्रता या वक्रोक्ति के प्रकारों में समुचित स्थान देते हुए ध्वनिवाद की इस अनुपपत्ति का निराकरण किया।

भामह, दण्डी तथा वामन, इन तीनों में अलंकार का द्विविध रूप स्पष्ट है। एक आभ्यंतर है, जो अलंकृति-अलंकरण के भाव, या सौंदर्य को द्योतित करता है। दूसरा अपेक्षाकृत बाह्य रूप है जिसमें शब्दार्थ का विन्यास और उनके संयोजन की विविध भंगिमाएं आती हैं। किंतु दोनों रूप एक-दूसरे से निरपेक्ष और स्वतंत्र कहीं भी नहीं हो सकते। इसलिए उनके परस्पर अनुबद्ध होने का आधार होना चाहिए। यह आधार कुंतक ने वक्रोक्ति के द्वारा उपन्यस्त किया।

व्यंजनाव्यापार तथा ध्वनिसिद्धांत से असहमत न होते हुए भी कुंतक उसकी सीमाओं को समझते थे। व्यंजना या ध्वनि से काव्य के संपूर्ण सौंदर्य की पहचान नहीं हो सकती, व्यंग्य को ही उद्दिष्ट मानने से काव्यसौंदर्य के अनेक पक्ष छूट जाते

हैं, वक्रोक्ति के भीतर वे सब आ जाते हैं क्योंकि उक्ति मूलाधार है। और वक्रता उसी में समाविष्ट है। व्यंजना के विषय में यह बात नहीं की जा सकती। वह उक्ति तथा वक्रता, इन दोनों के बाद ही आती है।

वक्रोक्ति से कुंतक का आशय उक्तिवैचित्र्य मात्र से नहीं है। वक्रोक्ति के लक्षण **'वैदग्ध्यभंगीभणिति'** में वैदग्ध्य तथा भंगी, दोनों पर बल है, केवल भंगी या उक्तिवैचित्र्य पर नहीं। कुंतक ने वक्रोक्ति की परिणतियों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट निरूपित किया कि वक्रोक्ति से लावण्य और सौकुमार्य ये दो गुण काव्य में आते हैं। इस दृष्टि से उनकी वक्रोक्ति परिकल्पना लांगेनियस के उदात्त के समकक्ष पड़ती है, जो काव्य के समस्त वैशिष्ट्य का पुंजीभूत रूप है और काव्य को स्फूर्त करता है।[4] कुंतक तथा लांगेनियस दोनों ने वर्णसावर्ण्यरम्यता या शाब्दिक क्रीड़ा को महत्त्वहीन बतलाया। कुंतक के ही समान लांगेनियस ने भी उदात्त तत्त्व की विविध काव्यगत परिणतियां निरूपित करते हुए उसकी परिव्याप्ति का निदर्शन किया। उसने उदात्त के पांच स्रोत माने : महान् धारणाएं, आवेग, अलंकार, उत्कृष्ट भाषा तथा रचनाविधान। कुंतक ने भी वक्रता का स्रोत कविप्रतिभा तथा कविव्यापार को माना, तथा अलंकार, भाषा और रचनाविधान से होने वाली वक्रता को विभिन्न कोटियों के अंतर्गत निरूपित किया। अलंकार के संबंध में लांगेनियस ने कहा कि सबसे अच्छा अलंकार वही होता है, जहां भावक का ध्यान उस पर न जाए, तथा वह काव्य के औदात्य को पुष्ट करे।[5] कुंतक की दृष्टि से यह स्थिति 'वक्रताविचित्रगुणालंकारसंपत्ति का परस्पर स्पर्धाधिरोह' है।[6]

कविता के संबंध में दो मौलिक बातों को सोदाहरण स्पष्ट करने वाले संस्कृत काव्यशास्त्र में एकमात्र आचार्य कुंतक हैं : पहली तो यह कि अलंकृति—सुंदर होने का भाव—कविता की मूल प्रकृति है, दूसरी यह कि वास्तविक अलंकरण काव्य में वहां होता है जहां काव्य के सभी उपादान एक विशिष्ट बंध या अवस्थान में रहकर एक-दूसरे को अलंकृत करते जान पड़ते हैं, उनका परस्पर संश्लेष इतना परिपूर्ण होता है कि कौन किसकी शोभा बढ़ा रहा है, यह विवेचन सामान्यतः वहां हो ही नहीं सकता। वास्तविक वक्रोक्ति यही है। इसे मात्र बांकापन—उक्ति का सामान्य बातचीत से अलग हटकर कुछ होना—ही न समझ लिया जाए इसीलिए कुंतक ने स्थान-स्थान पर उत्कृष्ट उदाहरण देते हुए विच्छित्ति, काव्यच्छाया, लावण्य, सौभाग्य, शोभातिशय आदि वक्रोक्ति के रूपों को निरूपित किया।

कुंतक पर एक विद्वान् अध्येता का आक्षेप यह है कि वे व्यंजना व्यापार के संबंध में मौन हैं, न तो उसे स्वीकृत करते हैं, न अस्वीकृत (वे उसकी अपेक्षा कर

जाते हैं), बिना शब्दव्यापार के विचार के शब्द और अर्थ की विविध वक्रताओं का निरूपण कैसे हो सकता है?[7] पर यह तो ध्वनिवाद के उपनेत्र से कुंतक की वक्रोक्ति को पढ़ने का प्रयास है। वास्तव में कुंतक ने जिस पद्धति से अपना सिद्धांत गढ़ा, उसमें व्यंजना को स्थान न मिलना स्वाभाविक ही था, पर कुंतक के द्वारा व्यंजना की उपेक्षा उनका उस परिस्थिति में एक बड़ा साहस भी था। किंतु व्यंजना की उपेक्षा के कारण उनके समय से अब तक कुंतक की जो उपेक्षा हुई, वह उचित नहीं कही जा सकती।

उपर्युक्त कथन की सच्चाई के परीक्षण के लिए तत्कालीन काव्यचिंतन की स्थिति की कुछ और छानबीन अपेक्षित है। यह सही है कि व्यंजना के विवेचन ने काव्य को समझने का एक अत्यंत भव्य द्वार खोल दिया था और उसके द्वारा रस और ध्वनितत्त्व का जो चिंतन विकसित हुआ, उससे आचार्यों की विलक्षण प्रतिभा प्रकट होती है। पर यह भी सही है कि शब्दव्यापार पर काव्य विवेचन को आधारित करने से आचार्य की जितनी सामर्थ्य प्रकट हुई उतनी ही अशक्ति और दयनीयता भी, क्योंकि उससे काव्यचिंतन व्याकरण का अनुगामी बन गया। उस समय व्याकरण सभी विद्याओं का सम्राट और मूल समझा जाता था (**व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्**—आनंदवर्धन), इसलिए आनंदवर्धन तथा मम्मट को व्याकरण का अनुगामी बनने में गौरव का ही अनुभव हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि लक्षणा के छः भेदों तथा उनके उदाहरणों—यह मनुष्य बैल है, गंगा में ग्वालों की बस्ती है, आयु ही घृत है, आयु पीता है इत्यादि—को समझे बिना काव्य का आकलन हो ही नहीं सकेगा, ऐसा समझा जाने लगा। मम्मट आदि आचार्यों के भाषाशास्त्र के ज्ञान, व्याकरण तथा मीमांसा आदि दर्शनों में प्रस्तुत अर्थविचार की उनकी गहरी समझ की प्रशंसा करते हुए भी यह प्रश्न तो हम पूछ ही सकते हैं कि उपादान, लक्षण, सारोपा, साध्यवसाना आदि लक्षणों के भेदों तथा उनके आधार पर व्यंजना वृत्ति के निरूपण से क्या सचमुच काव्य को समझने और उसका मूल्यांकन करने की दिशा में हम अग्रसर हो सकते हैं? दूसरे शब्दों में इतर शास्त्रों की शब्दावली तथा विचार के सहारे काव्य को समझना उचित है या काव्य की सही समझ से निर्मित शब्दावली और विचार के द्वारा? कुंतक संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों की महिमामय विशाल परंपरा में संभवतः एकमात्र ऐसे सहृदय आचार्य हैं जिन्होंने दूसरे पक्ष को अपनाया। कश्मीर में रहकर भी शैवदर्शन तथा व्याकरण की दार्शनिक शब्दावली और सांप्रदायिक चिंतन के घटाटोप से बचकर काव्य को काव्य के ही उपकरणों के संदर्भ में समझने और समझाने का प्रयास अलंकारवाद की परंपरा में वक्रोक्ति के निरूपण के द्वारा उन्होंने किया तथा उसके द्वारा काव्यसौंदर्य के सभी पक्षों को उजागर करने में वे सफल हुए। ध्वनिवाद

की तुलना में उनकी सफलता पर हम अंतिम अध्याय में पुनः विचार करेंगे।

संदर्भ

1. विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः। (भोजः सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यवाला सीरीज), पृ. 60
   उक्तिर्नाम यदि स्वार्थो भंग्या भव्योऽभिधीयते। (वही) पृ. 73
   तदिदमुक्तिप्राधान्यात् काव्यमित्युच्यते। पृ. 260
   बन्धो गुम्फो भणितिर्वक्रोक्तिः कविव्यापार इति पर्यायाः। (अभिनवगुप्त : अभिनवभारती गायकवाड़ ओरि. सीरीज 16/41) पृ. 321
   उक्तिविशेषः काव्यम् (राजशेखर : कर्पूरमंजरी)

2-3. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
   वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते॥
   (कुंतक वक्रोक्तिजीवित, 1/10, सं. कृष्णमूर्ति, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, 1977)

4. जार्ज सैंट्सबरी : हिस्ट्री ऑफ क्रिटिसिस्म, पृ. 154
5. लांगेनियस : आन दि सब्लाइम, पृ. 17
6. वक्रोक्तिजीवित, पृ. 10
7. डॉ. बच्चूलाल अवस्थी : ध्वनिसिद्धांत तथा तुलनीय साहित्यचिंतन (हिंदी ग्रंथ अकादमी, म.प्र. भोपाल, 1971)

15
संस्कृत कवियों का काव्यचिंतन

कवि अपनी रचना के संबंध में स्पष्टीकरण देता हुआ कभी-कभी काव्यरचना के सिद्धांतों के विषय में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मंतव्य प्रकट करता है, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। उसके ये मंतव्य समकालिक आचार्यों के विचारों के अनुरूप भी हो सकते हैं, अथवा उसके प्रति प्रतिक्रियास्वरूप भी। यह भी संभव है कि काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का अध्ययन किये बिना कवि अपनी प्रातिभ दृष्टि से काव्यसिद्धांतों के उन तत्त्वों का संकेत कर दे जिन तक आचार्यों की दृष्टि नहीं पहुंची हो। अतः संस्कृत काव्यशास्त्र का क्रमिक विकास जानने के लिए, काव्य तथा रचनाकारों के साथ उसके अंतःसंबंध् को समझने के लिए तथा कविदृष्टि से उन्मीलित वैचारिक तत्त्वों का शास्त्रीय सिद्धांतों के संदर्भ में परिचय पाने के लिए संस्कृत कवियों द्वारा अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र प्रकट काव्यशास्त्रविषयक मान्यताओं का अनुशीलन अपेक्षित है।

काव्यप्रयोजन

इस पुस्तक में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार रामायण, महाभारत, पुराणों अथवा स्तोत्र काव्यों के अंत में जोड़े गए इन रचनाओं के महात्म्यवर्णनों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव काव्यशास्त्र के प्रयोजननिरूपण पर पड़ा होगा। साथ ही, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्यशास्त्रियों के द्वारा निरूपित काव्य के विभिन्न प्रयोजन आत्यंतिक तथा एकांतिक रूप से कविविशेष, के संदर्भ में लागू नहीं किए जा सकते। उदाहरण के लिए कालिदास की दृष्टि से देखें तो उनकी काव्यरचना का पर्यंत में प्रयोजन यश आदि न होकर यही हो सकता है :

परस्परविराधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥

(विक्र. 5/24)

तथा

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥

(शाकुंतल., 7/35)

कवि की उक्त कामनाओं में श्री और सरस्वती का सज्जनों के मंगल के लिए संगम होना अथवा पार्थिव का प्रजा के हित के लिए प्रवृत्त होना और सरस्वती का महीयसी बनना तथा कवि की अपनी मुक्ति की कामना, इनको आचार्यों के द्वारा निरूपित अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमंगलनाश अथवा चतुर्वर्गफलप्राप्ति आदि काव्यप्रयोजनों में अंतर्भावित किया जा सकता है, पर हमें उक्त पद्यों में कालिदास की भूमि भिन्न लगती है। काव्यशास्त्र के आचार्य जब काव्यप्रयोजन गिनाते हैं तो प्रतीत होता है कि उनके सामने रचना करने वाला तथा रचना को पढ़ने वाले कुछ सहृदयमात्र ही हैं, उक्त पंक्तियों में स्पष्ट है कि कवि के सामने चतुरुद्रधिमेखला धरित्री है, सारा लोक है। अश्वघोष का काव्यप्रयोजन मूलतः उक्त प्रयोजनों से भिन्न है, फिर भी सारे लोक के लिए रचना में प्रवृत्त होने की धारणा उनमें भी थी :

प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात् प्रतिहतं ।
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षपरमिति ॥

(सौन्दरनन्द, 18/64)

अतः कवि के अंतर्मन में कहीं यह वासना रहती है कि वह अपने लिए या कुछ काव्यपारखी सहृदयों के लिए ही नहीं लिख रहा, परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से उसकी रचना एक अकेली होकर भी असंख्य लोगों की आराधना का साधन बन जाएगी : **नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।** (माल., 1/4)

भिन्नरुचि लोक की आराधना करने का काव्यप्रयोजन भारवि ने भी अपनी गूढ़ शैली में इंगित किया है : **प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषां प्रसन्नगंभीरपदा सरस्वती** ॥ (किरात., 14/3)

बारहवीं शती के महाकवि बालचंद्र ने अपने बसंतविलास महाकाव्य में काव्य में निम्नलिखित प्रयोजनों का उल्लेख किया है : (1) समस्त जीवों का वर्गीकरण,

(2) यश की प्राप्ति, (3) अभिमत समृद्धि की उपलब्धि।[1] उनके अनुसार काव्य कवियों की चैतन्य मूर्ति है तथा कल्पद्रुम, चिंतामणि और कामधेनु के समान है।[2]

काव्य के ये प्रयोजन कवि के पक्ष की दृष्टि से गिनाए गए प्रतीत होते हैं, सहृदय की दृष्टि से तो :

छायामयन्ते निरपायमेके परे परं पल्लवमुल्लुलन्ति।
आस्वादयन्तीतरे फलानि मार्गद्रुमाणामिव सत्कवीनाम् ॥

(वसंतविलास, 1/11)

कुछ लोग काव्य रूपी वृक्ष की छाया में आश्रय लेते हैं, कुछ लोग पल्लवों को ग्रहण करते हैं और कुछ फल का आस्वाद भी लेते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों से कवि का यह मंतव्य प्रकट है कि काव्य के पाठक या सहृदय की कई श्रेणियां हो सकती हैं, अपनी-अपनी दृष्टि तथा क्षमता से वे काव्य का उपयोग करते हैं, पर उसके साथ ही यह भी संकेत है कि काव्य की अलग-अलग श्रेणियां और क्षमताएं हो सकती हैं।

बालचंद्र ने काव्य को अध्यात्म से भी जोड़कर देखा है। वे अध्यात्म तथा काव्य में अंततः पार्थक्य नहीं देखते। वस्तुतः काव्य ही सबसे बड़ा अध्यात्म है, वह त्रिकालदर्शी बनने के लिए सिद्धांजन के सदृश है :

सदा चिदानंदसमृद्धिहेतुराध्यात्ममार्गो न परः कवित्वात्।
त्रिकाललोकत्रयदर्शनाय सिद्धाजन नापरमस्ति किंचित् ॥

(वसन्तविलास, 1/38)

कवि नीलकण्ठ दीक्षित के मत में साहित्य वह जयघंटा है जिससे कवि का यश गुंजित होता है।[3] पर उनके मत में भी साहित्य का मूल प्रयोजन आनंद ही है। इसी आधार पर वे काव्य और संगीत का पार्थक्य भी प्रदर्शित करते हैं। 'संगीत तो कान में जाकर कान में ही सूख जाता है, पर काव्य हृदय के भीतर प्रवेश करके आनंद प्रदान करता है, इसीलिए वह अमृत के समान है।'[4] आनंदप्राप्ति के साथ निर्दोष मनोरंजन के द्वारा दुस्सह समय का सुगमता से यापन भी कविता का एक प्रयोजन है।[5] बालचन्द्र की तरह नीलकण्ठ भी काव्य को साहित्य से जोड़ते हैं। बिना ध्यान, धारणा, समाधि आदि जटिल साधनाओं के ही काव्य चित्त को एकाग्र करके आराध्य में रमा देता है।[6] नीलकण्ठ दीक्षित के पूर्व दक्षिण में आलवार संतों की वाणी तथा पूर्व में चैतन्य की माधुर्य भक्ति और वैष्णव संप्रदाय का प्रचार हो चुका था। कविता की भक्ति, अध्यात्म साधना और आराधना से जोड़ने का प्रयास इन सबका प्रभाव कहा जा सकता है। पर इसके साथ ही नीलकण्ठ ने काव्य को कई संदर्भों में देखते

हुए उससे व्यावहारिक ज्ञान, बुद्धि की ऋजुता तथा शास्त्रीय पांडित्य की प्राप्ति भी मानी।[7]

काव्यहेतु

इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक कवियों के काव्यरचना के समय की अनुभूतियों तथा रामायण के काव्योन्मेष के प्रसंग के आधार पर काव्यशास्त्र में काव्यहेतु की धारणा विकसित हुई होगी। काव्य के आचार्यों ने जिसे नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा कहा था, उसका संकेत **'नवा धीः'** के द्वारा वैदिक कवि कर चुका था : **तं वो धिया नवस्य शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परितं सुमध्ये**। (ऋ., 6/22/7)

काव्यरचनाप्रक्रिया के कुछ सूक्ष्म संकेतों का कालिदास की कृतियों के आधार पर पहले उल्लेख किया जा चुका है। इन संकेतों को मिलाने पर काव्यशास्त्र का हेतुविचार अधिक स्पष्ट और पुष्ट बन जाता है। उदाहरणार्थ, आचार्यों ने जिसे प्रज्ञा का उन्मेष तथा अभिधेय का स्फुरण कहा है (द्रष्टव्य, तीसरा अध्याय), उसके लिए भवभूति ने 'आकस्मिक प्रत्यवभास' तथा कवि का वाक् रूपी ब्रह्म में प्रबुद्ध होना, इन दो विशेषणों का प्रयोग किया है। कवि के प्रबुद्ध होने पर उसके भीतर की ऋषिदृष्टि अव्याहत रूप से प्रतिभात होती रहती है।[8] तब वह परिणतप्रज्ञ बन जाता है।[9]

भारवि ने काव्यरचना के संबंध में अपने मंतव्यों को परोक्ष रूप में यत्र-तत्र अपने महाकाव्य में स्पष्ट किया है। वाणी के संबंध में उन्होंने कहा है : **प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगंभीरपदा सरस्वती** ॥ (14/3) प्रसन्न और गंभीर पदों वाली सरस्वती या वाणी अकृतपुण्य लोगों के मानस से प्रवाहित नहीं हो सकती। यहां पर काव्यरचना के लिए अपेक्षित विशिष्ट संस्कार तथा साधना दोनों की ओर संकेत है।

काव्यशास्त्र में प्रतिभा को काव्य का हेतु माना गया है। इस प्रतिभा की विभिन्न परिणतियों को हम कवियों के माध्यम से ही अधिक सुस्पष्ट रूप में समझ सकते हैं। प्रतिभा का एक वैशिष्ट्य अतीत और अनागत विषयों को प्रत्यक्ष कर देने की सामर्थ्य माना गया है, जिसकी ओर कवि कल्हण ने इस प्रकार संकेत किया है :

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः ॥

(राजतरंगिणी, 1/4)

नीलकंठ दीक्षित के मत में प्रतिभा कवि की वह दिव्य दृष्टि है जिससे वह सर्वसंवेद्य

भावों का प्रत्यक्षीकरण करता है।[10] प्रतिभा के नवोन्मेष के कारण ही कवि अपने लिए ऐसे मार्ग का आविष्कार करता है जो दूसरों से सर्वथा अस्पृष्ट है। प्रतिभा कवि की अपनी दृष्टि है, उसके होने पर कवि को दूसरों को दिखाए मार्ग पर चलने की आवश्यकता नहीं :

अन्धास्ते कवयो येषां पन्थाः क्षुण्णः परैर्भवेत्।
परेषां तु यदाक्राँन्तः पन्थास्ते कविकुंजराः ॥

(गंगावतरण, 1/17)

आनंदवर्धन ने इसी दृष्टि से कहा था कि जो कवि दूसरों से शब्द और अर्थ नहीं लेता और जिसके पास स्वयं की दृष्टि है, उसकी शब्दार्थ रचना स्वयं घटित होती है :

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्यैवैषा घटयति यथेच्छं भगवती ॥

(ध्वन्या., 4/17)

पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसी आधार पर प्रतिभा को **'काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति'** (रसगंगाधर, पृ. 25) कहा था। परंतु पंडितराज तथा आनंदवर्धन के भी पूर्व कवि भवभूति ने प्रतिभा के वैशिष्ट्य के द्वारा काव्यसर्जना के स्वतःस्फुरण और अनायास संपन्न होने की प्रक्रिया पर अधिक गहराई से प्रकाश डाला था। परिणतप्रज्ञ कवि का वाणी वशीभूत-सी अनुकरण करती है। शब्दों की अनुकूल रचना इस प्रकार उसके अंतस् से प्रस्फुटित होती चली जाती है कि अर्थ मानो उनके पीछे खिंचकर चला आ रहा हो :

यं ब्रह्माणमियं देवी वाक् वश्येवानुवर्तते।

(उत्तरराम., 1/2)

तथा,

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

(वही, 1/10)

नीलकण्ठ दीक्षित ने प्रतिभा को 'सारस्वत-चक्षुः' कहा है, जिसके द्वारा कवि सभी कुछ प्रत्यक्ष कर सकता है।[11] इसकी प्राप्ति होने पर उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता।[12] इसी प्रतिभा को नीलकण्ठ दीक्षित ने शक्ति भी कहा है जिसके बिना काव्य का स्फुरण कविमानस में संभव ही नहीं है।[13] नीलकण्ठ का यह मत मम्मट और राजशेखर की परंपरा में आता है।

काव्यशास्त्र के आचार्यों को एक वर्ग प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी काव्य का कारण मानता आया है। इससे भी आगे बढ़कर कुछ आचार्यों ने

इस मान्यता का भी प्रचार किया कि प्रतिभा न होने पर भी केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर भी काव्यरचना संभव है। दण्डी इन आचार्यों में प्रमुख थे जिनका कहना था :

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना–
गुणानुबंधिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीसु विहर्तुमीशते ॥

(काव्यादर्श, 1/104–105)

पूर्ववासना के गुणों से अनुबद्ध अद्भुत प्रतिभा यदि न हो, तब भी काव्य आदि के अनुशीलन तथा यत्न के साथ वाणी की उपासना करने पर वह अवश्य ही अनुग्रह करती है। अतएव कीर्ति चाहने वालों को आलस्य छोड़कर सरस्वती की उपासना करनी चाहिए। कवित्वशक्ति के कृश होने पर भी लोग परिश्रम करके विदग्ध गोष्ठियों में (कवि के रूप में) विहार कर सकते हैं।

दण्डी के ही कुछ समय बाद भवभूति का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हें कवि के लिए पांडित्य की अनिवार्यता तथा उसका काव्य में प्रदर्शन अनुचित लगा था। कुछ आचार्य यह मानने लग गए थे कि वेद आदि शास्त्रों का ज्ञान कवि को काव्य में रोचक रूप में प्रकट करना चाहिए, इतना ही उसकी रचना का उद्देश्य है। उनका विरोध करते हुए भवभूति ने कहा :

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चित् गुणो नाटके ॥

(मालतीमाधव, 1/7)

भवभूति के पश्चात् काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य मम्मट का पदार्पण हुआ, जिनके समुदितहेतुत्रयवाद की अत्यधिक प्रतिष्ठा हुई, और उसका विरोध समर्थ रूप में किसी ने किया भी नहीं। नीलकण्ठ ने उन्हीं से प्रभावित होकर काव्य को 'व्युत्पन्न कवि का कर्म' कहा।[14] व्युत्पत्ति के बिना काव्य का अभ्यास निरर्थक है :

अशिक्षितानां काव्येषु वृथाभ्यासो वृथा श्रमः।
किमस्त्यनुपनीतस्य वाजपेयादिभिर्मखैः ॥

(गंगावतरण, 1/10)

काव्य का स्वरूप

काव्यशास्त्र के आचार्यों में भामह प्रथम हैं जिन्होंने शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा। परंतु काव्य के क्षेत्र में उनसे बहुत पहले यह बात वेद का कवि कह चुका था। (प्रथम अध्याय द्रष्टव्य)। उसी परंपरा में कालिदास ने **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'** कहकर वाणी (शब्द) और अर्थ की संपृक्ति काव्य है, इस मंतव्य की ओर संकेत किया (रघुवंश, 1/1)। कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर की संपृक्ति के लिए वाणी और अर्थ के साहित्य का उपमान दिया है। पार्वती और शिव के संपृक्त होने पर सर्वथा अद्‌भुत तत्त्व—अर्धनारीश्वर—की सृष्टि होती है। इसी प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ के संपृक्त होने पर सर्वथा हृद्य तत्त्व व्यंजित होता है। पार्वती सौंदर्य तथा साधना और शंकर शिवत्व के प्रतीक हैं। आगे चलकर कुंतक ने जिसे **'अन्यूनानतिरिक्त- त्वमनोहारिण्वस्थितिः'** कहा था, उसका समावेश कालिदास की इस शब्दार्थ-संपृक्ति में पूर्णतः हो जाता है। कालिदास की इस कवित्वमय काव्यविवेचना का अनुवर्तन माघ ने भी किया। उन्होंने कहा : **'शब्दार्थौ सत्कविरिव विद्वान् द्वयमपेक्षते।'** (शिशुपाल., 2/86)

प्रथम अध्याय में हम देख चुके हैं कि वैदिक काव्य के समय से ही काव्य के विषय में एक धारणा यह भी बनी थी कि वह मनुष्य के चरित की गाथा है। भरत ने यही आधार लेकर कहा था कि नाट्य लोकचरित का निरूपण करता है। कालिदास ने भरत अथवा अन्य किसी परंपरा से प्रभावित होकर नाना रसों से युक्त लोकचरित का दिग्दर्शन नाट्य या काव्य के द्वारा संभव होने की बात कही थी : **'त्रैगुण्योद्‌भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते'**। (माल., 1/4)

भारवि ने अपने किरातार्जुनीय महाकाव्य में उत्तम काव्य की निम्नलिखित विशेषताओं का संकेत किया है : विविक्तवर्णाभरणा, सुखश्रुतिः, प्रसन्नगंभीरपदा, हृदय को प्रसन्न करने वाली (14/3), पदों की स्फुटता तथा अर्थगौरव से युक्त, अपृथगर्थ वाली, सामर्थ्य अथवा शब्दों की अन्योन्यसांकाक्षा से युक्त (2/27), रुचिरार्था (2/5) आदि। भवभूति ने **'भूम्नां रसानां गहनाः प्रयोगाः, चित्रा कथा वाचि विदग्धता च'** (मालती., 1/4) कहकर रसनिर्भरता तथा कथातत्त्व और वचनविदग्धता को भी महत्त्वपूर्ण माना है। पीयूषवर्ष जयदेव ने 'रम्यं नाट्यप्रबंधमतिमंजुलसंविधानम्' (प्रसन्नराघव, 1/7) कहकर वस्तुयोजना की मंजुलता पर बल दिया है। मंख ने श्लेष के द्वारा काव्य में सुवर्ण (सोना, सुंदर वर्ण) के साथ अर्थरत्न का योग आवश्यक बतलाया है :

तान्यर्थरत्नानि न सन्ति येषां सुवर्णसंघेन च ये न पूर्णाः।
ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्पाः यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम् ॥

(श्रीकण्ठचरित, 2/6)

वाणी और अर्थ का योग कालिदास ने भी माना है पर मंख और उनकी चिंतन की व्याप्ति में अंतर है। मंख वर्ण, अर्थ तथा रीति, इनको काव्य में पृथक्-पृथक् तत्त्व मानते प्रतीत होते हैं, जबकि कालिदास के अनुसार काव्य में आकर ये तत्त्व पृथक्-पृथक् नहीं रह जाते, शक्ति और शिव की तरह घुलमिलकर एक हो जाते हैं, और जब वे घुलमिलकर एक हो जाते हैं, तो यह विवाद उठाना ही गलत है कि उनमें प्रधान और अप्रधान कौन है, क्योंकि पृथक् से उनमें से किसी की सत्ता नहीं रह जाती, उनके समवाय से जो बनता है, उसी की सत्ता रह जाती है। अतः कालिदास की दृष्टि से काव्य में शब्द प्रधान है या अर्थ, यह प्रश्न ही नहीं उठता। भामह ने संकेत दिया है कि शास्त्र के क्षेत्र में उनके समय में आचार्य गण इस विवाद में उलझे थे कि काव्य में शब्दसौष्ठव या सौशब्द्य प्रधान है अथवा अर्थव्युत्पत्ति। वामन पर आकर इनमें एक और तत्त्व—रीति—भी जुड़ा। मंखक ने काव्य में इन तीनों की उपस्थिति आवश्यक मानी है, पर स्वर्ण, रत्न आदि का उपमान देकर वे तिलतण्डुलन्याय से उनका सांकर्य स्वीकार करते लगते हैं।

कालिदास, भवभूति और भारवि के बाद अनेक संस्कृत कवियों ने काव्य के विषय में मान्यताएं प्रकट कीं पर उन पर आचार्यों का प्रभाव छाया हुआ लगता है। बालचन्द्र सूरि गुणों से युक्त और सौंदर्यमयी वाणी को काव्य मानते हैं, अलंकार उनकी दृष्टि में काव्य के लिए अनिवार्य नहीं है :

प्रसत्तिमाधुर्यवती स – दौजाः सुजातसौंदर्यनिधानभूता।
मनोहरालंकृतिवर्जितापि शय्यां गता वाग् लटभांगनेव ॥

(वसंतविलास, 1/32)

कवि के '**मनोहरालंकृतिवर्जितापि**' इस कथन में मम्मट के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' की छाया है। इस समय तक काव्य के जितने प्रस्थान निरूपित हो चुके थे, उनका उल्लेख इन कवियों ने किया है। काव्य में रस, ध्वनि, चमत्कार, वक्रोक्ति आदि की आवश्यकता भी उन्होंने बताई है :

काव्येन किं तेन न यत्परेषां रेखां विधत्ते दृषदीव चित्ते।

(वसंतविलास)

उस काव्य से क्या, जो दूसरों के चित्त में रेखा न बना दे?

रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु...॥

(विक्रमांकदेवचरित, 1/22)

सरसा सालंकारा सुपदन्यासा सुवर्णमयमूर्तिः।
आर्या तथैव भार्या न लभ्यते पुण्यहीनेन।

(सुभाषितरत्नभाण्डा., 30/17)

सरस, अलंकारयुक्त, सुपद (अच्छे पद) के विन्यास से युक्त, सुवर्ण से युक्त आकार वाली आर्या और उसी के समान भार्या पुण्यहीन के द्वारा नहीं पाई जा सकती।

सा कविता सा वनिता यस्याः श्रवणेन दर्शनेनापि।
कविहृदयं विटहृदयं सरलं च तरलं च सत्वरं भवति॥

(प्रसंगाभरण, 13)

वह कविता और वनिता अच्छी है, जिसके श्रवण तथा दर्शन से कविहृदय तथा विटहृदय तुरंत सरल और तरल बन जाए।

प्रसत्तेर्यः पात्रं तिलकयति यं सूक्तिरचना
य आद्यः स्वादूनां श्रुतिचुलुकलेह्येन मधुना।
यदात्मानो विद्याः परिणमति यश्चार्थवपुषा
स गुम्फो वाणीनां कविवृषनिषेव्यो विजयते॥

(सुभा., 31/41)

जो प्रसाद गुण से युक्त है, सूक्ति रचना जिसे सुशोभित करती है, जो श्रवण रूपी चुल्लू से लेह्य मधु सी सुस्वादु है, विद्याएं जिसका स्वरूप हैं, जो अर्थ के रूप में परिणत होता है, वह श्रेष्ठ कवियों से निषेवित वाणी का गुम्फन विजयी हो।

गुम्फः पंकजकुड्मलद्युतिरिव तत्केसरोल्लासवान्
अर्थोप्यन्तरसौरभप्रतिनिभं व्यंग्यं चमत्कारि यत्।
द्वित्रैर्यद्रसिकैश्चिरं सहृदयैर्भृङ्गैरिवास्वाद्यते
तत्काव्यं न पुनः प्रमत्तकुकवेर्यत्किंचिदुज्जल्पितम्॥

(वही, 32/17)

जिसकी रचना कमल के दल के समान केसर के उल्लास से युक्त हो, जिसमें उसके भीतर के सौरभ सदृश अर्थ भी चमत्कारपूर्ण हों, जो भ्रमर के समान दो तीन सहृदयों द्वारा आस्वादित किया जाए, वही काव्य है, प्रमत्त कुकवि का प्रलाप नहीं।

विभिन्न कवियों के इन सभी उद्धरणों में रस, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा अलंकार को काव्य के तत्त्व बताते हुए कविता की तुलना सुंदर रमणी से की गई है जो अपना लावण्य केवल रसिकों या विदग्धों के समक्ष ही खोलती है। कविता के संबंध में इस प्रकार की धारणा समसामयिक वातावरण तथा काव्यचिंतन से प्रभावित है। यद्यपि वाणी के अपना स्वरूप जानकार आदमी के सामने ही उन्मोचित करने की बात वेद के कवि ने भी बहुत पहले कही थी जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, पर कविहृदय और विटहृदय को एक स्तर पर देखने की बात मध्ययुग के सामंती वातावरण में पला कवि या आचार्य ही कर सकता था। यहां कविता **'जायेव पत्य उशतीः सुवासाः'** न रहकर गणिका के समान हो गई है, जो अपने वचनप्रपंच तथा चमत्कारचातुरी से कुछ छैल-छबीलों या नागरकों का मन मोह लेती है। मध्ययुग में कविता का समाज सिकुड़ता जा रहा था, और कवि के लिए पंडित होना आवश्यक मान लिया गया था, तो कविता रसिक-नागरक के लिए ही सुरक्षित रह गई थी। कविता के बाहरी उपकरणों के सायास विन्यास को भी अत्यधिक महत्त्व मिलने लगा था, भले ही उसमें पहले मनीषियों द्वारा निरूपित आकस्मिक प्रत्यवभास या कविदृष्टि का उन्मेष विद्यमान न हो। काव्य की परीक्षा पंडितों के ही सामने होनी चाहिए, यह भी आवश्यक मान लिया गया था क्योंकि,

कविः करोति काव्यानि स्वादं जानन्ति पण्डिताः।
सुन्दर्या अपि लावण्यं पतिर्जानाति नो पिता॥
विद्वत्कवयः कवयः केवलकवयस्तु केवलं कवयः।
कुलजा या सा जाया केवलजाया तु केवलं जाया॥

(सुभा., 32/14/21)

कवि काव्य लिखता है, पर उसका रस तो पंडित ही जानता है, सुंदरी के लावण्य को भी उसका पति जानता है, पिता नहीं। जो कवि होने के साथ विद्वान् भी है, वही कवि है, जो केवल कवि ही है, वह क्या कवि है। जो कुलीन पत्नी है, वही पत्नी है।

आगे चलकर कवि नीलकण्ठ ने काव्यविषयक इन मान्यताओं को अधिक संतुलित और सुसंबद्ध रूप दिया। वे काव्य में रसाभिव्यक्ति को सर्वोपरि स्वीकार करते हुए भाव, व्यंग्य तथा रीति आदि तत्त्वों का भी उसमें विनिवेश मानते हैं।[15] कालिदास की भांति शब्द और अर्थ की संपृक्ति को उन्होंने उसी उपमान द्वारा प्रकट किया है :

सव्यं वपुः शब्दमयं पुरारेरर्थात्मकं दक्षिणमामनन्ति।
अंगं जगमंगलमैश्वरं तद्... ॥

(शिवलीलार्णव, 1/15)

गुणरीतिविचार

काव्य की विशिष्ट शैली के संबंध में सर्वप्रथम सुस्पष्ट और गंभीर चिंतन भारवि में मिलता है। आदर्श काव्यरीति का उत्कृष्ट मानदंड भारवि ने अपनी स्वतंत्र कविदृष्टि से उन्मीलित किया है।

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेस्मिने वचसि क्षतौजसाम्।
अतिवीर्यवत्तीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥

(2/4)

परिणाम में सुखकर, गुरुतर, क्षीणशक्ति वालों के लिए व्यथादायक, अत्यंत शक्तिशाली औषध सदृश इस वचन में स्वल्प होते हुए भी अतिशय गुण दिखाई पड़ता है।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥

(2/27)

इस वाणी में पदों से स्फुटता दूर नहीं की गई है, अर्थगौरव को पूरी तरह अपनाया गया है, आशय एकदम स्पष्ट है तथा पद और अर्थ अन्योन्यसाकांक्ष हैं।

प्रसादरम्यौजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्।
साकांक्षमनुपस्कारं विष्वग्गतिनिराकुलम् ॥
न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षभिवागमे।
अप्रकम्प्यतयाऽन्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥
अलंघ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम्।
औदार्यादर्थसंपत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव ॥

(11/38-40)

तुम्हारा यह वचन प्रसाद गुण के कारण रमणीय, फिर भी ओजस्वी, गुरुतापूर्ण फिर भी लाघव (संक्षेप) से युक्त, साकांक्ष, अध्याहारदोष से रहित तथा संपूर्ण अर्थ का प्रतिपादक है। युक्तिपूर्वक तत्त्व का निर्णय इसमें होने से इसे शास्त्र की अपेक्षा नहीं। सर्वथा अवाधित होने से यह आम्नाय के सदृश है। सामान्य लोगों से अलंघ्य होने के कारण वह क्षुब्ध सागर के समान ऊर्जित है तथा औदार्य और अर्थसंपत्ति के कारण

शांत हुए ऋषि के चित्त के समान है।

भारवि के सामने काव्य की उत्तमता का विशिष्ट आधार है। जहां एक-एक पद सारगर्भित हो, फिर भी कवि का आशय पूरी रचना में एकदम स्पष्ट हो, रचनाकार के मन में प्रकट करने के लिए उदार आशय हो, तथा उसे युक्ति के साथ प्रकट किया जाए जिससे वह अप्रकंप्य बनाकर स्थापित हो सके। पदों की स्फुटता तथा अर्थसंपत्ति के साथ उक्तिगत औदार्य के प्रति कवि का अत्यधिक आग्रह है :

उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः।

(3/10)

उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः।

(2/1)

कवि स्वयं उदारचेता हो तो ही उदार आशय तथा ऊर्जित आश्रय वाली वाणी उसके मानस से निःसृत होगी। यहां पर मल्लिनाथ ने ऊर्जिताश्रय का अर्थ 'उदारार्थ' ही किया है। उदार गुण का उल्लेख भारवि ने अपने काव्य में अनेकत्र किया है। दण्डी ने इस गुण की परिभाषा यह दी है :

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयम्।

(काव्यादर्श, 1/76)

जिसमें उत्कर्ष से युक्त गुण की प्रतीति हो, वह उदार नामक गुण है। इसके साथ ही, उदार गुण का एक अन्य लक्षण भी दण्डी ने उद्धृत किया है : **'श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते।'** (1/79)। वामन ने अग्राम्यत्व को ही उदारता माना है। भारवि अर्थवादी कवि हैं, वे अर्थ के गांभीर्य और उदात्तता पर बल देते हैं, अतः दण्डी का उदार गुण ही उन्हें अभिप्रेत रहा होगा। समय की दृष्टि से भी वामन भारवि से परवर्ती ठहरते हैं, जबकि दण्डी उनके कुछ पहले के भी हो सकते हैं।

भारवि ने वाणी को उपपत्ति अथवा युक्ति से युक्त माना है। भामह आदि ने उपपत्ति अथवा युक्ति को अलग से काव्य का गुण नहीं माना, पर उन्होंने अयुक्तिमत् दोष का निरूपण किया है (काव्यालंकार, 1/42)। भारवि ने वाणी को 'ऊर्जित आश्रय वाली' भी बताया है। भामह ने ऊर्जस्वी नामक अलंकार माना है, जिससे उनका आशय उक्ति की ऊर्जा तथा औद्धत्य से प्रतीत होता है :

ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।

द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ॥

(काव्यालं., 3/7)

दण्डी ने भी काव्यादर्श (2/293-94) में ऊर्जस्वी अलंकार का जो विवेचन किया है, वह भामह के ही अनुरूप है। इस अलंकार का लक्षण उद्‌भट ने इस प्रकार किया है :

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादि-कारणात्।
भावानां रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥

(का. सार., पृ. 59)

उद्‌भट अनुचित रूप से प्रवृत्ति कामक्रोध आदि भावों तथा रसों के बंध को ऊर्जस्वि मानते हैं। संभवतः भारवि ने भीम की उद्धृत वाणी के लिए ऊर्जिताश्रय पद का प्रयोग इसी अर्थ में किया होगा (किरात. 2/1 में) जो क्रोध से भरे मानस वाले दुष्ट द्विरद के समान भीम के वर्णन के अनुरूप है (2/25 में)।

वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में (4/5/20) अनुपपत्ति को उपमा के दोषों में से एक माना है। रुद्रट ने काव्यालंकार (2/8) में अयुक्ति की गणना दोषों में की है।

भारवि ने (1/3 में) सौष्ठव गुण का भी उल्लेख किया है। मल्लिनाथ ने इसकी टीका में सौष्ठव का अर्थ शब्दसामर्थ्य किया है। सामर्थ्य का उल्लेख भारवि ने 2/27 में भी किया है। 2/26 में भारवि ने शुचित्व गुण का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ भी मल्लिनाथ ने सौष्ठव दिया है। भामह ने अपने काव्यालंकार के षष्ठ परिच्छेद में शब्दशुद्धि पर विशेष रूप से विचार किया है जिससे स्पष्ट है कि उस समय शब्द के सौष्ठव या शुचिता को बहुत महत्त्व दिया जाता था। वामन ने भी शब्द सौष्ठव का पृथक् से निरूपण किया है। काव्य में शब्दशुचिता अथवा सौशब्द्य की अवधारणा अत्यंत प्राचीन रही होगी, क्योंकि भामह ने इसका उल्लेख पूर्वप्रचलित मत के रूप में किया है :

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥

(काव्या., 1/14-15)

भारवि ने वाणी के गुणों में अनाकुलता का भी उल्लेख किया है, जिसका निरूपण भामह ने भाविक अलंकार के अंतर्गत किया है। (काव्या. 3/14)

भारवि ने वाणी के जितने गुणों को परिगणित किया है उनमें स्फुटता का महत्त्व सर्वातिशायी है। यह स्फुटता अर्थव्यक्ति के समकक्ष कही जा सकती है

जिसका निरूपण भरत, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने किया है।[16]

इस प्रकार भारवि के गुणनिरूपण में काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा विवेचन लक्षणों से कहीं-कहीं साम्य मिलता है। पर अधिकांशतः भारवि की स्वतंत्र दृष्टि का परिपाक ही इस प्रकरण में दिखाई देता है। माघ ने भी अपने शिशुपालवध में काव्यगुणों का उल्लेख किया है, पर उनकी दृष्टि स्पष्ट रूप से शास्त्रीय लक्षणों की परिधि में बंधी है। वे दण्डी, वामन आदि द्वारा निरूपित शब्द और अर्थ के दस-दस गुणों के स्थान पर ध्वनिवादी आचार्यों के तीन गुणों को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि माघ के समय तक ध्वनिवाद का उद्भव हो चुका था। काव्य के गुणों का उल्लेख माघ ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते वंदियों के प्रसंग में स्पष्टतः किया है :

ओजस्विवर्णोज्ज्वलवृत्तशालिनः प्रसादिनो नोज्झितगोत्रसंविदः।
श्लोकानुपेन्द्रस्य पुरा स्म भूयसो गुणान् समुद्दिश्य पठन्ति वन्दिनः॥

(शिशु., 12/35)

भारवि के अनुकरण पर ही माघ ने काव्य में 'यावदर्थपदा वाणी' (2/3), **प्रकृत्या मितभाषिता'** (2/86), तथा **'आहितभरा भारती'** (वही) की आशंसा की है। भारवि की ही भांति ओजस् तथा प्रसाद दोनों गुणों की समवेत उपस्थिति की भी बात वे करते हैं (**नैकमोजःप्रसादो वा रसभावविदः** कवेः—2/83)। भवभूति ने भी **'प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती'** (मालतीमा. 1/2) के द्वारा प्रसाद, ओजस् तथा अर्थगौरव की उपस्थिति काव्य में श्लाघ्य मानी है। साथ ही उन्होंने प्रौढ़त्व और उदारता को भी काव्य में अभीष्ट बताया है। (वही 1/7)

आचार्यों द्वारा निरूपित विभिन्न रीतियों पर भी इन कवियों के विचार मिलते हैं। नैषधकार श्रीहर्ष ने वैदर्भी रीति को सर्वोत्तम माना है।[17] बालचन्द्र सूरि ने वैदर्भी आदि रीतियों का उल्लेख किए बिना ही उनकी विशेषताओं का आकलन इस प्रकार किया है :

क्षरत्यत्नैकविधेयतोषा वाणी रसं गूर्जरवाणिनीव।
हा हा महाराष्ट्रवधूरिवान्या कठोरभावा दृढसाध्यमेनम्।
गीः कापि कालागुरुवद् विगृह्य गृह्येत सौगन्ध्यमवन्ध्ययत्नैः।
अन्या जातीस्रगिवोपभोग्या सौरभ्यसंभारवती सुखेन॥

(व. वि., 1/33-34)

बिल्हण भी वैदर्भी रीति के अनुरागी हैं। उन्होंने इस रीति के गुणों का आकलन करते हुए कहा है : यह रीति श्रवणामृत की अनभ्रवृष्टि है, सरस्वती के विलास की जन्मभूमि है तथा सौभाग्य और लावण्य की खान है।[18] नैषधकार उदारता का प्राचुर्य

होने के कारण वैदर्भी रीति पर अनुरक्त हैं।[19] उनकी दृष्टि में वाणी का पल्लवन तथा पदों का आधिक्य काव्य के लिए विषतुल्य हैं।[20] उसमें मितभाषिता तथा सारप्राणता होनी चाहिए। भारवि के समान ही श्रीहर्ष भी अर्थगौरव तथा पदलाघव को काव्य में प्रशंस्य मानते हैं।[21] अन्य गुणों में उन्होंने नवार्थसंघटना, प्रसाद तथा माधुर्य की आशंसा की है।[22] बिल्हण ने भी गुणों का इसी प्रकार उल्लेख किया है।[23]

कवि नीलकण्ठ पदों के समुचित प्रयोग पर बल देते हैं। अस्थान में प्रयुक्त पद उसी प्रकार शोभित नहीं होता, जिस प्रकार सुंदर स्त्री के किसी अंगविशेष में धारणीय आभूषण अन्य अंग में धारण करने पर।[24] एक ही पद का अस्थान में प्रयोग काव्य की शोभा का उसी प्रकार हनन कर देता है जिस प्रकार मुंह से बाहर निकला एक ही दांत संपूर्ण दंतपंक्ति की शोभा को बिगाड़ देता है।[25] काव्य में उपर्युक्त गुणों का आधान आवश्यक है, क्योंकि निर्गुण उक्तिगुंफ तरुणी के शिथिल वक्ष के सदृश अरुचिकर होता है।[24]

भारवि के काव्यगुण के निदर्शन से यह तथ्य प्रकट होता है कि आचार्यों द्वारा वैदर्भी, गौडी आदि श्रेणियों में रीति का विभाजन औपचारिक ही है, वास्तव में तो प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है। वचन के लिए **'प्रसादरम्यौजस्वि'** इस विशेषण का प्रयोग करके भारवि ने सूचित किया कि एक ही स्थान पर प्रसाद, माधुर्य और ओजस्, ये तीनों गुण साथ-साथ रह सकते हैं। यह मंतव्य आचार्यों के सिद्धांत के प्रतिकूल है। पर भारवि ने सिद्धांत के स्तर पर ही नहीं, काव्य में भी अर्जुन के तपः आदि के वर्णनों में उक्त तीनों गुणों का परिपाक एक साथ कर दिखाया। भवभूति ने भी अपने कुछ पद्यों में विशिष्ट रीति अपनाकर इन तीनों गुणों का समावेश एक साथ कर दिया है। उदाहरण के लिए उनका यह पद्य देखा जा सकता है :

यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम कलहकामःपुनयम्।
रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुंजद्गुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालव्रणमुखः ॥

(उत्तरराम., 5/26)

कवि के पास अपनी प्रतिभा तथा दृष्टि हो तो उसकी अपनी विशिष्ट रीति काव्य में उभरती है। दण्डी ने कहा था कि वाणी का मार्ग अनेक प्रकार का है। हर कवि का मार्ग अन्य कवि से, सूक्ष्मभेद रखता है और प्रत्येक कवि का अपना विशिष्ट मार्ग होता है। यहां मार्ग शब्द रीति के अर्थ में है, जिसे कवियों ने 'पन्थ' भी कहा

है। भारवि तथा भवभूति के बाद कवि नीलकण्ठ ने इस तथ्य को स्पष्ट किया। कवि के पास उसका अपना पंथ या रीति नहीं है तो शब्द, अर्थ आदि का आडंबर होते हुए भी उसका काव्य श्रीविहीन है :

सत्यर्थे सत्सु शब्देषु सति चाक्षरडम्बरे।
शोभते यं विना नोक्तिः स पन्था इति घुष्यते ॥

(गंगा., 1/10)

इस विशिष्ट मार्ग के कारण काव्य चमत्कारपूर्ण बनता है (कुंतक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है)। मार्ग का यह वैशिष्ट्य आता कहां से है? नीलकण्ठ के अनुसार यह पदों तथा अर्थों के विशिष्ट विन्यास का परिणाम है। जो शब्द तथा अर्थ शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं, वे ही काव्य में भी, परंतु काव्य में उनका विन्यास दूसरा हो जाता है जिसके कारण वे सौंदर्य को व्यंजित करते हैं। जिन शब्दों तथा अर्थों का हम अपने दैनंदिन व्यवहार में उपयोग करते हैं, उन्हीं के विन्यास विशेष की भव्यता से कवि संसार को मोहित कर लेता है :

यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यास विशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥
तान्येव शास्त्राणि त एव शब्दास्त एव चार्था गुरवस्त एव।
इयान् विशेषः कवितापथेस्मिन् देव्या गिरां दृग्परिवर्तभेदः ॥

(शिवलीला., 1/13/33)

शब्दों में अद्भुत शक्ति छिपी हुई है। भाषामर्मज्ञ पतंजलि ने इसी बात को ध्यान में रखकर बहुत पहले कहा था : 'अच्छी तरह से पहचाना गया तथा प्रयोग किया गया एक भी शब्द इस लोक तथा परलोक में सारी कामनाओं का पूरा करने वाला बनता है।' शब्द की इस अलौकिक शक्ति को पहचान कर ही पुराने चिंतकों ने शब्द को ब्रह्म कहा था। दण्डी ने इसी परंपरा में कहा :

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥

(काव्यादर्श, 1/4)

नीलकण्ठ ने भी शब्द को ब्रह्म कहा है।[27] जिस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग प्रकार से साक्षात्कृत तथा निरूपित होता है, उसी प्रकार शब्द का भी। कवि शब्द के मर्म को पहचानता है तथा उसके यथोचित सन्निवेश से काव्य में चमत्कार लाता है। शब्द उन रत्नों के समान हैं, जो वाणी की देवी के द्वारा राजमार्ग पर बिखेर दिए गए हैं, पर वे किसी-किसी कवि को ही

दृष्टिगोचर होते हैं। उपयुक्त शब्द अपने साथ के शब्दों के बीच उसी प्रकार छिपा रहता है, जिस प्रकार पाषाणखंडों के बीच चंद्रकांत मणि। अच्छा कवि अपनी प्रतिभा से उसे ढूंढ निकालता है :

कीर्णानि घण्टापथ एव हन्त शब्दार्थरत्नानि गिरां सवित्र्या।
अत्यादरादमृशतां कवीनां दृग्गोचरं कस्यचिदेव यान्ति ॥
प्रायस्तिरोभूतमहाप्रकाशाः पाषाणखण्डेष्विव चन्द्रकान्ताः।
शब्देषु शब्दा मिलिताश्चरन्ति भाग्योत्तराः प्रत्यभिजानते तान् ॥

(शिवलीला., 1/11-12)

शब्दार्थ के इस विशिष्ट विन्यास के ही कारण कवि की अभिव्यक्ति अन्य लोगों की अभिव्यक्ति से भिन्न हो जाती है। लोक सामान्य द्वारा प्रयुक्त शब्द और अर्थ का प्रयोग करके भी कवि के विशिष्ट विन्यास के कारण काव्यार्थ अलोकसामान्य बन जाता है। इस दृष्टि से काव्य की भाषा व्यवहार की भाषा से भिन्न हो जाती है। कवि व्यंजना की शैली अपनाता है, सामान्य जन अभिधा का ही प्रायः व्यवहार करते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि कवि अपनी बात को अभिधावृत्ति के द्वारा रुचिर सौष्ठवपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। अभिधा में भी काव्यार्थ की विश्रांति हो सकती है, यदि कवि शब्दार्थ का विशिष्ट विन्यास उसी में कर सके। नीलकण्ठ ने व्यंग्यमार्ग को कवियों के लिए अभीष्ट तथा विद्वत्प्रिय कहा है,[28] किंतु इससे उनका आशय यही प्रतीत होता है कि कवि लोकव्यवहार में प्रचलित शब्दों और अर्थों को ही लेकर काव्य में उनका रूपांतरण कर देता है, वृत्ति चाहे अभिधा हो, या लक्षणा अथवा व्यंजना। कालिदास ने इसी प्रक्रिया को अन्यथाकरण कहा था तथा नीलकण्ठ ने भी उन्हीं की परंपरा में कहा कि कवि की सरणि अन्य ही प्रकार की होती है :

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि वाक्यार्थबाधः परमप्रकर्षः।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥

(वही, 2/19)

रसध्वनिविचार

रस की सुस्पष्ट अवधारणा सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण में मिलती है, यह हम अष्टम अध्याय में देख चुके हैं। रामायण के **'ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत'** तथा **'करुणवेदित्वात्'** (1/2/13-14) आदि कथनों के आधार पर ही आचार्य आनंदवर्धन ने कहा था कि काव्य की आत्मा वही अर्थ है जो शोक के रूप में उद्गत होकर वाल्मीकि के द्वारा श्लोक में परिणत किया गया। रामायण के उपर्युक्त संकेतों

के आधार पर ही आनंदवर्धन आदि आचार्यों ने रामायण में करुण रस को अंगी माना। आगे चलकर अभिनवगुप्त ने उक्त प्रसंग की विभावानुभावव्यभिचारी की सामग्री से संवलित शोक स्थायिभाव के रस में परिणत होने के सिद्धांत को लागू करते हुए व्याख्या की। पर रामायणकार का आशय यहां पर करुण से करुणा की विश्वजनीन भावना ही प्रतीत होता है जो संस्कार रूप में समस्त काव्यरचना के मूल में विद्यमान रहती है तथा जिसके आधार पर भवभूति ने आगे चलकर **'एको रसः करुण एव'** का मंतव्य उपस्थापित किया था।

वाल्मीकि के बाद रस को शास्त्रीय आधार भी मिल चुका था जिसकी जानकारी कालिदास ने अपनी रचनाओं में एकाधिक स्थानों पर प्रकट की है।[29]

कालिदास ने यह आशय प्रकट किया है कि हृदयगत भाव की अभिव्यक्ति से काव्य अथवा कला से रस रूप अर्थ प्रकट होता है। एक भाव दूसरे भाव को जन्म देता है तथा उनकी परिणति रस में होती है। मालविका के नृत्य के वर्णन में कवि ने यही निरूपित किया है :

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव ॥ (माल., 2/8)

भावानुप्रवेश से काव्य तथा कला प्राणवंत बनते हैं। उक्त वर्णन में नृत्य के प्रसंग द्वारा तथा दुष्यंत द्वारा निर्मित शकुंतला के चित्र के प्रसंग में कवि ने कला में भावाभिव्यक्ति पर बल दिया है।

काव्य में रस की उपस्थिति के विषय में कालिदास तथा अश्वघोष के मंतव्यों पर काव्यप्रयोजन विषयक अध्याय में विस्तार में विचार हो चुका है। कालिदास के लिए रस या विशुद्ध आनंद ही काव्य का साध्य है, अश्वघोष के लिए वह साधन मात्र है। भारवि के मंतव्य में इन दोनों से कुछ भिन्नता है। वे काव्य में मनोहर या रसपेशल वचन को आवश्यक तो मानते हैं, पर साथ ही वह वचन हितकारक या मांगलिक भी होना चाहिए (**हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः**—किरात., 1/4)। उनकी दृष्टि में वाणी मनःप्रिया होने के साथ गरीयसी, उपपत्तियुक्त और ऊर्जिताश्रय भी होनी चाहिए (2/1)। अतः कालिदास को जहां कला में सौंदर्य तथा रस ही साध्य रूप में अंगीकार्य है, तथा अश्वघोष को शिवत्व या कल्याण ही, भारवि दोनों के समन्वित रूप को काव्य की साधना समझते हैं।

भारवि की अपेक्षा माघ में भरत के रसनिरूपण का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता

है। नाटक में रस की उपस्थिति को माघ ने इस उपमा के द्वारा स्पष्ट किया है :

स्वादयन् रसमनेकसंस्कृतप्राकृतैरकृतपात्रसंकरैः।
भावशुद्धिविहितैर्मुदं जनो नाटकैरिव बभार भोजनैः ॥

(शिशु., 14/50)

कवि के अनुसार जिस प्रकार भोजन में रस का आस्वाद होता है, उसी प्रकार नाट्य में भाव अथवा परिशुद्ध रस का भी। भरत ने भी नाट्य में रस की उपस्थिति को इसी दृष्टांत द्वारा समझाया है।[30]

नैषधकार ने रस के विषय में कहा है : रस से संवलित काव्य अमृत से भी बढ़कर होता है (1/2)। उन्होंने कविता में मृद्वीकातुल्य रस की आशंसा की है (15/96)। अपने काव्य को 'कृशेतररसस्वाद' तथा शृंगारामृतशीतगु कह कर उन्होंने काव्य में रस का महत्त्व तथा शृंगार रस की श्रेष्ठता सूचित की है (वही)। रस के विषय में अन्य कवियों के निम्नलिखित मंतव्य भी दृष्टव्य हैं :

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोपि रुद्धो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोपि।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं काव्याधिराजपदवी मर्हति न प्रबंधः ॥

(मंखः श्रीकण्ठचरित, 11/32)

विभिन्न अलंकारों से शोभित, उत्कृष्ट पदयोजना तथा सौष्ठव से समन्वित होकर भी रस के सघनप्रसार के अभिषेक के बिना काव्याधिराज के पदवी के योग्य नहीं हो सकता।

रसरीतिनीतवसना प्रियेव शुद्धापि वाङ्नुदे सरसा।
अरसा सालंकृतिरपि न शोभते शालभञ्जीव ॥

(गोवर्धन : आर्यासप्तशती, 54)

अनलंकृत होती हुई भी सरस वाणी प्रिया के समान आनंददायिनी होती है। अलंकृत किंतु अरस होने पर वह सुंदर स्त्री की मूर्ति के समान अच्छी नहीं लगती।

अकलितशब्दालङ्कृतिरतिरनुकूला स्खलितपदसन्निंवेशापि।
अभिसारिकेव रमयति सूक्तिः सोत्कर्षशृङ्गारा ॥

(वही, 47)

शब्दालंकार से रहित तथा स्खलित पदसन्निवेश वाली होती हुई भी शृंगार के उत्कर्ष से युक्त सूक्ति अभिसारिका के समान मोहित कर लेती है।

अपङ्किलाः धियः शुद्धाः साधुमानसवृत्तयः।
वमन्ति श्रुतिजीवातुं ध्वनिं नवरसास्पदम् ॥

(वेदांतदेशिक : सुकविपद्धति, 1)

मन की साधुवृत्ति वाली तथा निष्पाप बुद्धि श्रुति की प्राणभूत नवरसों से युक्त

ध्वनि को प्रकट करती है।

स कविः कथ्यते स्रष्टा रमते यत्र भारती।
रसभावगुणीभूतैरलङ्कारैर्गुणोदयः ॥

(वही, यादवाभ्युदय, 1/5)

अभिनवगुप्त ने सभी रसों का पर्यवसान शांत रस में मानकर उसे 'महारस' की संज्ञा दी थी। उसी परंपरा में कवि कल्हण ने भी शांत रस को मूर्धाभिषिक्त किया है :

क्षणभङ्गिनि संसारे स्फुरिते परिचिन्तिते।
मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विचार्यताम् ॥

(राजतरंगिणी, 1/13)

कवि वेंकटनाथ ने भी शांत रस में ही सब रसों की परिणति स्वीकार की, पर उनके मंतव्य में वेदांत दर्शन की छाया अधिक है :

अनन्यपरिपाटिकामधिकरोति शृंगारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम्।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदल्पसारैःपरैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः ॥

(संकल्पसूर्योदय, 1/19)

शृंगार रस में असामान्य जनों की परिपाटी का आश्रय अधिक लिया जाता है, वीर में एक-दूसरे का तिरस्कार रहता है। अद्भुत रस विरुद्ध गति वाला होता है, अतः चित्तखेद का शमन करने वाला शांत रस ही अंततः बचता है।

अभिनवगुप्त तथा अन्य आचार्यों ने विभिन्न तर्कों के द्वारा रस की अलौकिकता सिद्ध की है। लोक में तथा शास्त्रों में वर्णित वस्तुएं लौकिक या नीरस होती है। काव्य में आकर वे ही अलौकिक तथा सरस वन जाती हैं। इस तथ्य को कवि नीलकण्ठ ने इस प्रकार प्रकट किया है :

तन्त्रान्तरेषु प्रतिपद्यमाना ते ते पदार्था ननु ते त एव।
निर्वेद-भीशोकजुगुप्सितान्यप्यायान्तिसाहित्यपथे रसत्वम् ॥

(शिवलीला., 1/21)

अलंकारविचार

माघ ने शिशुपालवध में दो स्थानों पर (16/1, 17) श्लेष के प्रति पक्षपात प्रकट किया है। श्रीहर्ष ने श्लेष आदि अलंकारों के विन्यास को कवित्वशक्ति का विलास बताया

है : 'श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेरिव ते विलासाः।' श्लेष के प्रति पक्षपात रखते हुए भी माघ यह स्वीकार करते हैं कि चित्रकाव्यों से प्रबंध दुरवगाह हो जाता है (19/4)। नीलकण्ठ ने चित्रकाव्यों की हेयता प्रतिपादित करते हुए कहा है : 'विद्वानों के प्रति व्यंग्य मार्ग को छोड़कर यदि कवि शब्दचित्र अथवा अर्थचित्र में रुचि ले, तो यह पामर व्यक्ति का आगम-निगमों की उपेक्षा करके भाषा प्रबंधों में रुचि लेने के समान है। जो वाणी कृतयुग में व्यंजना से अवतीर्ण हुई थी, त्रेता में गुणीभूतव्यंग्य हुई तथा द्वापर में अर्थचित्र, वही अब चित्रकाव्यों के प्रपंच के रूप में शेष रह गई है। श्रेष्ठ कवि कविता के राज्य में अधिरूढ़ होकर शब्दचित्र में रमण नहीं करते, भला अप्सराओं के निवास स्वर्ग में जाकर भी कोई काणी को ही खोजता रहेगा?'

विद्वत्प्रियं व्यंग्यपथं व्यतीत्य शब्दार्थचित्रेषु कवेर्विलासान्।
प्राप्तोनुरागो निगमानुपेक्ष्य भाषाप्रबंधेष्विव पामराणाम्॥
कृते युगे व्यंजनयावतीर्णा त्रेता युगे सैव गुणीबभूव।
आसीत् तृतीये तु युगेर्थचित्रं युगे तुरीये यमकप्रपंचः॥
दिष्ट्याधिरूढ़ाः कविताधिराज्यं धीरारमन्ते नहि शब्दचित्रे।
स्वर्गेपि गत्वाप्सरसां निवासे काणैव किं कापि गवेषणीया॥

(शिवलीलार्णव, 1/37-39)

नीलकण्ठ का यह स्पष्ट मत है कि चित्रकाव्य कविता के लिए कुरोग के समान है, उनके पीछे लगे होने पर भी यदि कविता जीवित है तो यह उसकी अपूर्व शक्ति ही है :

आमये यमके जागृतत्यपमृत्यौ च दुष्कवौ।
वाणी प्राणिषि तन्मध्ये वज्रेणैवासि निर्मिता॥

(वही, 1/30)

संदर्भ

1-2. वशीकरोति त्रिदशान् प्रसूते यशांसि धत्तेऽभिमतां समृद्धिम्।
कल्पद्रुचिन्ता, मणिकामधेनुश्चैतन्यमूर्तिः कविता कवीनाम्॥ (वि.वि., 1/36)

3. साहित्यविद्याजयघंटयैव संवेदयन्ते कवयो यशांसि। (शिवलीलार्णव, 1/17)

4. कर्णं गतं शुष्यति कर्ण एव संगीतकंसैकतवारिरीत्या।
आनन्दपत्यन्तरनुप्रविश्य सूक्तिः कवेरेव सुधासगन्धा॥ (वही, 1/17)

5. कालं महान्तं क्षणवन्नयन्ती कान्तेव दक्षा कविता धिनोति। (वही)

6. अनायतप्राणमसंयताक्षमब्रह्मचर्यानशनादिखेदम्।
   चित्तं महेशे निभृतं निधातुं सिद्धः कवीनां कवितैव योगः ॥ (वही, 1/25)
7. आञ्जस्यं व्यवहाराणामार्जवं परमं धियाम्।
   स्वातन्त्र्यमपि तन्त्रेषु सूते काव्यपरिश्रमः ॥ (सभारंजनशतक, 15)
8. ऋषे, प्रबुद्धोसि वागात्मनि ब्रह्मणि। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु। तद् ब्रूहि रामचरितम्। (उत्तररामचरित 2/5 के बाद का संवाद)
9. तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः।
   शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम् ॥ (वही, 7/21)
10. न पश्येत् सर्वसंवेद्यान् भावान् प्रतिभया यदि।
   तदन्यद् दिव्यदृष्टित्वे किमिव ज्ञापकं कवेः ॥ (शिवलीला., 1/5)
11. अस्ति सारस्वतं चक्षुरज्ञातस्वापजापरम्।
   गोचरो यस्य सर्वोपि यः स्वयं कर्णगोचरः ॥ (वही, 1/7)
12. सदर्थमात्रग्रहणात्प्रतीता सर्वज्ञता सापि शशांकमौलेः।
   प्राप्ता विकासं प्रतिभा कवीनां व्याप्नोति तद् वेत्ति न यच्छिवोपि ॥ (वही, 1/20)
13. सभारंजनशतक, 1/5
14. नलचरितनाटक, 1/5
15. वही, तथा शिवलीलार्णव 1/30
16. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। (का.सू. 3/1)
   सुप्रसिद्धा धातुना तु लोककर्मव्यस्थिता।
   या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ॥ (ना. शा., 16/106)
17. नैषध, 3/116
18. विक्रमांकदेवचरित, 1/10
19. नैषध, 3/113
20. वही, 1/8
21. वही, 19/67
22. वही, 14/6
23. विक्र. दे. चरित, 1/23
24. शिवलीला, 1/35-36
25. गंगावतरण, 1/22
26. वही, 1/22
27. शीलिते कविलोकेन शब्दब्रह्मणि वाङ्मये। (शिवलीला., 1/30)
   शब्दाख्यमपरं ब्रह्म सन्दर्भेण परिष्कृतम् ॥ (कलिवि., 37)
28. शिवलीला., 1/37
29. त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितं नानारसं दृश्यते। (मालविका., 1/4)
   मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः। (विक्रमोवशी., 2/17)
30. नाट्यशास्त्र, पृ. 93

16

काव्यप्रस्थान तथा काव्यनिकष

अलंकारप्रस्थान ने काव्य के संपूर्ण सौंदर्य को परखने का प्रतिमान उपस्थित किया था। जैसा पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है, अलंकार के स्वरूप को उसकी समग्रता में ग्रहण करते हुए दण्डी, भोज आदि आचार्यों ने गुण, वक्रोक्ति, रस आदि काव्य के अन्य समस्त उपादानों को अलंकार के अंतर्गत ही स्वीकार किया। इन आचार्यों की यह मान्यता अत्यंत अभिप्रायगर्भित है। वह काव्य में अलंकार की व्यापक अवधारणा को ही पुरस्कृत नहीं करती, यह भी सूचित करती है कि काव्य के अन्य समस्त प्रस्थान अलंकारप्रस्थान की ही शाखाएं हैं।

आचार्य भामह वक्रोक्ति को अलंकार के अंग के रूप में स्थापित कर ही चुके थे। उन्होंने वक्रोक्ति को सभी वाच्यालंकारों का मूल स्वीकार किया। इन अलंकारों का निरूपण करते हुए उन्होंने अतिशयोक्ति को अर्थालंकार मात्र मानने का खंडन किया तथा अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार घोषित किया :

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥
स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः।
अन्वमीयन्त भृंगालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥
अपां यदि त्वक्शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव।
तदा शुक्लांशुकानि स्युरंगेष्वम्भसि योषिताम् ॥
इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वथातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम् ॥

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

(काव्या., 2/81-85)

यद्यपि यहां भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल कहा है, पर यह बात उन्होंने वाच्यालंकारों के संदर्भ में कही है। अलंकार के जिस व्यापक रूप की चर्चा यहां हुई है, उसमें तो वक्रोक्ति एक अंग ही मानी जाएगी। भोज ने इसीलिए वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति, इन तीन श्रेणियों में अलंकार को रखा था।

कुंतक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धांत का आधार निस्संदेह भामह से ही लिया है। इस दृष्टि से भामह को हम वक्रोक्तिसिद्धांत का प्रणेता कह सकते हैं। पर भामह अलंकार प्रस्थान के ही आचार्य हैं, क्योंकि दण्डी के साथ वे अलंकार को उसके व्यापक अर्थ में ही ग्रहण करते हैं, जिसमें वक्रोक्ति भी एक अंग है, तथा रस, शब्दालंकार, अर्थालंकार आदि अन्य अंग।

भामह के सामने अलंकार का यह व्यापक रूप था, अतः केवल वक्रोक्ति को ही नहीं, रस तथा व्यंग्य अर्थ को भी उन्होंने अलंकार की कक्षा में ही निक्षिप्त किया। प्रतिवस्तूपमा के निरूपण में उन्होंने स्पष्ट रूप से सूचित किया है कि यहां उपमा अभिधेय नहीं होती, वह गुणसाम्य से प्रतीत होती है।[1] समासोक्ति अलंकार के लक्षण में भी भामह ने कहा कि यहां उक्ति के द्वारा अन्य अर्थ गम्यमान होता है।[2] अपह्नुति को भामह ने **'अन्तर्गतोपमा'** कहा है जिससे उनका अभिप्राय है कि वहां उपमा व्यंग्य है।[3] उसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकार में भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने व्यंग्य अर्थ का सद्भाव तथा प्राधान्य स्वीकार किया है।[4] दण्डी ने भी अलंकारों तथा गुणों में व्यंग्य अर्थ की उपस्थिति की अनेकत्र चर्चा की है। उदारगुण के लक्षण में **'उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते'** (काव्यादर्श, 1/76) के द्वारा प्रतीयमान अर्थ का ग्रहण किया गया है, तथा उदात्त अलंकार के निरूपण में 'सुव्यंजितमिति व्यक्तमुदात्तद्वयसम्पदः'। (2/303)

व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ के अतिरिक्त भामह, दण्डी, उद्भट आदि आलंकारिकों ने अलंकार के व्यापक रूप के अंतर्गत रस की प्राधान्य से उपस्थिति भी निर्दिष्ट की है। भामह ने रसवद् अलंकार की यह परिभाषा दी है : **'रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा।'** (काव्यालंकार, 3/6)

जहां स्पष्ट रूप से श्रृंगारादि रस प्रकट हों, वहां भामह रसवद् अलंकार मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि रसवद् अलंकार में भामह को रस की गौणता अभीष्ट नहीं है, वे वहां रस को अस्फुट अथवा वाच्य आदि अर्थ की अपेक्षा अंगभूत रूप में स्वीकार

नहीं करते, वे उसकी प्रधानता स्वीकार करते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि उद्भट ने भामह की इस परिभाषा को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, तथा दण्डी ने अपने रसवदलंकार के निरूपण में जो पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, उसमें कोई भी शब्दालंकार या वाच्यालंकार नहीं है, कोई भी ध्वनिवादी आचार्य उसे रसध्वनि का उदाहरण मानने में संकोच न करता :

मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं मतम्।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥

(काव्यादर्श, 2/280)

उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता को भ्रमवश मृत समझ रहा था, पर वासवदत्ता के छद्म वेश छोड़कर सामने आ जाने पर वह उल्लसित होकर उक्त संवाद कहता है। यहां स्पष्ट रूप से शृंगार रस की प्रधानता है। दण्डी ने स्वयं इस पद्य का विवेचन करते हुए कहा है कि यहां विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से रति स्थायी भाव परिपुष्ट होकर शृंगार रस में परिणत हुआ है, अतः यहां रसवदलंकार है :

प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥

(काव्या. 2/281)

अतः यह स्पष्ट है कि अलंकारप्रस्थान के आचार्य जब रस या प्रतीयमान अर्थ को अलंकार के अंतर्गत रखते थे, तो उनका यह आशय नहीं था कि रस या प्रतीयमान अर्थ वहां उपमा आदि वाच्यालंकारों या वाच्य आदि अर्थों की अपेक्षा गौण है। अलंकारप्रस्थान का विरोध करते हुए ध्वनिवादी आचार्यों ने यही आपत्ति की थी कि अलंकार में रस या प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता नहीं रहती। पर इन आचार्यों ने वामन के **'सौंदर्यमलंकारः'** वाले लक्षण को अनदेखा करके अलंकार का अर्थ अनुप्रास आदि शब्दालंकार तथा उपमा आदि अर्थालंकार, इतना ही ग्रहण किया था।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' तथा रसविवेचन की भामह, दण्डी तथा वामन को अच्छी तरह जानकारी थी। यही नहीं, उन्होंने काव्य में रस का महत्त्व स्वीकार करके बार-बार यह बात कही है कि कवि को चाहिए कि वह रस को ध्येय मानकर काव्य में रस का आधान करे। महाकाव्य के लक्षण में शृंगार और वीर में से एक रस का प्रधान रूप से रहना भामह, दण्डी आदि सभी अलंकारवादी आचार्यों ने माना। ऐसी स्थिति में न तो यह कहा जा सकता है कि उन्हें रस की जानकारी नहीं थी न ही यह कि वे काव्य में रस का महत्त्व नहीं समझते थे।

आनंदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक की पहली कारिका में **'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः'** कहकर इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया था कि ध्वनि की काव्यविचार के क्षेत्र में कल्पना बहुत पुरानी है, पर आचार्यों द्वारा उसे स्वीकृति नहीं मिली थी। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में रस की परिकल्पना भी अत्यंत प्राचीन है। रस के विषय में कुछ पंडितजनों का कहना है कि प्रारंभ में रस को नाट्य की ही वस्तु माना गया था, तथा इस बात का श्रेय ध्वनि के आचार्यों को जाता है कि उन्होंने पहली बार रस को समुचित महत्त्व देकर काव्य के क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित किया। पर यह धारणा गलत है। यह कहना कठिन है कि रस पहले काव्य में प्रतिष्ठित होकर नाट्यशास्त्र में पहुंचा था, अथवा नाट्यशास्त्र से ही रस का सिद्धांत काव्यचिंतन में आया। कम-से-कम वाल्मीकि का रामायण काव्य तो नाट्यशास्त्र से पुराना है ही, जिसमें विभिन्न रसों का नामोल्लेख करते हुए, उनसे समन्वित काव्य की चर्चा है :

रसैः शृंगार-करुण-हास-रौद्र-भयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेततदगायताम् ॥

(1/4/9)

ध्वनिवाद की स्थापना के पूर्व भी काव्य में रस की चर्चा भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्य कर चुके थे। रसवदादि अलंकार के अतिरिक्त माधुर्य गुण में दण्डी ने रस की स्थिति निर्दिष्ट की थी :

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥

(काव्यादर्श, 1/51)

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः।
इह त्वष्टरसायत्ता रसावत्ता स्मृता गिराम् ॥

(वही, 2/292)

दण्डी का यह भी कथन है कि सभी अलंकार रस का ही उत्कर्ष करते हैं :

कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥

(वही, 1/62)

अलंकार को काव्यसौंदर्य का पर्याय मानने पर अलंकार प्रस्थान का स्वारस्य यही समझ में आता है कि जहां रस या प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ का उपस्कारक मात्र न हो, तथा उसी का चमत्कार सर्वातिशायी हो, वहां भी वह काव्य का तो

अलंकार ही होता है, शब्द या वाच्य अर्थ का अलंकार भले ही न हो।

अतः अलंकार को उसके संकुचित अर्थ में ही लेकर ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा उसके विरोध में जो मंतव्य दिए गए, उनमें उसके साथ न्याय नहीं हो सका। राजानक रुय्यक ने अपने अलंकारसर्वस्व के प्रारंभ में अलंकारप्रस्थान के सिद्धांत को अपनी दृष्टि से पूरी सहानुभूति के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर ध्वनिवाद की स्थापनाओं से पूर्णतः एकमत होने के कारण उन्होंने अलंकारसिद्धांत का उसी आधार पर विरोध किया है जिस आधार पर ध्वनि के आचार्यों ने—

> इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारिकाः प्रतीयमानमर्थ वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथाहि— पर्यायोक्ताप्रस्तुत-प्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्'—इति यथायोगं द्विविधिया भंग्या प्रतिपादितं तैः।
>
> रुद्रटेन तु भावालङ्कारो द्विधैवोक्तः। रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगिता-दावुपमाद्यलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता। रसवत्प्रेयःप्रभृतौ रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः। तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलङ्कारतया ख्यातिपतमेव।
>
> वामननेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोलङ्कारतयैवोक्तः। केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मत्वेनोक्ता।
>
> उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण-भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन चेष्टेः। तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्। (रामचन्द्रद्विवेदी, सं. : अलंकारसर्वस्व, प्र.सं., पृ. 2-8)

रुय्यक ने उन भूमियों का निर्देश तो उचित ही किया है जहां अलंकारवादी आचार्य प्रतीयमान अर्थ को अलंकार के अंतर्गत स्थापित करते हैं। पर अलंकारप्रस्थान के अनुसार प्रतीयमान अर्थ को सदैव वाच्य अर्थ के उपस्कारक के रूप में ही रहना पड़ता है, ऐसा समझना पूर्वग्रह ही है। अलंकारशब्द के द्विविध अर्थ कारण ही संभवतः यह पूर्वग्रह निर्मित हुआ होगा। अलंकारप्रस्थान में अलंकार दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, पहला उसका काव्यसौंदर्य रूप व्यापक अर्थ है, दूसरा अर्थ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का ग्रहण कराता है। केवल दूसरा अर्थ ग्रहण करने पर ही रुय्यक का अलंकारप्रस्थान के विषय में उपर्युक्त विवेचन संगत बैठता है। परंतु जैसाकि हम देख चुके हैं, भामह आदि आचार्य रसवदादि अलंकारों में प्रतयमान तथा रस को वाच्य

का उपस्कारक मात्र नहीं समझते।

ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकारसिद्धांत की व्यापकता तथा लोकप्रियता ध्वनिवादी आचार्यों को अपने मत की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा लग रही थी। इसीलिए हम देखते हैं कि आनंदवर्धन जैसे सुलझे हुए आचार्य ने भी अलंकार प्रस्थान की इस उपस्थापना का कि पर्यायोक्त आदि कुछ अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ का प्राधान्य हो सकता है, ध्वनि की स्थापना के निमित्त से तो उपयोग कर लिया,[5] पर जब उसी आधार पर अलंकार को काव्यसौंदर्य के अर्थ में ग्रहण करके ध्वनि को उसके भीतर संग्रहीत करने की अलंकारवाद की मान्यता का प्रश्न आया तो आनंदवर्धन ने अलंकार को दूसरे प्रचलित अर्थ शब्दालंकार और अर्थालंकार में सीमित करते हुए कहा कि अलंकार का क्षेत्र बहुत सीमित है, जबकि ध्वनि का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है।[6] परंतु अलंकार को उसके व्यापक अर्थ में लेने पर वस्तुस्थिति एकदम विपरीत लगती है। ध्वनि अलंकार का एक अंश मात्र रह जाता है, क्योंकि अलंकार के भीतर ध्वनिकाव्य से लेकर चित्रकाव्य तक के सारे काव्यभेद समा जाते हैं। इसी दृष्टि से आचार्य दण्डी ने कहा था :

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥

परंतु आनंदवर्धन ने दण्डी की इस उपस्थापना को बिल्कुल पलट दिया। दण्डी ने अलंकार का इतना व्यापक रूप सामने रखा था कि उसमें सन्ध्यंग, वृत्यंग, लक्षण, रस, ध्वनि आदि काव्य के सारे तत्त्व तथा सारे भेद समा सकें, आनंदवर्धन ने दण्डी, वामन आदि पर यह आरोप लगाया कि वे ध्वनि नामक काव्य के तत्त्व को समझ नहीं सके, और उनकी दृष्टि काव्य के कम महत्त्वपूर्ण और छोटे पक्षों पर केंद्रित होकर रह गई :

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥

(ध्वन्या., 3/46)

संभवतः अलंकार के सीमित–वाच्योपस्कारकत्व मात्र में पर्यवसित–रूप को ध्वनिवादी आचार्यों के द्वारा इतना अधिक प्रचारित किए जाने के कारण ही भामह, दण्डी, वामन और उद्भट जैसे समर्थ आलंकारिकों के बाद तथा ध्वनिप्रस्थान की आनंदवर्धन के द्वारा व्याख्या हो चुकने के अनंतर, अलंकारों पर विचार करने वाले अन्य आचार्यों ने भी अलंकार शब्द को उसके संकुचित अर्थ में ही लिया। मंखक ने रुय्यक के ऊपर उद्धृत अंश की टीका में कहा : 'चिरन्तनालंकारकाराः

प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारक- तयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते ।'

परंतु प्राचीन आलंकारियों की दृष्टि से अलंकार को वाच्योपस्कारमात्र (केवल वाच्य अर्थ को पुष्ट करने वाला) मानने में अंतर्विरोध स्पष्ट है। रुय्यक ने प्राचीन आलंकारिकों की दृष्टि से अलंकार की वाच्योपस्कारकता द्विविध भंगी से बतालाई थी : एक तो अपनी (वाच्य अर्थ की) सिद्धि के लिए पर (व्यंग्य) अर्थ का आक्षेप, दूसरे, पर (व्यंग्य) अर्थ की सिद्धि के लिए स्व (वाच्य) का समर्पण। प्रथम प्रकार में ध्वनिवादी आचार्य की दृष्टि से, यदि व्यंग्य अर्थ वाच्य की सिद्धि के लिए विनियुक्त होता है तो वाच्य की अपेक्षा वह निश्चित रूप से गौण है। ऐसे स्थलों पर ध्वनिवादी गुणीभूतव्यंग्य काव्य मानते हैं जो ध्वनि का ही भेद है। दूसरे प्रकार के स्थलों में जहां वाच्य अर्थ व्यंग्य की सिद्धि के लिए अपने को समर्पित कर देता है, वहां तो निश्चित रूप से प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ की ही प्रधानता माननी होगी। आश्चर्य है कि रुय्यक तथा उनके टीकाकारों ने गतानुगतिक न्याय से ही प्राचीनों के मत में अलंकार की वाच्योपस्कारकता स्वीकार कर ली है। जब वाच्य विवक्षित ही नहीं रहेगा तो अलंकार उसका उपस्कारक क्यों होगा? यह स्थिति एक साथ नहीं हो सकती कि वाच्य अविवक्षित होकर व्यंग्य अर्थ की सिद्धि के लिए स्वयं को समर्पित भी कर दे तथा अलंकार आदि उसके उपस्कारक भी बने रहें अर्थात् वह विवक्षित भी हो। दोनों को साथ मानने में विरोध होता है। यह विरोध समुद्रबंध की रुय्यक के उपर्युक्त स्थल की टीका में स्पष्ट देखा जा सकता है :

> **यत्र वाच्यं वर्णनीयतया विवक्षितं सदन्यथानुपपद्यमानमुपपादकतया स्वस्य शोभातिशयजनकतया वा परमाक्षिपति तत्र पर्यायोक्तसमासोक्त्युपमेयोपमासु स्वसिद्धये पराक्षेपः। यत्र पुनरप्राकरणिकत्वादविवक्षितं सत् प्राकरणिकाय परस्मै स्वात्मानमर्पयति तत्र अप्रस्तुतप्रशंसाक्षेपव्याजस्तुत्यनन्वयेषु परार्थं स्वसमर्पणम् ।**[7]

इस प्रकार ध्वनि के पक्षधर आचार्यों द्वारा अलंकारसिद्धांत का खंडन करने में अंतर्विरोध दिखाई पड़ता है और अलंकार को उसके संकुचित अर्थ में ही ग्रहण करने पर, उसे वाच्योपस्कारक मात्र मान लेने पर, उनकी ओर से इस विरोध का परिहार भी किया जा सकता है। पर प्राचीन आलंकारिकों को अलंकार का व्यापक अर्थ भी अभिप्रेत था जिसमें ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य आदि काव्य के सभी प्रकार और प्रस्थान अंतर्भूत हो जाते हैं। प्राचीन आलंकारिकों के मत को सही दृष्टि से बहुत बाद में जाकर पण्डितराज जगन्नाथ ने समझा। उन्होंने मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों के उन आलंकारिकों पर इस आक्षेप का कि वे अलंकार को वाच्योपस्कारक मात्र समझते

हैं, फिर भी काव्य में प्रधान उसी को मानते हैं, स्पष्ट रूप से खंडन करते हुये कहा : 'ध्वनिकार से प्राचीन भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने अपने ग्रंथों में ध्वनिगुणी-भूतव्यंग्य आदि शब्द कहीं पर भी प्रयुक्त नहीं किए, इसलिए वे ध्वनि आदि को अस्वीकृत करते हैं, आधुनिक आचार्यों की यह वाचोयुक्ति असंगत है। क्योंकि समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों के निरूपण में गुणीभूतव्यंग्य के कितने ही भेदों का उन्होंने निरूपण किया ही है और सारा व्यंग्य अर्थ का प्रपंच पर्यायोक्त अलंकार के भीतर समेट ही लिया है। अनुभवसिद्ध अर्थ बालक के द्वारा भी नहीं छिपाया जा सकता। उन्होंने केवल ध्वनि आदि पदों का उल्लेख नहीं किया—इस आधार पर वे ध्वनि को अस्वीकृत करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।'[8]

आनंदवर्धन ने पर्यायोक्त आदि अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता होने पर उन अलंकारों को ध्वनि की कक्षा में निविष्ट करने की बात कही थी। परंतु अलंकार का व्यापक अर्थ लेने पर स्थिति विपरीत हो जाती है। ध्वनि ही अलंकार का एक अंश बन जाती है, क्योंकि अलंकार का क्षेत्र उसकी अपेक्षा अधिक व्यापक हो जाता है। प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ का ही चमत्कार सर्वातिशायी होने पर ध्वनि काव्य होता है, जबकि अलंकार प्रतीयमान का चमत्कार सर्वातिशायी होने पर तो हो ही सकता है, वाच्य के चमत्कारपूर्ण होने पर भी अलंकार ही वहां माना जाता है।

ध्वनिवादी आचार्यों के अलंकारप्रस्थान पर आक्षेप का सबसे सटीक उत्तर उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने दिया था। ध्वनिवादी का पूर्वपक्ष उठाते हुए उन्होंने कहा : 'कुछ सहृदय लोग हृदयाह्लादी प्रतीयमानैकरूप अर्थ की अभिव्यक्ति के हेतु, काव्यजीवितभूत, व्यंजकत्वभेदात्मा काव्यधर्म-ध्वनि का निरूपण करते हैं। (अलंकारवादी आचार्यों भामह, उद्भट आदि के द्वारा) यहां उसका विवेचन क्यों नहीं किया गया? इसका समाधान यह है—अलंकारवादी आचार्यों ने ध्वनि का निरूपण इसलिए नहीं किया कि उसका उक्त अलंकारों में ही अंतर्भाव हो जाता है।'[9] प्रतीहारेन्दुराज ने सोदाहरण यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार वस्तु, अलंकार तथा रस, ये तीनों ध्वनि के प्रकार अलंकार के भीतर अंतर्भावित हो जाते हैं।[10] उदाहरणार्थ पर्यायोक्त अलंकार के इस उदाहरण में,

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिंगनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥

वस्तु ध्वनि का समावेश है। इसे ध्वनि न कहकर अलंकार क्यों कहा गया, इस प्रश्न के समाधान में प्रतीहारेन्दुराज का कथन : **'प्रधानमपि गुणानां सौन्दर्यहेतुत्वादलंकृतौ साधनत्वं भजति।'** प्रधान होते हुए भी प्रतीयमान अर्थ

ध्वनिकाव्य के उदाहरणों में काव्यसौंदर्य का अलंकृतिसाधन तो है ही। अतः वह अलंकार है।[11]

यहां यह भी उल्लेख्य है कि मम्मट आदि आचार्यों ने अलंकारध्वनि में अलंकारत्व का व्यपदेश ब्राह्मणश्रमणन्याय से माना था। अर्थात् अलंकार जब प्रधान रूप से व्यंग्य होता है तब वह अलंकार नहीं रहता, फिर भी वाच्य दशा में वह अलंकार था इसलिए व्यंग्य होने पर भी उसे नाम के लिए अलंकार ही कहते हैं। यदि अलंकार का व्यापक स्वरूप स्वीकार किया जाए तो इस ब्राह्मणश्रमणन्याय को मानने की आवश्यकता नहीं रहती, तथा ध्वनि या प्रतीयमान की अपेक्षा काव्य का ज्यादा उपयुक्त तथा बड़ा मानदंड भी हमारे सामने रहता है, क्योंकि ध्वनि पूरी तरह व्यंग्य अर्थ पर ही आधारित है, अलंकार व्यंग्य भी हो सकता है, और वाच्य भी।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में जब हम ध्वनिचिंतन पर विचार करते हैं तो यह सर्वथा स्वाभाविक लगता है कि ध्वनिवाद को अपनी स्थापना के लिए तीव्र विरोध तथा संघर्ष का सामना करना पड़ा था। सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ध्वनिवाद पर सबसे तीखा और कठोर प्रहार किसी आचार्य की ओर से नहीं अपितु एक कवि की ओर से किया गया था, जिसका यह पद्य आनंदवर्धन ने उद्धृत किया है :

यस्मिन्नास्ति न वस्तु किंचन मनःप्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

अभिनवगुप्त ने लोचन में सूचित किया है यह पद्य आनंदवर्धन के समकालिक मनोरथ नामक कवि का है। यहां यह प्रश्न सहज ही उठता है कि मनोरथ कवि को, जो निश्चित रूप से काव्यशास्त्र के आचार्य नहीं थे, ध्वनिसिद्धांत पर इतना रोष तथा तीखा प्रहार करने की क्या आवश्यकता थी? उक्त पद्य की प्रथम पंक्ति से स्पष्ट है कि मनोरथ काव्य में 'मनःप्रह्लादि सालंकृति' वस्तु को सर्वाधिक महत्त्व का मानते थे। अलंकार न कहकर अलंकृति शब्द के प्रयोग से यह भी स्पष्ट है कि वे अलंकृति को व्यापक अर्थ में लेते हैं जिसमें काव्य के समग्र सौंदर्य तथा उसके उपादानों का समावेश हो जाता है। **'मनःप्रह्लादि'** विशेषण से भी यह स्पष्ट है कि वे अलंकृति या अलंकार को केवल शब्दालंकार और उपमादि अर्थालंकार के अर्थ में नहीं लेते हैं। और मनोरथ कवि के ध्वनिवाद से चिढ़ उठने का सबसे बड़ा आधार भी यही था : ध्वनिवाद ने : 'इस मनःप्रह्लादि सालंकृति वस्तु' का काव्य में महत्त्व घटा दिया था, उसने काव्य में व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ को ही सबसे महत्त्वपूर्ण घोषित किया था।

यद्यपि आनंदवर्धन तथा अभिनव दोनों ने स्थान-स्थान पर इस मंतव्य को दोहराया है कि चारुत्वप्रतीति ही प्राधान्य की—और अंततः ध्वनि की भी—कसौटी है, पर ध्वनिवाद की परंपरा में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता को ही उत्तम काव्य का मानदंड मान लिया गया था। काव्य के सौंदर्य और तात्पर्य को अनदेखा करके केवल व्यंग्य अर्थ पर ही दृष्टि रखने से निश्चय ही काव्य के साथ अन्याय हुआ था। इस अन्याय के विरोध में ही मनोरथ कवि ने अपनी यह प्रतिक्रिया प्रकट की थी। यदि ध्वनि के आचार्यों द्वारा उत्तम काव्य के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत पद्यों का परीक्षण किया जाए, तो उपर्युक्त मान्यता असंगत नहीं लगती। आनंदवर्धन ने अविवक्षितवाच्यध्वनि के उदाहरण में यह पद्य उद्धृत किया है :

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानति सेवितुम्॥

(प्रथम उ., चौखंभा सं., पृ., 145)

सुवर्णपुष्पा पृथिवी को तीन प्रकार के ही लोग उपभोग करते हैं : शूर, पंडित तथा सेवा करना जानने वाला। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार आनंद ने यहां पृथिवी के लिए प्रयुक्त सुवर्णपुष्पा, इस विशेषण के आधार पर ध्वनिकाव्य माना है। सुवर्णपुष्पा विशेषण से पृथिवी की 'सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनता' लक्षित होती है, उससे शूर-कृतविद्य-सेवक इन तीनों का प्राशस्त्य ध्वनित होता है। यह ध्वनिवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य द्वारा ध्वनि की स्थापना करते समय उसके उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया गया पहला पद्य है। पर प्रश्न यह उठता है कि क्या इस पद्य का सारा सौंदर्य पृथिवी के लिए प्रयुक्त सुवर्णपुष्पा विशेषण पर ही टिका है जिसके कारण आनंदवर्धन ने यहां अविवक्षितवाच्य ध्वनि मानी है? क्या उस सौंदर्य में शूर, कृतविद्य, सेवक, इन तीनों के लिए एक ही क्रिया 'चिन्वन्ति' का होना (दीपक अलंकार) तथा उससे प्रकट होने वाला इन तीनों का सादृश्य (उपमा) उक्त विशेष की अपेक्षा कहीं अधिक योगदान देता हुआ नहीं लगता? ध्वनि के समस्त भेदों का अलंकार में अंतर्भाव दिखाते हुए प्रतिहारेन्दु ने इस पद्य पर भी विचार किया है तथा इसमें निदर्शना अलंकार माना है।

अविवक्षितवाच्य के उदाहरण के बाद आनन्द ने विवक्षितवाच्य का यह उदाहरण दिया है :

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥

(पृ. 146)

यह किसी नायक की नायिका को प्रसन्न करने के लिए कही गई शृंगारगर्भित उक्ति है जिसमें वह पूछता है कि इस तोते ने किस पर्वत पर कितने समय कौन-सा तप किया था, जो यह तुम्हारे अधर के समान पाटल बिंबफल को काट रहा है?

जैसाकि अभिनवगुप्त ने प्रदर्शित किया है, इस पद्य का एक-एक पद व्यंजक या अभिप्रायगर्भित है। अंततः इसमें नायक की नायिका के अधरदशन की इच्छा व्यंजित होती है। यहां भी वही प्रश्न आ उपस्थित होता है कि शुक की रसज्ञता अथवा नायक की अधरदशन की इच्छा आदि व्यंग्य अर्थों से इस पद्य का वाच्य क्या कम सुंदर है? यदि वाच्य अर्थ पर थोड़ा और विचार किया जाए तो उससे नायक की विनोद की भी मनःस्थिति झलकती है, क्योंकि केवल चुंबन आदि की इच्छा से, गंभीरतापूर्वक, वह शुकशावक के बारे में इतनी दूरारूढ़ कल्पना न कर बैठता। नायक की यह विनोदवृत्ति वाच्य की उपस्कारक है जिससे वाच्य का सौंदर्य बढ़ गया है।

आनंदवर्धन के अर्थांतरसंक्रमित वाच्य के उदाहरण (**स्निग्धश्यामल-कान्तिलिप्तवियतो**) को प्रतीहारेन्दुराज ने वस्तुध्वनि के अंतर्गत होने से पर्यायोक्त अलंकार का ही उदाहरण माना है। अर्थांतरसंक्रमित का ही दूसरा स्वरचित उदाहरण आनंद ने यह दिया है :

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिआएं होन्ति कमलाइं कमलाइं॥

गुण तभी गुण होते हैं, जब वे पारखी लोगों द्वारा ग्रहण किए जाएं, सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होकर ही कमल-कमल होते हैं। यहां द्वितीय कमल आदि शब्द अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाते हैं। निश्चय ही यहां अर्थांतरसंक्रमितवाच्यता का ही सौंदर्य सर्वातिशायी है। पर यह भी द्रष्टव्य है कि पूरे पद्य में अर्थांतरसंक्रमित अथवा निदर्शना (इनमें से जो भी अलंकार माना जाए) से उत्पन्न रमणीयता भी परिव्याप्त है। साथ ही, यद्यपि यह बहुत दूरारूढ़ तुलना लग सकती है, फिर भी मम्मट द्वारा अनन्वय अलंकार के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत निम्नलिखित पद्य से उपर्युक्त अर्थांतरसंक्रमितवाच्य के उदाहरण को मिलाकर देखा जा सकता है :

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद् विलासा इव तद् विलासाः॥

(काव्यप्रकाश, 10/414)

ध्वनिसिद्धांत की मान्यताओं के अनुसार इस पद्य में अनन्वय अलंकार ही माना जाएगा तथा पीछे के पद्य में ध्वनिकाव्य माना जाएगा, इसमें कोई शंका नहीं हो सकती। परंतु भाषागत प्रयोग की दृष्टि से देखें तो लगेगा कि दोनों में शब्दों को

दोहराने की शैली का प्रयोग करके विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न किया गया है। एक में कहा गया है कि रविकिरणों से स्पर्श पाकर ही कमल कमल होता है, तो दूसरे में नायिका के सौंदर्य की अपूर्वता बताने के लिए कहा गया है कि वह नितंबिनी तो नितंबिनी जैसी ही है, तथा उसके विलास उसी के विलास जैसे हैं। भाषागत इस प्रयोग की दृष्टि से, अथवा वक्रोक्ति की दृष्टि से दोनों का चमत्कार समान है। अब ध्वनिवादी आचार्य के मानदंड–व्यंग्य अर्थ–की दृष्टि से देखें, तो आनंदवर्धन के पद्य में द्वितीय कमल शब्द, अभिनवगुप्त की शब्दावली में **'लक्ष्मीपात्रत्वादिधर्मांतरशतचित्रतापरिणत'** हो जाता है। पर मम्मट के अनन्वय के उदाहरण में भी तो नितंबिनी को उसी के जैसा कहने पर या उसके विलासों को उसी के विलास सदृश बताने पर, उस नायिका के सौंदर्य की अपूर्वता, अनिंद्यता आदि सैंकड़ों धर्म व्यंजित होते हैं। भाषा-शैली, वक्रोक्ति तथा व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ का सौंदर्य, इन सभी दृष्टियों से यह कह देना प्रायः असंभव ही है कि आनंदवर्धन का उदाहरण ही दूसरे पद्य से अधिक अच्छा है। फिर भी हम देखते हैं कि ध्वनि के प्रस्थापक आचार्य आनंद ने अपने उदाहरण को ध्वनि या उत्तम काव्य कहा है, जबकि उनके अनुयायी आचार्य मम्मट ने दूसरे पद्य को अधम काव्य के उदाहरण में प्रस्तुत किया है।

यहां निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि केवल कुछ उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनिसिद्धांत काव्य की व्यापक और सही कसौटी प्रस्तुत नहीं करता या वह कविता के साथ न्याय नहीं कर पाता। साथ ही, आनंदवर्धन, मम्मट आदि ने उपर्युक्त उदाहरण सिद्धांत की पुष्टि के लिए ही दिए हैं, अलग से उनका विवेचन नहीं किया जिससे उनके साथ न्याय हो सके। दोनों ही तर्क सही हैं। परंतु यह भी सत्य है कि किसी भी काव्यसिद्धांत की परीक्षा व्यवहार में होनी चाहिए, काव्यसिद्धांत अपने आप में कितना ही बड़ा, गहन और गंभीर क्यों न हो, यदि वह काव्य को समझने में सहायक नहीं होता, तो उसका उपयोग ही क्या? साथ ही, दर्शन के सिद्धांत के अनुसार कोई भी प्रतिज्ञा उदाहरण या दृष्टांत के अभाव में अपूर्ण है। किसी भी सिद्धांत को अथवा लक्षण को उसके उदाहरण के साथ ही पूर्णतः समझा जा सकता है।

इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि आनंदवर्धन तथा मम्मट आदि ने अपने पूर्ववर्ती आलंकारिकों की ही भांति लक्षण को समझाने के लिए जो भी उदाहरण सुगम तथा सरल दिखा, उसे प्रस्तुत कर दिया। यदि वे किसी बड़े कवि का उत्कृष्ट पद्य किसी लक्षण के उदाहरणस्वरूप रखते, तो उसके साथ न्याय करते

ही। इस दृष्टि से देखने पर आनंदवर्धन के द्वारा काव्यात्मा के निरूपण में आदिकवि वाल्मीकि के शोक का श्लोक में परिणत होने का दृष्टांत दिए जाने के कारण[12] उनकी दृष्टि में वाल्मीकि समर्थ कवि हैं और वाल्मीकि का यह पद्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के उदाहरण में आनंदवर्धन ने प्रस्तुत भी किया है :

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृत्तमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

यह हेमंतवर्णन के समय विरही राम की उक्ति है। सूर्य में जिसका सौभाग्य संक्रांत हो गया है, तथा तुषार से जिसका मंडल ढका हुआ है, ऐसा चंद्रमा निःश्वास से अंध दर्पण के समान चमक नहीं रहा है। यहां पर आनंदवर्धन ने अंध शब्द के कारण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि मानी है। पर सौभाग्य के सूर्य में संक्रांत हो जाने, तुषार से आवृत होने, निःश्वास से अंध बने दर्पण और चंद्रमा का न चमक पाना--इन चारों विवरणों के द्वारा राम के सौभाग्य के छिन जाने की भी व्यंजना यहां है। राम इस समय किंकर्तव्यविमूढ़ से हो गए हैं। उनके लिए सीता तक पहुंचने के सारे रास्ते तुषार से आच्छन्न हैं। उनका विवेक काम नहीं कर रहा, वह दर्पण जिसमें वे अपने आपको पहचान सकते थे, उन्हीं के अपने निःश्वासों से धूमिल पड़ गया है, अब उनके जीवन में कोई चंद्रमा नहीं चमकता। 'अंध' शब्द के कारण अत्यंततिरस्कृत-वाच्यध्वनि भी यहां है ही, पर विचार करने की बात यह है कि सारे पद्य में क्या अंध शब्द से आने वाली व्यंजना का ही सौंदर्य सर्वातिशायी है? 'अंधा दर्पण' यह एक लाक्षणिक प्रयोग है जिसका प्रयोग बोलचाल की भाषा में भी होता है। यदि इस पद्य में अंध को हटाकर उसके स्थान पर धूमिल या मलिन रख दिया जाए, तब भी सारे पद्य की व्यंजना में और उसके सौंदर्य में संभवतः कोई भी अंतर नहीं आएगा। इसी प्रकार के पद्यों को दृष्टि में रखकर अवन्तिसुन्दरी ने कहा था कि एक ही रचना में अनेक पाठ होने पर भी, यदि वह समर्थ कवि की कृति है, तो उसका सौंदर्य अक्षुण्ण बना रहता है। ऐसी स्थिति में यहां अत्यंततिरस्कृतवाच्यध्वनि मानी ही क्यों जाए?

यद्यपि आनंदवर्धन ने यह तो स्वीकार किया था कि ध्वनि सौंदर्यरूप है (**कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्य**—ध्वन्या., पृ. 26), पर उन्होंने तथा उनके पहले के ध्वनिवादी आचार्यों ने भी अपने काव्यसिद्धांत में ऐसी परंपरा को जन्म दिया था जिसमें सौंदर्य या चमत्कार के आधार पर नहीं, अपितु व्यंग्य अर्थ की प्रधानता के आधार पर काव्य की श्रेष्ठता स्वीकृत होती थी। संभवतः आनंदवर्धन को वाच्यवाचकसंबंध मात्र पर आधारित काव्यों से ध्वनिकाव्य का पार्थक्य बताने की इतनी अधिक चिंता थी कि उन्होंने ध्वनि में व्यंग्यप्राधान्य होने की बात को बार-बार कहा :

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटा॥
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः॥

(ध्वन्या., पृ. 135-36)

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्॥

(वही, पृ. 159)

व्यंग्यव्यंजकसंबंधनिबंधनतयाध्वनेः।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥

(वही, पृ. 155)

ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यप्राधान्य पर इतना बल दिया कि उसी को उत्तम काव्य की एकमात्र कसौटी मान लिया गया। मम्मट ने उत्तम काव्य या ध्वनि का लक्षण यह दिया :

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

(का.प्र. 1/4)

उन्होंने उत्तम काव्य के उदाहरण भी केवल व्यंग्य की प्रधानता को ही दृष्टि में रखकर उद्धृत किए, भले ही उनमें चारुत्व या सहृदयहृदयाह्लादकारी तत्त्व न हो। उदाहरण के लिए उनके काव्यप्रकाश के चौथे उल्लास में, जहां उन्होंने उत्तम काव्य या ध्वनि का निरूपण किया है, अर्थांतरसंक्रमित तथा अत्यंततिरस्कृत ध्वनियों के ये उदाहरण देखें :

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

(4/23)

यहां कोई गुरु अपने शिष्य से कह रहा है कि मैं तुमसे कहता हूं कि यहां विद्वानों की मंडली उपस्थित है, अतः अपनी बुद्धि में स्थित रहकर ही यहां व्यवहार करना। यहां 'कहता हूं' (वच्मि) यह क्रिया उपदेश देता हूं इस अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाती है, जिससे गुरु का शिष्य के प्रति हितसाधनत्व व्यंग्य होता है।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

(4/24)

कोई अपने अपकारी व्यक्ति से कहता है कि आपने हमारा बड़ा उपकार किया, इसमें कहना ही क्या है, आपकी सज्जनता तो प्रख्यात है, आप ऐसा ही काम करते हुए सुखपूर्वक सौ वर्ष जीएं। यहां उपकार से अपकार, सुजनता से दुर्जनता, सखे से शत्रु, सुखपूर्वक से दुःखपूर्वक ये अर्थ लक्षित होते हैं, तथा उनसे अपकार आदि का अतिशय व्यंग्य होता है।

उक्त दोनों उदाहरणों के संबंध में प्रश्न किया जा सकता है कि इनमें काव्य का क्या सौंदर्य है? दोनों वस्तुध्वनि के उदाहरण हैं, अभिनवगुप्त ने कहा था कि वस्तु और अलंकार ध्वनि का भी अंततः पर्यवसान रस में ही होता है, इसी आधार पर उन्हें वाच्य से उत्कृष्ट भी माना जा सकता है। यहां व्यंग्य अर्थ की प्रधानता भले ही हो, पर हितसाधनत्व आदि व्यंग्य अर्थ में अथवा अपकाराद्यतिशय में रस या सुंदरता कहां है? आश्चर्य यह देखकर होता है कि मम्मट ने उत्तम काव्य के तो ये उदाहरण दिए हैं, और जिसे वे चित्र काव्य या अधम काव्य कहते हैं, उसका उदाहरण उनकी दृष्टि से यह है :

विनिर्गतं मानदमात्ममंदिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥

(1/5)

यहां हयग्रीव दैत्य के वर्णन में कहा गया है कि उसे अपने प्रासाद से स्वेच्छा से यों ही बाहर निकला सुनकर भी देवराज इन्द्र तुरंत हड़बड़ी के साथ स्वर्ग की नगरी के फाटक बंद करवा देते थे, मानो उसके भय से वह नगरी अपनी आंखें मूंद लेती हो। अधम काव्य का यह उदाहरण तथा ऊपर उद्धृत उत्तम काव्य के दोनों उदाहरण सामने रखकर देखने पर ध्वनिवादी आचार्य मम्मट की समीक्षाचेतना तथा काव्य की समझ का पता चल जाता है। ये उदाहरण मम्मट ने संयोगवश या लक्षण को सुगमता से समझाने के लिए यों ही नहीं दे दिए हैं, उनके सामने काव्य की उत्तमता की एक ही कसौटी थी—व्यंग्य का प्राधान्य, और उस कसौटी पर खरा उतरने पर कितना ही घटिया पद्य हो, उनकी दृष्टि में उत्तम काव्य था।

उत्तम काव्य के उक्त दोनों उदाहरण सामने रखकर हम यदि मनोरथ कवि के ध्वनिवाद पर किए गए तीखे आक्षेप पर विचार करें, तो वह किसी पूर्वग्रहग्रस्त व्यक्ति का बिना सोचे समझे प्रकट किया गया विरोध नहीं लग सकता, उसकी सुसंगत

पृष्ठभूमि समझ में आती है। 'जिसमें मन को आह्लादित करने वाली अलंकृति से युक्त कोई वस्तु नहीं, जो व्युत्पन्न विवेकशील रचनाकार की कृति नहीं तथा जो वक्रोक्ति से भी शून्य है, ऐसे काव्य को—यह तो ध्वनि से समन्वित है—ऐसे कहकर प्रीतिपूर्वक प्रशंसारत जड़, हम नहीं जानते कि ध्वनि का स्वरूप पूछा जाने पर क्या बतलाएगा?' यह तीव्र प्रहार मम्मट द्वारा ध्वनि के उदाहरणों पर तो अवश्य ही सटीक टिप्पणी है।

केवल व्यंग्य प्राधान्य को निकष मानकर काव्य को समझने का प्रयास करने पर कविता के साथ जो घोर अन्याय हो सकता है, उसका कुछ आभास आनंदवर्धन को भी अवश्य रहा होगा। इसीलिए उन्होंने अपने सिद्धांत की उपस्थापना के समय उपलक्षण के लिए ही सही, वाच्य और व्यंग्य दोनों को काव्य की आत्मा माना था तथा अन्यत्र उन्होंने आचार्यों को सावधान करते हुए यह भी कहा था कि सर्वत्र ध्वनि ही ढूंढते रहना उचित नहीं है : **'न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्'** (ध्वन्या., पृ. 481)। महिमभट्ट ने भी आनंदवर्धन के सुप्रसिद्ध ध्वनिलक्षण पर आक्षेप करते हुए इस बात को उठाया था कि केवल व्यंग्य अर्थ को ही कसौटी मानने पर अतिव्याप्ति दोष हो जाता है, जो काव्य नहीं है, उसमें भी व्यंग्य अर्थ की प्रधानता हो सकती है। उदाहरण के लिए महिमभट्ट ने यह पद्य उपस्थित किया था :

विवरीअरए लच्छी बम्हं दठ्ठूण णाहिकमलट्ठं।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झति ढक्केइ ॥

(व्यक्तिविवेक, प्रथम तथा तृतीय विमर्श में उद्धृत)

विपरीत रति के समय लक्ष्मी विष्णु के नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर रसाकुल होकर झट से विष्णु के दाहिने नेत्र को ढक देती हैं। यहां विष्णु के दाहिने नेत्र से उसकी सूर्यात्मकता, उसके निमीलन से सूर्यास्तसमय, उससे कमलों का मुंद जाना, उससे ब्रह्मा का ढक जाना और उससे फिर अनियंत्रित रतिविलास—ये अर्थ व्यंजित होते हैं। यहां व्यंग्य अर्थों की शृंखला अवश्य है, पर न तो वाच्य में, न उन व्यंग्य अर्थों में ही कोई सौंदर्य माना जा सकता है। फिर भी यह परम आश्चर्य का विषय हो सकता है कि महिमभट्ट के इस सोदाहरण आक्षेप के बावजूद आचार्य मम्मट ने इसी पद्य को अपने ग्रंथ के पंचम उल्लास में ध्वनि की स्थापना के समय उदाहृत किया है।

सिद्धांत के रूप में भले ही ध्वनिप्रस्थान काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रतिष्ठित तथा समादृत हुआ हो, पर कवियों और काव्यरसिकों के द्वारा वह कदाचित सम्मत नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें रचनाकार और उसके कृतित्व के साथ निश्चय ही अन्याय

किया जा रहा था। व्यंग्य की प्रधानता को काव्य की उत्तमता की कसौटी मानकर अत्यंत उत्कृष्ट तथा समर्थ कवियों की रचनाएं मध्यम अथवा अधम काव्य के दर्जे में गिना दी जाती थीं। मम्मट द्वारा दिया गया गुणीभूत व्यंग्य का यह उदाहरण लें :

हरस्तु किंचित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

(काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, 129)

यह कालिदास के कुमारसंभव से लिया गया पद्य है। प्रसंग उस समय का है जब वसंत की अपूर्व मादकता का सृजन करता हुआ, सारी सृष्टि को विलास में सराबोर करता हुआ कामदेव शंकर को रिझाने उनके सामने पहुंचा, और उनको देखते ही वह घबरा उठा, सारी सृष्टि थम गई, कामदेव को पता भी नहीं चला कि कब उसके हाथों से उसका धनुष खिसककर नीचे गिर पड़ा। उसी समय अपूर्व सुंदरी पार्वती शंकर की पूजा के लिए वहां आ उपस्थित हुई जिसे देखकर कामदेव का खोया हुआ धैर्य फिर वापस लौट आया। शंकर ने समाधि खोलकर पार्वती की पूजा ग्रहण की, और पार्वती को आशीर्वाद दिया, ठीक उसी समय काम ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर डोरी खींची, सारी सृष्टि चंचल हो उठी और कुछ डिगे हुए धैर्य वाले तथा चंद्रोदय के आरंभ में (चंचल होते) सागर के समान शंकर ने भी बिंबफल के समान अधरोष्ठ वाले उमा के सुंदर मुख पर (तीनों) नेत्र व्यापारित किए।

उपर्युक्त पद्य निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर कलात्मक संयम तथा कवि के सौंदर्यबोध का दुर्लभ उदाहरण है। उमा के मुख पर नेत्रों को व्यापारित करके शंकर ने क्या करना चाहा, यह कवि अनकहा छोड़ देता है। जिस निवातनिष्कम्पप्रदीपशिखा के सदृश समाधिस्थ शंकर का अत्यंत ऊर्जस्वी चित्र वह अभी अभी दे चुका है, उसकी गरिमा के अनुरूप वह शंकर के मन में उठे भाव को अनिर्वचनीय बना रहने देता है, रसिक के चित्त में उसके विषय में उठे शंका और संदेह को भी वह जानबूझकर बना रहने देता है। इस प्रकार व्यंग्य का अनकहा छोड़ देना, उसके विषय में सहृदय के मन में संदेह बना रहने देना ही इस पद्य की महती शक्ति है जो उसके रचनाकार को आनंदवर्धन के ही शब्दों में दो–तीन या अधिक से अधिक चार-पांच समर्थ कवियों की पांत में बैठाती है।

पर यहां उल्लेखनीय यह है कि जिस आधार पर कवि के अभिप्राय को हृदयंगम करने के बाद यह अत्यंत उत्कृष्ट पद्य सिद्ध होता है, उसी आधार पर मम्मट ने इसे दूसरे दर्जे का काव्य माना है। उनकी दृष्टि में यह गुणीभूतव्यंग्यकाव्य है, क्योंकि कवि यहां व्यंग्य अर्थ को स्पष्ट रूप से ध्वनित करने में असमर्थ रहा है, वह

यह नहीं बता सका कि 'शंकर ने पार्वती को चूमना चाहा—यह व्यंग्य अर्थ यहां प्रधान है, अथवा विलोचनव्यापार वाच्य ही प्रधान है।'[14] मम्मट की यह टिप्पणी नितांत असंगत ही नहीं, उन्हीं के बताए हुए 'प्रकृतिविपर्यय' नामक रसदोष से ग्रस्त होने से अभद्र भी है।

व्यंग्यप्राधान्य को वरीयता देने पर काव्य के साथ होने वाले इस अन्याय का संभवतः कुछ पूर्वानुमान करके ही आचार्य आनंदवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्य को दूसरे दर्जे का या मध्यम काव्य न कहकर उसे 'ध्वनि का निष्यन्दभूत' ही बताया था। मम्मट ने उनके अनुयायी होकर भी उनकी व्यंग्यप्राधान्य वाली बात को तो बहुमान दिया, पर गुणीभूतव्यंग्य को सम्मान नहीं दिया। साथ ही, व्यंग्य की प्रधानता का सिद्धांत उनके मस्तिष्क पर इस तरह छाया हुआ था कि जहां कहीं उन्हें एक व्यंग्य की अपेक्षा दूसरा व्यंग्य या वाच्य गौण दिखा, उन्होंने बिना प्रसंग तथा कवि के अभिप्राय का विचार किए उसे गुणीभूतव्यंग्य या चित्रकाव्य (मध्यम तथा अधम काव्य) की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया। महाभारत से उन्होंने गुणीभूतव्यंग्य का यह उदाहरण लिया है :

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

(काव्यप्रकाश, 5/116)

यह महाभारत के संग्राम के बाद अपने मृत पति की कटी हुई बांह देखकर विलाप करती हुई भूरिश्रवा की पत्नी का कथन है। मम्मट ने इस पर टिप्पणी दी है : यहां शृंगार करुण रस का अंग हो गया है, अतः यह गुणीभूतव्यंग्य है। पर मृत पति के शव को देखकर विलाप करती स्त्री की उक्ति में शृंगार करुण का अंग बनकर नहीं आएगा तो क्या अंगी बनकर आएगा?

ध्वनिवादी भले ही अपने सिद्धांत का गौरव बढ़ाने के लिए व्याकरण के स्फोटसिद्धांत को उसका मूल आधार घोषित करे, किंतु वस्तुस्थिति यह है कि प्रतीयमान का व्यंग्य अर्थ का निरूपण अलंकार के व्यापक क्षेत्र में भामह, दण्डी तथा उद्‌भट के द्वारा किया जा चुका था तथा ध्वनिसिद्धांत में उसका पल्लवन उसके बाद हुआ। कुंतक ने अपनी वक्रोक्ति की परिकल्पना भी भामह से ली। इस प्रकार अलंकार से गुणरीति, वक्रोक्ति तथा रसध्वनि, इन सिद्धांतों का क्रमशः विकास हुआ। अंत में क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धांत बचता है जिसके विषय में कहा जाता है कि क्षेमेन्द्र ने उसकी प्रेरणा आनंदवर्धन से ली होगी, क्योंकि आनंद औचित्य को रससिद्ध काव्य का जीवन बता चुके थे, परंतु रस या प्रतीयमान के साथ औचित्य की

आवश्यकता का प्रतिपादन सर्वप्रथम ध्वनिवादी आचार्यों ने ही किया हो, ऐसा नहीं है। इसके पूर्व दण्डी इसी बात को कह चुके थे :

कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवेनं भारं वहति भूयसा॥

(काव्यादर्श, 1/62)

तथा

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः॥

(वही, 2/292)

यहां अग्राम्यता से आशय औचित्य से है। रस को अग्राम्यतायोनि कहकर दण्डी ने क्षेमेन्द्र की भांति औचित्य को काव्य का जीवन स्वीकार कर लिया है। तथापि अलंकार-रीति-वक्रोक्ति तथा ध्वनिप्रस्थानों के आचार्यों को औचित्य का पृथक से निरूपण करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ, क्योंकि दोषों के परिहार तथा गुण, रीति, रस आदि के यथोचित सन्निवेश में औचित्य का सारा विधान आ जाता है जिसका निरूपण वे दोष, गुण, रस आदि के प्रसंग में कर चुके थे। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के अनेक भेद बताते हुए रस, गुण, अलंकार, पद, वाक्य, अर्थ, काल, देश अवस्था आदि के औचित्य का जो निरूपण किया है, उसका समावेश रस, गुण, अलंकार आदि के निरूपण में तथा पद, वाक्य, अर्थ और रस के दोषों के परिहार में हो सकता है, जिनका विवेचन उनके पूर्ववर्ती आचार्य विस्तार से कर चुके थे। इस दृष्टि से औचित्य का सिद्धांत स्वतंत्र रूप से कोई काव्यप्रस्थान नहीं हो सकता, परंतु जिस प्रकार अलंकारप्रस्थान से वक्रोक्ति को लेकर कुंतक ने उसे सूक्ष्मता और विस्तार दिया, और जिस प्रकार उनके बाद ध्वनितत्त्व की परिकल्पना लेकर ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे भेदोपभेदों का विस्तार देते हुए काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य के तत्त्व को वहीं से लेकर उसके अनेक भेदों का प्रदर्शन किया। क्षेमेन्द्र का यह प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है, विशेष रूप से इसलिए कि उनका औचित्यसिद्धांत तब सामने आया जब ध्वनिवादी आचार्य केवल व्यंग्यप्राधान्य के आधार पर काव्य को श्रेष्ठ बताने लगे, भले ही रस, गुण, अलंकार आदि का उचित सन्निवेश उसमें न हो।

परंतु जिस प्रकार केवल ध्वनि और व्यंग्य ही सर्वत्र देखने के कारण ध्वनिप्रस्थान विकारग्रस्त हुआ, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र भी सर्वत्र औचित्य का उपनेत्र धारण करते रहने के कारण अनौचित्य के भीतर छिपे अधिक बड़े औचित्य को ढूंढ़ पाने में असमर्थ रहे। उदाहरण के लिए उन्होंने कालिदास के इस पद्य में रस का अनौचित्य बताया है :

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥

(कुमारसंभव, 3/28)

कुमारसंभव के ऊपर दिए गए श्लोक में वसंत की अपार सुषमा और वैभव का आकर्षक चित्र खींचता हुआ कवि बीच में रुककर अचानक कहता है—कनेर का फूल भी उस वसंत में खूब खिल उठा था, पर वह रंग में लुभावना होते हुए भी अपनी गंधहीनता के कारण चित्त में खिन्नता ही उत्पन्न करता था। गुणों की समग्रता के विषय में विधाता की प्रवृत्ति पराङ्मुख ही हुआ करती है?

इस पद्य के विषय में क्षेमेन्द्र का कहना है कि यहां शृंगार रस का प्रसंग है, उसमें विधाता को वचनीय बनाते हुए केवल कर्णिकार क़ुसुम का जो वर्णन किया गया, वहां उद्दीपन विभाव के अनुरूप कोई बात नहीं कही गई है।[15] क्षेमेन्द्र का यह आक्षेप अपने स्थान पर एकदम सत्य है। यह भी सत्य है कि यहां प्रसंग शृंगार रस का था, और कवि ने सहसा कर्णिकार की निर्गंधता और उसके बहाने संसार में गुणों की अपूर्णता की चर्चा छेड़कर रसभंग किया है।

किंतु पूरे प्रसंग की छानबीन करने पर कवि की ओर से प्रयुक्त रस का यह अनौचित्य अत्यंत सार्थक तथा साभिप्राय दिखाई देने लगता है। यह पद्य उस समय का है, जब कामदेव अपनी शृंगार लीला और वसंत की मादकता का विस्तार करता हुआ, सारी सृष्टि को उसमें सराबोर करता हुआ शंकर के पास जा रहा है, जहां उसे अंततः जलकर राख हो जाना है। अतः वसंत की उस सारी मादकता और रमणीयता का वर्णन करते—करते, जिसे उस रूप में कालिदास ही कर सकते थे, अचानक कवि रुककर, उसकी क्षणभंगुरता और अधूरेपन की कचोट की बात कह उठता है तो क्या इसमें सचमुच अनौचित्य हुआ है?

इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने प्रबंध का अनौचित्य बताते हुए कुमारसंभव का ही अष्टमसर्गस्थ एक पद्य उद्धृत करते हुए कहा है कि यहां 'पामर नारी के उपयुक्त नखक्षत से चिह्नित ऊरुमूल को देखकर शंकर का हृतलोचन वाला होना तीनों लोकों के गुरु भगवान शंकर के विषय में अनुचित उक्ति है, तथा प्रबंधार्थ यहां परम अनौचित्य की पुष्टि करता है।'[16] क्षेमेन्द्र का यह वक्तव्य कुमारसंभव के केवल एक पद्य के विषय में उनके अपने मत का परिचायक नहीं, अपितु कुमारसंभव के संपूर्ण अष्टम सर्ग के विषय में काव्यशास्त्र के आचार्यों की आपत्ति को सूचित करता है।[17] मेघदूत में कालिदास ने एक नई विधा की सृष्टि की थी जिसका स्वारस्य समझने में असमर्थ होकर काव्यशास्त्र के आचार्य कई शताब्दियों तक उसके संबंध में विकल्प

करते रहे, कुमारसंभव में उन्होंने मनुष्य की सहज राग की वृत्ति को उसकी सर्जनशीलता से जोड़ते हुए फिर एक नया प्रयोग किया। मेघदूत में विरह के समय प्रेम की परिधि के विस्तार का दर्शन है, सघन अनुभूतियों का परिष्कार है। कुमारसंभव में उस प्रेम और अनुभूति को यथार्थ में अनुभवगम्य बनाने का प्रयास है, वह मेघदूत की अनुभूति को आगे ले जाकर स्त्री-पुरुष के मिलन के सजीव अनुभव की व्याख्या करता है। इसलिए दोनों काव्य एक-दूसरे से अनुबद्ध हैं। जिस प्रकार आचार्यों को मेघदूत के विषय में शंका थी, उसी प्रकार कुमारसंभव के संबंध में विप्रतिपत्ति। कालिदास के काव्य के विषय में इस प्रकार की शंका और विप्रतिपत्ति होना उसकी प्रतिभा और मौलिकता का ही परिचायक है, उन्होंने काव्यशास्त्र के आचार्यों से समझौता करके कोई रचना नहीं की थी। संस्कृत के कवियों में सबसे अधिक विराट प्रतिभा के धनी वाल्मीकि हैं जिनके सामने काव्यशास्त्र के सभी सिद्धांत बहुत छोटे हो जाते हैं, उसके बाद उन्हीं की छत्रछाया में अपनी प्रतिभा का विकास करके परिणतप्रज्ञ होने वाले कवि कालिदास हैं। इन कवियों ने शास्त्र का अनुवर्तन नहीं किया, शास्त्र उनका अनुवर्तन करने में कहां तक सफल हुआ, यह अलग बात है। पर उनकी स्वतंत्र प्रतिभा के ही कारण संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त जैसे कवियों को अपने लक्षणों के लिए सबसे कम उद्धृत किया। राजशेखर, हर्ष, श्रीहर्ष, माघ जैसे दूसरे दर्जे के तथा शास्त्र के सहारे चलने वाले कवियों को उद्धृत करना, उन पर चर्चा करना काव्यशास्त्रियों के लिए अधिक सुविधाजनक था। क्षेमेन्द्र ने भी राजशेखर तथा हर्ष के पद्यों को औचित्य के उदाहरण में तो बहुत दिया है, पर अनौचित्य उन्हें कालिदास और भवभूति जैसे समर्थ कवियों में अधिक दीख पड़ा है, जिन पर 'न वै दोषा दोषाः' की अभिनवगुप्त की उक्ति अधिक चरितार्थ होती। रस का अनौचित्य बताने के लिए क्षेमेन्द्र ने भवभूति के उत्तररामचरित का यह पद्य भी उद्धृत किया है :

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्ततां
सुन्दरस्त्रीमथनेप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरोयोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञे जनः॥

(उत्तररामचरित, 6/11)

यहां पर लव और चन्द्रकेतु के वाक्कलह के प्रसंग में, लव जिसे यह ज्ञात नहीं है कि वह राम का ही बेटा है, और चन्द्रकेतु उसका भाई है, आवेश में आकर राम की निंदा करने लगता है। यहां पर क्षेमेन्द्र का आक्षेप है कि लव नाटक का अप्रधान

नायक है, उसके वीर रस के उत्कर्ष के लिए प्रधान नायक के अपवादों का इस प्रकार उसके मुख से वर्णन कराना अनुचित है।[18] क्षेमेन्द्र का आक्षेप यहां भी सिद्धांततः एकदम सही है। लव का इस प्रकार आक्रोश में भरकर राम का अपमान करना बहुत बड़ी धृष्टता है। किंतु यह अनौचित्य भी नाटक के अधिक महनीय अभिप्रायों से जुड़कर अत्यंत सार्थक और आवश्यक हो जाता है। आगे चलकर वही लव राम को प्रत्यक्ष सामने पहली बार देखते ही कहता है :

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम्।

(भवभूतिः उत्तररामचरित, 6/11)

राम को देखकर उसका हृदय प्रेम से आपूरित हो उठता है, विरोध का स्वर शांत हो जाता है, विनय से वह झुक जाता है। लव का पहले का आक्रोश और विरोध भी इसी प्रेम का एक रूप था, उसे राम से शिकायत थी, जिसे उसने अपने निश्छल वालसुलभ मन से स्पष्ट किया। लव का अज्ञान में प्रकट किया अपने पिता के प्रति आक्रोश तथा उन्हें सामने देखकर न पहचानते हुए भी उसका प्रेम से भर उठना, दोनों प्रसंगों में नाटक की विडंबना और कारुणिकता उजागर होती है। यदि लव के द्वारा ऊपर प्रकट विरोध को अनौचित्य मान लिया जाए, तब तो इस नाटक के तीसरे-चौथे अंकों में वासंती की मन को मथ डालने वाली शिकायत, जनक का उपालंभ, कौशल्या आदि की सीता के लिए वेदना—सभी कुछ अनुचित हो जाएगा।

मम्मट तथा क्षेमेन्द्र से उपर्युक्त उदाहरण केवल दिग्दर्शन मात्र हैं, ऐसे सैकड़ों स्थल उनमें तथा अन्य आचार्यों में सहज ही दिखाई पड़ते हैं, जहां कवि पर अपना सिद्धांत या लक्षण आरोपित करते हुए, उसके अभिप्राय और स्वारस्य को न समझकर उन्होंने उनके साथ अन्याय किया है। यदि कोई लक्षण या सिद्धांत काव्य को समझने में अपर्याप्त है, तो उसमें संशोधन, परिवर्धन होना चाहिए, न कि उसे काव्य पर आरोपित करके काव्य को ही छोटा बनाने का प्रयास।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकारप्रस्थान से गुण, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य के सिद्धांत प्रस्फुटित हुए और काव्यशास्त्र में उन्हें स्वीकृति मिली। अब यह प्रश्न उठता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांतों की इस विकासयात्रा की काव्य को व्याख्यागम्य बनाने में तथा उसे दिशा देने में क्या उपलब्धियां रही हैं।

कहा जाता है कि संस्कृत काव्यचिंतन के सारे सिद्धांतों का समाहार ध्वनिप्रस्थान में आकर होता है। ध्वनिप्रस्थान को ही काव्यंचितन का प्रकर्षबिंदु भी माना जाता है। इस प्रस्थान ने अंततः काव्यविचार के क्षेत्र में क्या योग दिया? यदि

यह कहा जाए कि उसने रस को काव्य में पहली बार उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया तो यह सही नहीं है, क्योंकि जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, रस की सत्ता उसी रूप में अलंकार प्रस्थान ने भी काव्य में निर्दिष्ट की थी, जिस रूप में ध्वनिप्रस्थान ने। अलंकार के भीतर अंगीकृत होने पर भी आलंकारिकों द्वारा रस की प्रधानता उसी प्रकार मानी गई, जिस प्रकार ध्वनिमत में उसे अलंकार्य मानकर।

यह कहना भी उचित नहीं है कि ध्वनिसिद्धांत ने ही पहली बार अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों तथा उपमा आदि अर्थालंकारों के अनावश्यक मोह को तोड़ा, क्योंकि उसके पूर्व अलंकारप्रस्थान के ही आचार्य इस बात को बार-बार दोहरा चुके थे कि उक्त अलंकार काव्य के अनिवार्य उपादान नहीं हैं। प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट की टीका में दण्डी का मत उद्धृत करते हुए यह सिद्ध किया है कि उत्तम काव्य के लिए शब्दालंकार आदि की उपस्थिति अनावश्यक है।[19] यही नहीं, दण्डी के बाद वामन यह भी कह चुके थे कि काव्य में गुण नहीं है तो अलंकारों के वृथा विन्यास से उलटे उसके सौभाग्य की ही हानि होती है :

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वपुश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥

(काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति, 3/11 में उद्धृत)

वामन ने काव्य को युवती के रूप के समान कहा था, आनंदवर्धन ने उसके प्रतीयमान को अंगना के लावण्य के समान बताया।[20] वामन के ही समान उन्होंने यमकादिनिबंधन को अनावश्यक मानकर कहा :

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलंभे विशेषतः ॥

(2/15)

काव्यचिंतन के क्षेत्र में ध्वनिप्रस्थान के विशिष्ट अवदान को समझने के लिए उन स्थितियों को समझना आवश्यक है जिनमें उसका उपक्रम हुआ था। यह सत्य है कि अलंकार काव्य के सारे सौंदर्य के मानदंड के रूप में अलंकारप्रस्थान में लाया गया था, जिसकी परिधि अनुप्रास आदि शब्दालंकारों तथा उपमा आदि अर्थालंकारों में ही सीमित न थी। संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार से अधिक बड़ा और व्यापक काव्य का मानदंड दूसरा नहीं है, फिर भी उसके समानांतर ध्वनिप्रस्थान को उपस्थित

करने की आवश्यकता क्यों हुई? इसका कारण यही समझ में आता है कि अलंकारवाद ने कविप्रतिभा को प्रायः भुला दिया था। कवि के अभिप्राय और तात्पर्य को समझे बिना वह लक्षण और सिद्धांत का विस्तार कर रहा था। ध्वनिवाद में इसके विरोध में प्रतिक्रिया मिलती है। ध्वनिवादी आचार्यों के द्वारा कविप्रतिभा का स्वरूप काव्यचिंतन के क्षेत्र में उपस्थित किया गया। यदि कवि के पास प्रतिभा है तो प्रतीयमान का सौंदर्य उसके काव्य में स्वतः फूट पड़ता है, तथा प्रतीयमान अर्थों का निरंतर प्रवाह कवि की प्रतिभा को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार का विचार आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त ने बार-बार प्रकट किया।[21] कविप्रतिभा पर बल देते हुए इन आचार्यों ने कवि के तात्पर्य को समझने की आवश्यकता को प्राथमिकता दी। अलंकारवाद ने इस प्राथमिकता को प्रायः भुला दिया था।

वस्तुतः ध्वनिप्रस्थान का मूल आधार यह विचार ही रहा होगा कि कवि के अभिप्राय या तात्पर्य को उसी की प्रतिभा के संदर्भ में पहले समझा जाना चाहिए। सामान्य जीवन तथा दर्शन की भाषा में जिसे तात्पर्य कहा जाता रहा है, उसी को ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रतीयमान, व्यंग्य आदि नामों से अभिहित किया। इसलिए ध्वनि के प्रबल विरोधियों का एक वर्ग यह कहता आ रहा था कि ध्वनि तात्पर्य से अलग कोई वस्तु है ही नहीं, फिर उसे क्यों स्वीकारा जाए? पर जिसे अन्य क्षेत्रों में तात्पर्य कहा गया, उसे काव्य के क्षेत्र में ध्वनि, प्रतीयमान आदि कहना उसी प्रकार संगत है, जिस प्रकार संसार में कार्य, कारण, सहकारी कहे जाने वाले पदार्थों को काव्य में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी कहा जाना। इसीलिए भोज ने ध्वनि के इस 'तात्पर्य' को समझकर कहा था :

तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये[22]

तथा,

तात्पर्यम्, यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः।[23]

किंतु जब मीमांसकों की तात्पर्य शब्दवृत्ति से गम्य अर्थ के समान ही ध्वनिवादियों ने भी ध्वनि को व्यंजना नामक शब्दवृत्ति से गम्य अर्थ की प्रधानता में ही सीमित कर दिया, और काव्य को समझने में उनके द्वारा अनौचित्य होने लगा तो उसकी एक बार फिर प्रतिक्रिया क्षेमेन्द्र के औचित्यसिद्धांत में हुई। अलंकार की मूलतः कितनी ही व्यापक अवधारणा अलंकारवादियों के मन में रही हो, कवि अथवा उसकी रचना के तात्पर्य पर दृष्टि न होने से वह अनुप्रास आदि तथा उपमा आदि में ही सीमित होकर रह गई। अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी, उद्भट आदि—ने कविता को सामने रखकर अपने लक्षणों का परिष्कार और परीक्षण किया ही नहीं, लक्षणों के

उदाहरण उन्होंने समर्थ कवियों से न लेकर स्वयं ही बना लिए। इसे काव्यशास्त्र की विडंबना ही कहा जा सकता है कि आचार्य स्वयं अपने बताए लक्षणों के अनुरूप काव्य भी बनाकर कवियों को रचना करना सिखाना चाहे। ध्वनिवाद में आचार्यों के इस उपदेशक तथा शास्ता के भाव के विरोध में प्रतिक्रिया प्रकट हुई, अभिनव के कविप्रतिभा के स्वातंत्र्य का सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसके अनुसार गुण-दोष का विवेक कवि को सिखाने की आवश्यकता नहीं, प्रतिभा स्वयं यह विवेक कर लेती है। वक्रोक्ति तथा ध्वनि के आचार्यों ने कालिदास जैसे कवियों पर अपने सिद्धांतों का परीक्षण और परिष्कार किया। कवि को केंद्र में रखकर सिद्धांत के परिष्कार का सबसे अधिक परिपाक क्षेमेन्द्र की समीक्षा में हुआ। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त की तरह सिद्धांत की दार्शनिक बारीकियों में नहीं गए, उन्होंने सीधे कविता को सामने रखकर उसके औचित्य को अभिप्राय को समझना और प्रस्तुत करना चाहा। उसकी औचित्यविचारचर्चा तथा उससे भी अधिक उनकी बहुत छोटी-सी और उपेक्षित पुस्तक 'सुवृत्ततिलक' में उनका यह प्रयत्न स्पष्ट है, जहां उन्होंने एक-एक कवि का निजी वैशिष्ट्य तथा उसका अपना विशिष्ट छंद खोजना चाहा है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में दो धाराएं प्रचलित हुईं : एक रसध्वनिवाद की तो दूसरी अलंकारवाद की। पहली धारा की परिणति प्रतीयमान पर होती है। यह वह अर्थ है जो काव्य से अंततः निष्कृष्ट होकर सहृदय की भावना में शेष रहता है। इस दृष्टि से यह धारा सूक्ष्म और अपेक्षाकृत अमूर्त अर्थ को केंद्र में रखती है, तथा उसी के आधार पर काव्य के अन्य उपादानों की मीमांसा करती है। काव्य के अंतरतम की व्याख्या करना इस धारा की महती उपलब्धि है, पर जब यह उसके स्थूल पक्ष का लगभग त्याग करके मात्र आभ्यंतर ही ग्रहण करने लगती है तो इसके अंतर्विरोध प्रकट होते हैं। तब काव्य के प्रत्येक उपादान को इस सूक्ष्म, प्रतीयमान अर्थ के भीतर ही ग्रहण करने का आग्रह भी इस धारा में आ जाता है। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि भरत से लेकर वामन तक गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं, रसध्वनिवाद में वे रस के धर्म ही नहीं, काव्य से अलग होकर चित्तवृत्तिरूप हो जाते हैं। इस प्रकार रसध्वनिवादी चिंतन काव्य की व्याख्या काव्य के ही क्षेत्र के भीतर न करके अस्पष्ट तथा सूक्ष्म प्रतीतियों के संदर्भ में करने लगता है, यहां तक कि वह काव्य से ही कटकर धुरीहीन हो जाता है।

काव्यशास्त्र की दूसरी धारा प्रतीयमान या सूक्ष्म अर्थ पर दृष्टि न रखकर काव्य के स्थूल उपादानों से प्रारंभ करती है। इस दृष्टि से इसे देहवादी कह सकते हैं, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस अलंकारवादी धारा का पर्यवसान काव्य

के स्थूल पक्ष की मीमांसा में ही हो जाता हो। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ती हुई यह धारा काव्य के संदर्भों से अलग नहीं होती। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया अधिक वैज्ञानिक है कम-से-कम काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में। इसके विपरीत रसध्वनिवाद की परंपरा **'रसो वै सः'** से प्रारंभ करती है। पर काव्य के आभ्यंतर पक्ष के भीतर उसके समस्त उपादानों को समेट लेना उसके लिए कठिन हो जाता है। रसध्वनिवाद अपने दार्शनिक आधार के कारण प्रतिष्ठित तो हुआ, पर दर्शन से लिए हुए संदर्भ पूरी तरह काव्य के संदर्भ नहीं बन सके। एक सूक्ष्म, निगूढ़ ब्रह्म में जिस तरह विराट विश्व समाया हुआ है, उसी तरह उन्होंने रस या ध्वनि के भीतर काव्य के समस्त उपादान निरूपित किए, अथवा ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है—इस प्रकार की धारणा के अनुरूप प्रतीयमान को काव्य का सार समझा, तब उसके उपादान—वाच्य, वाचक आदि उनकी दृष्टि में व्यर्थ हो गए। अलंकारवादियों ने काव्य को एक संपूर्ण संश्लिष्ट इकाई के रूप में देखा था। काव्य में शरीर क्या है, और आत्मा क्या है, इसकी छानबीन का आग्रह उन्होंने कभी नहीं किया। यह आग्रह रसध्वनिवाद से ही आया। काव्य के विभिन्न उपादानों का तारतम्य समझने के लिए एक सीमा तक शरीर और आत्मा की दृष्टि से उसका विश्लेषण उपादेय हो सकता है, पर काव्यशरीर तथा काव्यात्मा में, अलंकार और अलंकार्य में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, वे सदैव अविभाज्य रूप में ही काव्य में रहते हैं। ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने ध्वनि या प्रतीयमान को काव्यात्मा मानने के अपने आग्रह के कारण अलंकार तथा अलंकार्य में नितांत पार्थक्य निरूपित करते हुए उनका विभाजन करना चाहा, जिससे उनका सिद्धांत काव्य का मूल्यांकन करने में अक्षम होता गया, यह ऊपर के दृष्टांतों से स्पष्ट है।

अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य में बाहर से आरोपित नहीं, अपितु उसका अविभाज्य तथा उसमें सर्वदा अनुस्यूत अंग ही माना था। उनका ध्वनिवादियों की अलंकार के संबंध में मान्यता से विरोध सदा बना रहा। आनंदवर्धन, अभिनव तथा मम्मट आदि आचार्यों के द्वारा ध्वनिवाद की सम्यक् स्थापना कर दिए जाने के बाद भी अलंकारवादी आचार्य जयदेव ने उनके विरोध में कहा :

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलंकृती ॥

(चन्द्रालोक, प्रथम मयूख, 8)

जो कृती विचारक अनलंकृत शब्दार्थ को भी काव्य मान सकता है, वह अग्नि को ठंडा क्यों नहीं मान लेता? यहां ध्वनिवादी मम्मट के काव्यलक्षण में आए शब्दों

'अनलंकृती पुनः क्वापि' को लेकर सीधा प्रहार किया गया है तथा रसध्वनिवाद की अलंकारविषयक अनुपपत्ति पर इससे तीखा प्रहार और क्या हो सकता है? अलंकार कविता का उसी प्रकार सहज धर्म है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि का। काव्य में अलंकार की परिव्याप्ति तथा अविभाज्यता को भामह और दण्डी के बाद कुंतक युक्तिसंगत माध्यम से स्थापित कर चुके थे, पर संस्कृत अलंकारशास्त्र में कुंतक की उपेक्षा हुई, तो उसका कारण यह नहीं था कि वक्रता, विच्छित्ति आदि नामों से अलंकार के जिस काव्यप्रतिमान को उन्होंने स्थापित किया, वह एकदेशीय अथवा असमर्थ था, अपितु उसका कारण यही प्रतीत होता है कि कुंतक ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि तथा काव्य की अंतरंग समझ के कारण व्यंजनावाद, स्फोटदर्शन तथा शैवसिद्धांत आदि की अपेक्षा करने का साहस अथवा दुस्साहस करके काव्य को उसी की शब्दावली से समझने और जांचने का सफल प्रयास किया।

ध्वनिवाद अलंकार के व्यापक और अनिवार्य स्वरूप को भुलाकर चला, तो उसकी दृष्टि से तो फिर **'गतोऽस्तमर्कः'**—सूर्य डूब गया—केवल इतनी पंक्ति में भी उत्कृष्ट काव्य सिद्ध करना संभव हो गया, क्योंकि इन शब्दों को किसी विरहिणी के द्वारा कहा जाने पर उनसे प्रियसमागम की प्रतीक्षा, उत्कंठा, रति आदि प्रतीयमान अर्थ किसी सहृदय को प्रतीत हो सकते हैं। ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य मम्मट ने इस एक वाक्य के अपने काव्यप्रकाश में कम-से-कम दस व्यंग्यार्थ बताकर व्यंग्यार्थ को निरवधि कहा। अलंकारवादी की दृष्टि से मामूली से इस वाक्य के भीतर असंख्य अभिप्राय निकालकर उसे अच्छा काव्य साबित करने का ध्वनिवादी का यह परिश्रम उपहास का पात्र ही बन सकता है, क्योंकि वह तो पहले ही कह चुका है :

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादिषु किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

(भामहः काव्यालंकार, 2/87)

सूर्य डूब गया, चंद्रमा चमक रहा है, पक्षी बसेरे की ओर लौट रहे हैं, ऐसे वाक्यों में भला कौन-सी कविता है, ये तो मात्र सूचनाएं हैं। भामह आदि आचार्य रस तथा व्यंग्य अर्थ की काव्य में क्या स्थिति है इससे अभिज्ञ होते हुए भी अलंकार की उनसे अधिक व्यापक तथा अनिवार्य अवधारणा को लेकर चले और रस-ध्वनि को वे उसके अंतर्गत स्थान दे सके, किंतु ध्वनिवादी आचार्य अलंकार की अवधारणा को अत्यंत संकुचित बनाकर भी ध्वनि की अवधारणा के भीतर उसके लिए स्थान नहीं बना सके।

इस प्रकार आनंदवर्धन के ध्वनिवाद में जहां काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का

चरमोत्कर्ष हुआ, वहां काव्यसमीक्षा का ह्रास भी वहीं से प्रारंभ हुआ। चरमोत्कर्ष इसलिए कि आनंदवर्धन वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों को उन्हीं के अभिप्राय की दृष्टि से समझने की प्रतिज्ञा को लेकर चले, और ह्रास इसलिए कि आगे जाकर उनका सिद्धांत कवि के ही अभिप्राय को भुलाकर प्रतीयमान के घेरे में सीमित हो गया।

जब काव्यशास्त्र के सिद्धांत का काव्य की निरंतर विकसनशील धाराओं से संबंध टूट जाता है तो वह सिद्धांत भटक जाता है या काव्य से संवाद स्थापित करने में अक्षम हो जाता है। आनंदवर्धन तथा कुंतक दोनों ही सिद्धांतों का प्रकर्ष इसी कारण है कि वे आदिकवि और कविकुलगुरु की कविता को समझने के प्रयास में बने। पर कविता से अपना यह संबंध वे आगे चलकर बनाए नहीं रह सके। वाल्मीकि की प्रांजल स्फीत वाग्धारा में समकालीन इतिहास और यथार्थ को विशद रूप कल्हण ने 'राजतरंगिणी' महाकाव्य लिखकर दिया, फिर किसी आचार्य ने उसके आधार पर अपने सिद्धांत में संशोधन करने की आवश्यकता को नहीं समझा। इस प्रकार काव्यशास्त्र और काव्य के बीच संवाद टूटा। यह स्थिति दोनों के विकास के लिए अवरोध थी।

संदर्भ

1. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
   यथेवानभिधानेपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥ (काव्यालंकार, 2/34)
2. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
   सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥ (वही, 2/79)
3. अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा। (वही, 3/21)
4. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। (काव्या., 3/8)
   अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
   यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥ (काव्यादर्श, 2/295)
   पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥ (काव्यालंकारसारसं., पृ. 60)
5. पर्यायोक्तेपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनांगित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।
   (ध्वन्यालोक, पृ. 117-19)
6. वही, पृ. 118
7. द्रष्टव्य, अलंकारसर्वस्व, समुद्रबंध की टीका 1/1 (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज)
8. ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव नैध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः

समासोक्ति-व्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलंकारनिरूपणेन कियन्तोपि गुणीभूतव्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्च सर्वोपि व्यंग्यप्रपंचः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो वालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिपदैः परं व्यवहारो न कृतः न ह्येतावतानंगीकारो भवति। (रसगंगाधर—काव्यमाला सं., पृ. 414-15)

9. ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वे प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवालंकारेष्वन्तर्भावात्। (काव्यालंकारसारसं., टीका, पृ. 93)
10. वही, पृ. 93-100
11. प्रधानमपि गुणानां सौन्दर्यहेतुत्वादलंकृतौ साधनत्वं भजति। (वही, पृ. 93)
12. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
    क्रौंचद्वंद्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ (ध्वन्यालोक, 1/4)
13. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
    वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ (वही, 1/2)
14. अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः। (काव्यप्रकाश, उदाहरण 5/129 पर वृत्ति)
15. अत्र केवलकर्णिकारकुसुमवर्णनमात्रेण विधातुर्वाच्यतागर्भेणैव प्रस्तुतशृंगारानुपयोगिना तदुद्दीपनविभावोचितं न किंचिदभिहितम्। (औचित्यविचारचर्चा, काव्यमाला सं. गुच्छक-1) पृ. 125
16. ऊरुमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
    वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥
    अत्राम्बिकासंभोगवर्णने पामरनारीसमुचितनिर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरुमूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः पुष्णाति। (वही) पृ. 120
17. किन्तु रतिः संभोगशृंगाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्। (काव्यप्र. सप्तम उल्लास), पृ. 443
18. अत्राप्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षासहिष्णोर्वीररसोद्दीनपनाय सकलप्रबंध-जीवितसर्वस्वभूतस्य प्रधानानायकगतस्य वीररसस्य ताडकादमनखररणापसरणान्यरणसंस-क्तवालिव्यापादनादिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्यनुचि-तमेतत्। (औचित्यवि.), पृ. 128
19. काव्यालंकारसार, पृ. 89
20. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
    यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ (ध्वन्यालोक, 1/4)
21. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम्।
    अलोकसामान्यमभिव्यक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ (वही, 1/6)
22. भोज'ज शृंगारप्रकाश, पृ. 163 पर उद्धृत।
23. वही, पृ. 161 पर उद्धृत।

17
साहित्य की स्वायत्तता

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य कविता को एक स्वायत्त सत्ता के रूप में देखते आए हैं। रचनाकार की प्रतिभा अपना रास्ता स्वयं खोजती है और अपना प्रस्थान रचती है। इसलिए कवि काव्यविश्व का प्रजापति है, अपने विश्व को वह अपनी रुचि या दृष्टि से रचता और बदलता है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि विचित्र और अपूर्व अर्थ को रचने की शक्ति वाले उस कवि के लिए शास्त्रों के उपदेश निष्प्रयोज्य हैं, जो प्रजापति की तरह काम से संसार को रच देता है। काम यहां रचना के उत्स के अर्थ में आया है।

कविता की स्वतः परिपूर्णता का उद्‌घोष इन आचार्यों ने इस सीमा तक जाकर किया कि कविता का साम्राज्य उनकी दृष्टि में विधाता की हर रचना से बेहतर ठहरा। कविता से मिलने वाला अनुभव भी किसी भी तरह के अन्य अनुभव से अधिक मूल्यवान् या श्रेष्ठ ठहराया गया। रसास्वाद को यदि ब्रह्मास्वादसहोदर कहा गया, तो स्पष्ट ही था कि मनुष्य जीवन में मिलने वाले सबसे बड़े अनुभव से उसकी समाकारिता या समतुल्यता को स्वीकृति दी जा रही है, ब्रह्मास्वाद से उसे कुछ उन्नीस बताने का आशय नहीं है। भट्टनायक ने तो यह भी कहा कि वाणी रूपी धेनु का दुग्ध रस है, उसके आस्वाद से होने वाले अनुभव की बराबरी योगियों को होने वाला अनुभव भी नहीं कर सकता।

कविता को एक स्वतः परिपूर्ण साम्राज्य के रूप में देखने का अर्थ यह भी नहीं लिया जाना चाहिए कि वह इतर अनुशासनों से निरपेक्ष है। भामह कहते हैं कि कवि पर कितना भार है, ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विधा और कला नहीं है, जो कविता का अंग न बनता आया हो। इतर अनुशासनों की कविता को जरूरत है, पर कविता के

अपने राज्य में उन्हें जितनी और जैसी जगह मिलेगी उतने में ही उन्हें काव्यविश्व का हिस्सा बनना होगा। कवि संसार के सारे बकाया अनुशासनों को अंगीकार करे, पर कविता को उनका उपनिवेश न बनने दे।

यदि कविता को अनुशासनों की अपेक्षा है, तो क्या कविता या कविता के शास्त्र की अन्य अनुशासनों को अपेक्षा नहीं होती। काव्यशास्त्रियों में राजशेखर तो यह भी कहते हैं कि वेद को काव्यशास्त्र की जरूरत है, क्योंकि उसके बिना उसके मंत्रों का अध्यात्मिक या तात्त्विक अर्थ भी नहीं खुल सकता। राजशेखर और भोज जैसे आचार्यों ने काव्यशास्त्र और शास्त्रकाव्य जैसी विधाओं पर विचार किया है, उसमें कविता और शास्त्र की पारस्परिकता की मीमांसा है। कविता को शास्त्र की जरूरत है, तो शास्त्र को उतनी ही जरूरत कविता की। तभी कविता में शास्त्र और शास्त्र में कविता लिखने का हमारे यहां चलन रहा।

राजशेखर स्पष्ट कहते हैं कि काव्य और शास्त्र में परस्पर उपकार्योपकारक भाव माना जाना चाहिए, शास्त्र यदि काव्य का उपकारक है, तो काव्य भी शास्त्रों का उतना ही उपकारक है।

इस दृष्टि से आनंदवर्धन और राजशेखर आदि ने कविता में संवाद (करेस्पांडेंस) तथा पाठ पर विचार किया है। देवेन्द्र इस्सर ने रौलां बार्थ का यह कथन उद्धृत किया है कि, 'लिखि लिखती है, लिखारी नहीं।' अर्थात् पाठ दूसरे पाठों से संपृक्त होता है। जब हम किसी पाठ को पढ़ते हैं, तो इसे दूसरे पाठों के संदर्भ में पढ़ाया जा सकता है।'

आनंदवर्धन के अनुसार कवितप्रतिभा के संरम्भ तथा व्यंग्यार्थ के विनिवेश से दृष्टपूर्व काव्यार्थ में भी नवीनता का संचार हो जाता है। काव्यमार्ग अनंत हैं, और कविता की संभावनाएं भी अनंत है। ये संभावनाएं रसपरिग्रह से खुलती हैं। इस कारण काव्यार्थ की पुनरावृत्ति नहीं होती, न उसका विराम होता है। वस्तुतः जगत् की प्रकृति में आनन्त्य है, उसी तरह कविता की प्रकृति में। फिर भी दो कवियों के बीच संवाद हो सकता है या उक्ति का सादृश्य प्रतीत हो सकता है। पर कवि प्रतिभाशाली हैं, तो इस तरह के संवादों में भी एकरूपता नहीं होगी। यह संवाद या सादृश्य आनंदवर्धन के अनुसार तीन प्रकार का हो सकता है—प्रतिबिंबवत्, आलेख्याकारवत् तथा तुल्यदेहिवत्। प्रतिबिंबित सादृश्य हेय है, क्योंकि उसके भीतर उसकी अपनी आत्मा नहीं होती। आलेख्य या चित्ररचना के समान सादृश्य भी क्षुद्र ही है, उसमें अपनी आत्मा भी रहती है, पर अत्यल्प। तुल्यदेहिवत् रचना एक रचना से निकली हुई सर्वथा नई रचना है, क्योंकि संसार में दो पुरुष पूरी तरह एक जैसे

नहीं हो सकते, दो लोगों में सादृश्य यदि ऊपर से लगता भी है, तो उनके अंतःकरण या आत्मा सर्वथा भिन्न और अपने में विशिष्ट तथा अद्वितीय है। इसीलिए हर अच्छी कविता में पूर्वकविता या पूर्वस्थिति का अनुवर्तन होता है, पर इसे पुनरुक्ति नहीं कह सकते, हर सुंदर स्त्री के मुख पर चंद्रमा की आभा देखी जाती है, पर फिर भी उसका मुख अपने में विशिष्ट और अद्वितीय ही होता है।

कविता सदैव पूर्वस्थिति या पूर्वकविता का अनुवर्तन ही हो, ऐसा भी नहीं है। राजशेखर ने इस दृष्टि से काव्यार्थ के तीन प्रकार माने—अन्ययोनि, निह्नुतयोनि तथा अयोनि। इनमें अयोनि अर्थ सर्वथा अप्रतिम और अभिनव होता है। यह कवि की समाधि या उसकी अपनी दृष्टि में खुलता है।

इसलिए पूर्वकविता की अनुवर्तिता नई कविता में परंपरा का सातत्य है, उसकी नवीनता में अतिक्रमण नहीं। कुल मिलाकर काव्यविश्व में संवाद की स्थितियां उसकी स्वायत्तता में हस्तक्षेप न होकर स्वायत्ता की पोषक है।

काव्य को इस परंपरा में स्वायत्त सत्ता मानने की एक परिणति उसके प्रामाण्य की स्थापना में हुई। कविता स्वतः प्रमाण है, उसे अपने आपके प्रमाणीकरण के लिए अपने से इतर किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं। चूंकि यह परंपरा स्वतः प्रमाणिकता वेद की मानती है, इसलिए कविता को वेद के बराबर का दर्जा दिया जाना चाहिए। राजशेखर इस दृष्टि से कहते हैं कि छह वेदांगों के साथ सातवां वेदांग साहित्य है। चार विद्याओं के साथ पांचवीं विद्या भी साहित्य विद्या है।

कविता यदि स्वतः प्रमाण है, तो उसका प्रामाण्य इतर अनुभवों से बाधित नहीं होना चाहिए। कविता पर जड़ धर्मशास्त्रियों का आक्षेप ही यह रहा है, वह अप्रमाण है, क्योंकि उसका अनुभव इतर अनुभवों से बाधित होता है। राजशेखर ने कविता का विरोध करने वालों का सबसे पहला पक्ष यही रखा है कि कविता असत् का उपदेश करती है। इस आक्षेप का उत्तर सदियों से काव्यशास्त्र के आचार्य अपने-अपने ढंग से देते आए हैं। महिमभट्ट कहते हैं कि काव्यानुभूति के संदर्भ में सत्यासत्यत्व का विचार व्यर्थ है। वह अपने अनुशासन के भीतर प्रमाण है, काव्येतर मानकों से उसकी प्रामाणिकता आंकने का प्रयास ही नहीं किया जाना चाहिए।

राजशेखर ने कविता और भौतिक सत्ता के बीच के द्वंद्व पर विचार करते हुए बहस के लिए कई आचार्यों के मत उठाए हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति का मत महिम-भट्ट के निकट है। वे कहते हैं कि (भौतिक जगत् में) वस्तु का स्वरूप जैसा भी हो, काव्य में तो रसवत्ता से प्रयोजन है, जो वक्तृ विशेष के अधीन है। अर्थात् कविता में उक्ति वैचित्र्य, उसकी अपनी भंगिमा और कविता के अपने उपादानों से

किसी वस्तु को उसके तहत जैसा रचा या प्रस्तुत किया जाता है, उससे थोड़ी देर काव्यास्वाद हो जाता है। काव्यास्वाद के काल में तो भौतिकसत्ता से काव्यसत्ता का विरोध भासित नहीं होता। इससे ज्यादा साहसिक मत राजशेखर की पत्नी अवंतिसुंदरी का है। वे कहती हैं कि वस्तु का अपना कोई नियत स्वरूप नहीं होता, (काव्य में) विदग्धभणिति की भंगी से जो उसका स्वरूप निरूपित होता है, वही उसका स्वरूप होता है। मतलब संसार में चीजें जैसी हमें दिखती है, दरअसल वे वैसी होती ही नहीं हैं। कविता ही हमें दिखाती है कि वे कैसी हैं।

एक दृष्टि से अवंतिसुंदरी का मत बौद्धों के विज्ञानवाद या दृष्टिवाद के निकट है। विज्ञानवाद वस्तु की सत्ता के स्थान पर विज्ञान या बुद्धि को सत्य मानता है।

राजशेखर पाल्यकीर्ति और अवंतिसुंदरी दोनों के मतों में समन्वय बताते हुए कहते हैं कि दोनों अपनी-अपनी जगह सही हैं। मतलब यह हुआ कि अपने संसार में हम वस्तुओं को अपनी इंद्रियों से जिस रूप में देखते हैं, उस रूप में भी वे सही हैं, और कविता उन्हें यदि भिन्न रूप में दिखाती है, तो उनका यह भिन्न रूप भी सही है। हमारी दुनिया और कविता की दुनिया में यदि परस्पर विरोध होता है, तो यह विरोध वास्तविक नहीं हो सकता। अपनी दुनिया में हम चीजों का ऊपरी रूप देखते हैं, कविता में उनके भीतर की असलियत उजागर हो जाती है। इसलिए दोनों में विरोधाभास हो सकता है, विरोध नहीं। यह भी हो सकता है कि एक ही चीज को अलग-अलग कविताओं में अलग-अलग रूपों में निरूपित किया जाय। कुंतक बतलाते हैं कि काव्यविश्व में दो दृष्टियां प्रतिफलित होती हैं—एक तो वस्तु का सार या तात्त्विक रूप वाणी से उघाड़ कर सामने ले आती है, दूसरी उसकी ऊपर-ऊपर से दिखने वाली वास्तविकता को मनोहर ढंग से रचकर प्रस्तुत कर देती है। पर कवि की सराहना इसी बात के लिए की जाती है कि वह हमें चीजों के उस भीतर के संसार का अनुभव देती है, जो सामान्य दृष्टि और सामान्य अनुभव से गोचर नहीं होता। महिम भट्ट कहते हैं कि चीजों का सामान्य रूप तो सभी परख लेते हैं, पर उनका विशिष्ट रूप प्रतिभा परखती और व्यक्त करती है। इस विशिष्ट रूप की पहचान के लिए कविप्रतिभा लौकिक भाषा से अलग विशिष्ट भाषा और अभिव्यक्ति के माध्यम चुनती है। इन आचार्यों की दृष्टि में इस विशिष्ट रूप के हर बार हर काव्याभिव्यक्ति के साथ नए होते जाने में कविता की स्वायत्तता और प्रामाणिकता है, यदि उसका अनुभव नया हुआ है, तो पाठ में संवाद और पुनरावृत्ति होते हुए भी ऐसे संवाद या पुनरावृत्ति कोई मायने नहीं रखते, यदि अनुभव नया नहीं हो पाया है, तो पाठ की सर्वथा नवीनता वास्तव में नवीनता नहीं है।

इस अनुभववैशिष्ट्य के कारण कविता के उपकरण लौकिक उपकरणों से भिन्न हो जाते हैं, उसकी भाषा भी लौकिक सामान्य भाषा से अलग हो सकती है, जैसे गणित किसी भी समस्या के निराकरण के लिए अपनी एक अलग भाषा, पृथक्, उपकरणों या संकेतचिह्नों का उपयोग करता है, जो इस लोक की भाषा और उपकरणों पर आधारित होते हुए भी एक अर्थ में लोकोत्तर होते हैं। कविता अपनी पृथक् भाषा या संकेतों को अपनाती है, तो उसकी यह भाषा और संकेतचिह्न भी इतर अनुशासनों से उसके पार्थक्य और स्वातंत्र्य को प्रमाणित करते हैं।

उक्त विवेचन से कविता की स्वायत्तता के निम्नलिखित पक्ष बनते हैं, जो परस्पर पूरक हैं :

1. काव्य तथा काव्यानुभूति इतर अनुशासनों और इतर अनुभवों से निरपेक्ष स्वतः प्रमाण हैं,
2. काव्य तथा काव्यानुभव इतर अनुशासनों और इतर अनुभवों की सापेक्षता में भी प्रमाण हैं,
3. काव्य तथा काव्यानुभव इतर अनुशासनों तथा इतर अनुभवों के लिए प्रमाण हैं, तथा
4. काव्य तथा काव्यानुभव इतर अनुशासनों तथा इतर अनुभवों के संस्कारक, आविष्कारक या आरम्भ हैं।

पहला पक्ष काव्य या साहित्य की स्वायत्तता को पूर्णप्रतिष्ठा देता है, पर आगे के तीन पक्षों से इस स्वायत्तता की कसौटियां निकलती हैं। इतर अनुशासनों या अनुभवों से अपने आपको प्रामाणिक कराने की बाध्यता या अनिवार्यता कविता के लिए नहीं है, फिर भी ऐसा प्रमाणीकरण होता रहे, तो हमें सुविधा होती है, उससे हमारी कविता और अनुशासन–दोनों की समझ बढ़ती है। इतर अनुशासनों या विभिन्न शास्त्रों के द्वारा काव्य का प्रमाणीकरण किया जाता रहा है, पर काव्य के द्वारा इतर अनुशासन अपने आपको संस्कारित करें इसकी भी जरूरत अनुभव की जाती रही है। यदि ऐसा न होता तो भगवद्‌गीता में उम्दा कविता और गहरा दर्शन–दोनों का समवाय संभव न होता। कालिदास के रघुवंश और शंकराचार्य की सौंदर्यलहरी के तांत्रिक विनियोग की परम्परा रही है, जबकि ये दोनों मूलतः उत्कृष्ट काव्य हैं। दर्शन या तंत्र ने इनका प्रामाण्य ग्रहण किया है।

वैदिक कवियों ने वाक् को चीजों की जननी कहा, तथा उसे समस्त जगत् की आरंभक या आविष्कारक बताया। इसी परंपरा में शब्दब्रह्मवाद की स्थापना हुई। शब्द ही जगत् को रचता है। रचने का अर्थ यही है कि प्रदत्त जगत् को शब्द के द्वारा नया बनाया जाता है, या उसका नवाविष्कार किया जाता है।

कविता के सहारे काव्येतर क्षेत्रों में हम अपने आप को संशोधित, संस्कारित या परिष्कृत करते आए हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने दार्शनिक ग्रंथों में अपने चिंतन को व्यवस्थापित करने के लिए अन्य कवियों की कविता का सहारा लिया है, और इससे आगे बढ़कर उन्होंने घटकर्परकुलकविवृत्ति में घटकर्परकाव्य पर टीका लिखते हुए ही उस काव्य के माध्यम से अपना दर्शन सत्यापित किया है।

कवि के लिए दर्शन या तत्त्वप्रख्या की अनिवार्य प्राथमिकता स्वीकार की गई है। दर्शन या सीइंग और वर्णन या अभिव्यक्ति—ये दोनों जिसमें हों, वह कवि है, वही ऋषि भी है। दर्शन का अर्थ यहां कोई फलसफा नहीं, बल्कि चीजों के भीतर के तत्त्व को पकड़ लेने वाली दृष्टि है। पर विचारधाराएं और दर्शन-प्रस्थान भी इस दृष्टि की पकड़ में आ ही जाते हैं।

इस सबसे भी यह समस्या तो नहीं सुलझती कि कविता का अपना कोई दर्शन होता है या नहीं। क्या किसी काव्यविशेष से कोई दर्शनप्रस्थानविशेष बन सकता है, और कवि विशेष का अपना पृथक् दर्शन प्रस्थान हो सकता है?

जब हम कविता के अपने अलग दर्शन की बात करते हैं, तो अन्य दर्शनों से उसकी सापेक्षता तो पहले ही मान लेते हैं। कविता से निकलने वाला कोई ऐसा दर्शन होना चाहिए, जो इतर अनुशासनों या दर्शनप्रस्थानों के मुकाबले उसे खड़ा कर सके—कविता से ऐसी अपेक्षा करने में हम कविता के स्वायत्त साम्राज्य को पहले ही तोड़ देते हैं, क्योंकि इतर दर्शनों से मिली परायत्त बुद्धि से उसकी परीक्षा हम करना चाहते हैं। यह अपेक्षा और परीक्षा भी हम यह जानते हुए करते हैं कि कोई कविता सीधे-सीधे किसी दर्शनविशेष को व्यक्त नहीं करती। कविता हमें अनुभव में ले जाती है, दर्शन इसी अनुभव में इस तरह संपृक्त रहता है, कि उससे इसे अलगाया नहीं जा सकता। दर्शन को उससे अलगाने पर या तो वह गूंगे का गुड़ होने से अलग कहा ही नहीं जाएगा, यदि अलग कहा गया तो कविता और अनुभव विच्छिन्न हो जाएगा। इसलिए कवियों को दार्शनिकों या ऋषियों के बराबर या कहीं-कहीं उनसे भी ऊंचा दर्जा देने वाली परंपरा में भी ऐसी बात नहीं उठी कि वाल्मीकि या कालिदास जैसे कवि का अपना दर्शन क्या है। यह माना गया कि अनुभव के आगे सारे दर्शन और शास्त्र के वचन निवृत्त हो जाते हैं। वेदांत कहता है कि वेदांत के सारे वाक्य वहीं तक हैं जहां तक अनुभव नहीं हुआ, अनुभव होने पर वे व्यर्थ हो जाते हैं। तथापि शब्द से अपरिच्छेद्य होने पर भी इस अनुभव की वेदांतवाक्यों के द्वारा व्याख्या की जाती है। उन्हीं से वेदांतदर्शन बनता है। कविता के अनुभव की भी व्याख्या की जाय, तो क्या इससे कोई अलग दर्शन बन सकता है?

कविता लय और छंद का अनुभव देती है। कविता संरचना में अन्तर्निहित लय और छंद का अनुवेध उसके अनुभव से बना रहता है। यदि कविता की बनावट में लय और छंद अविभाज्य रूप में समवेत है, तो उसके आधार पर यह माना जाना चाहिए कि सृष्टि की बनावट में भी अविभाज्य रूप में लय और छंद समवेत हैं, क्योंकि कविता में ऐसा कुछ हो नहीं सकता, जो हमारी सृष्टि से अतीत हो। सृष्टि में अंतर्निहित लय और छंद की बात किन्हीं दर्शन-प्रस्थानों या शास्त्रों ने की हो—ऐसा नहीं लगता। व्याकरणदर्शन में शब्दब्रह्म का निरूपण किया गया है। संगीत शास्त्र में नाद को ब्रह्म कहा गया। भर्तृहरि जब कहते हैं कि समस्त विश्व छंदस् का ही विवर्त है, तो यह विचार मंत्र-काव्य के अवबोध से ही आ सकता था। इस आधार पर कविता से निकलने वाला दर्शन यह बनता है कि मनुष्य का जीवन और जगत् छंदस् का विवर्तन है, उसी छंदस् में जीवन और जगत् का आविर्भाव तथा मुक्ति भी है।

सभी दर्शनप्रस्थान मुक्ति को अंतिम लक्ष्य मानकर चलते हैं। कविता का प्रयोजन भी मुक्ति ही है, पर कविता या साहित्य से मिलने वाली मुक्ति और किसी भी दर्शन-प्रस्थान से या साधना से मिलने वाली मुक्ति में अंतर है। कविता इतर प्रस्थानों की मुक्ति को अस्वीकृत करती है। इस अर्थ में उसका प्रस्थान अपने में स्वायत्त हो जाता है। दर्शनप्रस्थान मुक्ति का स्वरूप वही मानते हैं, जिसमें मनुष्य अपनी सच्चाई को पहचान लेता है। पर सभी दर्शनों में मुक्ति की प्रक्रिया और अनुभव में भेद है। कविता से भी मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को पहचानता है, पर इस पहचान की प्रक्रिया और अनुभव में भी भिन्नता है। वेदांत ऐंद्रिय जगत् से अतीत हो जाने में मनुष्य की मुक्ति देखता है, जब कि काव्यमुक्ति में ऐंद्रिय जगत् का बना रहना और उसका संस्पर्श अनुभव में होना अनिवार्य है। वेदांत में एक की मुक्ति पर्याप्त हो सकती है, काव्य में होने वाली मुक्ति सारे समाज की मुक्ति के लिए महज यात्रा है।

ऐसे कवि भी होते आए हैं, जो दर्शन और शास्त्र के उपलब्ध सारे प्रस्थानों को समझ कर भी उनसे हट कर कविता की भाषा में अपना अलग दर्शनप्रस्थान रच सकें। हमारे समय में ऐसे कवियों के होने की संभावनाएं क्षीण लगती हैं, फिर भी संभावनाएं निःशेष हो गई हों, ऐसा तो नहीं है।

18
साहित्य और मूल्य-दृष्टि

वैदिक मनीषियों की दृष्टि में जीवन के तीन स्तर हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। ये तीनों स्तर परस्पर अनुस्यूत हैं। विश्व में सारी चीजें एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। स्थूल से सूक्ष्मतम तक व्याप्त ये तीन स्तर भी एक-दूसरे से जुड़े हैं। इनमें से कोई भी शेष दो के बिना संभव नहीं है। वैदिक कवि ऋषि आधिभौतिक स्तर पर कृषक या श्रमिक भी है, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्तरों पर वही मन्त्रद्रष्टा और स्रष्टा भी है। वेद में जीवन के निपट भौतिक या स्थूल स्तर को अध्यात्म से विच्छिन्न करके नहीं देखा गया, अतः जो वेद देव-तत्त्व का निदर्शन करता है और परमार्थ का बोध कराता है, वही खेत, खलिहान में भी विचरण करता है तथा श्रम की संस्कृति की प्रतिष्ठा करता है। जीवन के ये तीन स्तर तीन पुरुषार्थों से जुड़े हुए हैं। आधिभौतिक सृष्टि का रिश्ता अर्थ-पुरुषार्थ से है। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र के प्रारंभ में ही शास्त्र को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि सारी पृथ्वी पर जो कुछ प्रत्यक्षगम्य है, उसकी व्यवस्था करना यह शास्त्र सिखाता है। अतः अर्थ का आशय केवल रुपया नहीं, समग्र भौतिक उपलब्धि है, जो मनुष्य अपने से बाहर की दुनिया में करता है। आधिदैविक संसार मनुष्य के भीतर का संसार है। इसमें उसकी सारी कामनाएं और अभीप्साएं संचित हैं। इसी में देवता वास करते हैं। यह आधिदैविक सृष्टि है। इसमें अवस्थित हो कर मनुष्य काम पुरुषार्थ को हासिल करता है। काम का अर्थ भी यहां मात्र स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण या यौन संसर्ग नहीं है, अपितु मनुष्य की वह सारी ऊर्जा भी है, जो उसमें सिसृक्षा (रचने की इच्छा) जगाती है। इसलिए काम, सृष्टि का मूल तत्त्व भी माना गया।

इसके साथ ही यह भी माना गया कि इन तीन आयामों के अतिरिक्त कोई चौथा आयाम भी जीवन का हो सकता है। तीन आयाम तो प्रत्यक्ष अनुभव में आते

हैं, यह चौथा आयाम सामान्य अनुभवों से भिन्न है। इसलिए चौथे पुरुषार्थ, मोक्ष की परिकल्पना की गई। काव्य से मिलने वाले अनुभव को भी रोजमर्रा के सामान्य अनुभवों से भिन्न माना गया। तब प्रश्न यह आया कि काव्यानुभव और इस चतुर्थ पुरुपार्थ—मोक्ष में क्या साम्य या वैषम्य है? तब काव्यानुभव को ब्रह्मस्वादसहोदर या मोक्ष के ही एकदम समान बताया गया। कुछ आचार्य ऐसे भी थे, जिन्होंने काव्यानुभव को योगियों को मिलने वाले परम आनंद से कहीं अधिक मूल्यवान माना। भट्टनायक कहते हैं :

वाग्धेनोर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥

अर्थात् वाग्धेनु के दोहन से होने वाले रस की बराबरी योगियों को समाधि में मिलने वाला रस भी नहीं कर सकता।

व्यक्तित्व की संकुचित सीमाओं से मुक्त होकर आनन्त्य का अनुभव करना मुक्ति है। कविता हमें व्यक्तित्व की संकुचित सीमाओं से मुक्त करती है। आनंदवर्धन कहते हैं कि जीवन और जगत् अनंत हैं, इनका शुद्ध वाच्य में अर्थात् सपाटबयानी में भी निरूपण किया जाए, तो कविता में आनन्त्य हो जाता है, फिर यदि कवि अपनी प्रतिभा से कविता में जगत् का अतिक्रमण करके नया संसार रच देता है[1] तो ऐसे संसार में प्रवेश हमें जीवन और जगत में बनी हुई हमारी सीमाओं से मुक्त करें—यह स्वाभाविक है। अतएव एक-दूसरे काव्यशास्त्री राजशेखर ने कहा कि लोकयात्रा कविवचनों के अधीन है और कविवचनों के अधीन होकर वह मुक्ति का मूल बन जाती है—**कविवचनायाता च लोकयात्रा सा च निःश्रेयसमूलम् इति महर्षयः**। (काव्यमीमांसा, पृ. 10)।

भारतवर्ष में भरतमुनि से लगाकर काव्यानुभूति के स्वरूप पर जो विचार किया गया, उसमें काव्यानुभूति या रसास्वाद का अनिवार्य संबंध पुरुषार्थों से माना गया। यदि अपनी परिणति में काव्य अथवा नाट्यप्रस्तुति पुरुषार्थ में प्रवृत्त नहीं करती, तो वह काव्याभास या नाट्याभास ही है, सही कविता या नाट्यप्रस्तुति नहीं। रसों में शृंगार का संबंध काम पुरुषार्थ से, वीर का धर्म पुरुषार्थ से, रौद्र का अर्थ पुरुषार्थ से तथा शांत और बीभत्स का मोक्ष से अनिवार्य संबंध है। चूंकि चारों पुरुषार्थ परस्पर संश्लिष्ट हैं, अर्थात् एक की क्षति या अभाव में दूसरा संभव नहीं है, इसलिए शृंगार रस की महान् कविता में काम पुरुषार्थ की भी यदि चरितार्थता हो सकती है तो वह धर्म, अर्थ और मोक्ष—इन शेष पुरुषार्थों की अपेक्षापूर्वक ही हो सकती है, उपेक्षापूर्वक

नहीं। संस्कृत के टीकाकारों की परंपरा में इसलिए अभिज्ञानशाकुंतल जैसी कालजयी रचनाओं की मीमांसा इस दृष्टि से की जाती रही कि ये रचनाएं किस प्रकार शृंगारप्रधान होकर भी धर्म आदि पुरुषार्थों में भी प्रवृत्त कराती हैं।

अभिज्ञान शाकुंतल में कालिदास के नायक को केवल शकुंतला अंत में मिलती हो ऐसा नहीं है। उसे अपने बेटे के साथ शकुंतला मिलती है। शाकुंतल की प्राचीन टीकाओं की परंपरा में यह बताया जाता रहा है कि एक चक्रवर्ती श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति का अभिप्राय भी आरंभ से अंत तक शाकुंतल में गुंथा हुआ है अर्थात् दुष्यंत को धर्मसंवलित काम की उपलब्धि होती है, केवल काम की नहीं।

इस तरह साहित्य से पुरुषार्थ की सिद्धि अवश्यम्भाव्य है। यदि किसी कृति से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती, तो वह काव्य नहीं है। पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए किसी भी रचना में पांच अवस्थाएं आ सकती हैं--आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

भास की स्वप्नवासवदत्तम् एक महान नाट्य रचना है। वत्स देश के राजा उदयन इसके नायक हैं। उनके राज्य का एक हिस्सा शत्रु राजा ने हड़प लिया है। नाटक की अंतर्वस्तु है--राजा उदयन के द्वारा अपने इस खोए हुए राज्य की पुनः प्राप्ति। यह प्राप्ति इस भौतिक संसार से संबंध रखती है। इसलिए कह सकते हैं कि स्वप्नवासवदत्तम् में अर्थ-पुरुषार्थ मुख्य है। पर ऐसा कहने से स्वप्नवासवदत्तम् की पूरी वास्तविकता उद्घाटित नहीं हो पाती। होता यह है कि खोए हुए राज्य को वापस हथियाने के लिए राजा का मंत्री यौगंधरायण जो योजना बनाता है, उसमें राजा को अपनी परमप्रिय रानी और एकमात्र पत्नी वासवदत्ता खोनी पड़ती है। मंत्री के लिए राज्य महत्त्वपूर्ण है, राजा के लिए अपनी प्रिया का प्रेम। प्रेम रानी के लिए भी उतना ही बड़ा है, पर वह अपने पति और प्रिय उदयन के लिए व्यक्तिगत प्रेम की बलि चढ़ाने को तैयार हो जाती है। वह यौगंधरायण की योजना में अपने पति को बताए बिना शामिल हो जाती है। वासवदत्ता के एक भयंकर अग्निकाण्ड में जल कर मर जाने की झूठी खबर फैला दी जाती है और वासवदत्ता एक मामूली स्त्री के वेष में मगध की राजकुमारी पद्मावती के पास धरोहर के रूप में सौंप दी जाती है। फिर राजा उदयन को किसी तरह दूसरा विवाह कर लेने के लिए राजी किया जाता है। यह दूसरा विवाह राजनैतिक है। यह राजकुमारी पद्मावती के ही साथ होता है, जिसे इस बात का कोई अंदाज नहीं कि उसकी सौत जीवित है। वासवदत्ता अपने पति का दूसरा विवाह होते देखती है, और घोर वेदना से गुजरती है, हालांकि यह विवाह कराने के लिए वह खुद गुमनामी का कष्ट झेलती आ रही है। अंत में पद्मावती से

विवाह होने पर मगध की सहायता पाकर राजा उदयन अपने शत्रु को परास्त कर देते हैं, और शत्रु के द्वारा हड़प लिया गया अपना राज्य वापस पा जाते हैं, इसके साथ ही उन्हें वासवदत्ता भी फिर से मिल जाती है।

इस तरह स्वप्नवासवदत्तम् में ऊपरी तौर पर कथा तो अर्थ पुरुषार्थ की प्राप्ति की है, पर इस कथा का सारा निरूपण काम पुरुषार्थ का प्राबल्य लेकर आता है। उदयन का वासवदत्ता को न भुला पाना, दोनों के बीच अनन्यनिष्ठ अनुराग और इन दोनों के बीच राजकुमारी पद्मावती के आ जाने से प्रेम के त्रिकोण में संशय, आशंका, यंत्रणा और गहरे अंतर्द्वंद्व के जो आवर्त-विवर्त बनते हैं, उनके कारण यह कृति केवल आधिभौतिक जगत् तक सीमित न रहकर आधिदैविक लोक में संक्रांत हो जाती है। प्रेम संबंधों के जटिल ताने-बाने के अंत में जाकर दोनों रानियों के साहचर्य की समंजस स्थिति यहां काम पुरुषार्थ की सिद्धि में पर्यवसित होती है। अर्थ और काम दोनों की प्राप्ति कथानक में नायक को होती है और इनकी प्राप्ति की प्रक्रिया में नाटक आधिभौतिक और आधिदैविक दुनियाओं के बीच झूलता है। पर इस झूले की सारी पींग धर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही प्रेरित और विहित है। वासवदत्ता अपने पति तथा राज्य के कल्याण के लिए त्याग करती है। अपने सारे अंतर्द्वंद्व और संकट को वह धर्म और अपनी आस्था के बल पर झेलती है।

स्वप्नवासवदत्तम् आधिभौतिक विश्व में अवस्थित रहकर भी आधिदैविक का उसमें अवतरण कराता है और आध्यात्मिक का प्रत्यय देता है।

कालिदास का अभिज्ञान-शाकुंतल भी स्वप्नवासवदत्तम् की तरह एक कालजयी रचना है। इसका मूल ध्येय पुरुष के द्वारा स्त्री की खोज है। पहला अंक मृगया के दृश्य से आरंभ होता है। मृगया का स्थूल या आधिभौतिक स्तर ही कवि को अभिप्रेत नहीं है, यह इस प्रसंग के निरूपण से स्पष्ट है। मृगया का अर्थ शिकार भी है, और खोज भी है। दुष्यंत हरिण को शिकार करने से तापसकुमारों के द्वारा रोक दिया जाता है, इसके साथ ही पहला अर्थ गतार्थ हो जाता है, दूसरे अर्थ का सातत्य नाटक में बराबर बना रहता है। यह अर्थ एक पुरुष के भटकाव और उसके द्वारा एक चिरंतन प्रणयिनी की खोज का भाव व्यक्त करने लगता है। यह रचना का आधिदैविक स्तर है। यहां आकर शकुंतला मानुषी नहीं रह जाती, जीवन भर के पुण्यों का अखण्ड फल बन जाती है। लताएं उसकी बहनें हैं, हरिणों के छोने उसके बेटे—वह एक ऐसी निसर्गकन्या भी हो जाती है। आधिदैविक स्तर पर अधिष्ठित होकर ही कविता का वह अनूठा भावलोक या स्वप्नलोक यहां बनता है, जिसके कारण महाकवि गोइथे को इस कृति में स्वर्ग और धरती का मिलन नजर आता है। शाकुंतल काम पुरुषार्थ की

कृति है। इसमें व्यक्ति की दमित वासनाएं, कामकुण्ठाएं, ऐषणाएं और लिप्सा भी है, और इनसे ऊपर उठने की उसकी छटपटाहट भी। अंत में गहरी मानसिक यंत्रणा से गुजर कर इस काम का परिष्कार होता है।

यदि भवभूति के उत्तररामचरित को देखें तो उसमें सीता और राम के प्रणय और राग का अत्यंत अनुभूतिप्रवण चित्रण तो है, पर काम के परिष्कार का ऐसा कोई प्रश्न यहां नहीं उठता। सीता और राम दाम्पत्य की उस अनन्यनिष्ठ लगाव का अनिर्वचनीय आह्लाद अनुभव करते हैं, जिसमें मनोविकृतियों, कुण्ठाओं और कालुष्य के लिए कहीं भी कोई जगह नहीं है। उनके आह्लाद के चित्रण में रचना मनुष्य के चित्त की सारी सीमाओं को लांघ जाती है। इस अर्थ में उत्तररामचरित आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित प्रतीत होता है। इसकी पृष्ठभूमि में प्रजानुरञ्जन का राजा का आग्रह, लोगों के द्वारा एक स्त्री को लांछित करना, राम के अश्वमेध तथा दिग्विजय के अनुष्ठान आदि के वृत्तांत हैं। सीता को छोड़ते समय राम के मन का भीषण अंतर्द्वंद्व, उनके परित्याग की कचोट, तज्जन्य अपराधबोध और अनुताप—ये सब इस नाटक की आधिदैविक भूमि बनाते हैं।

कौसल्या, जनक, वासंती आदि पात्रों की चिंताएं और वेदनाएं भी इसी भूमि पर अवस्थित हैं। पर पूरे नाटक में कवि ने प्रधानता राम और सीता के पारस्परिक विश्वास और अनन्य निष्ठा को दी है। इसके आगे स्थूल जगत् के सारे दबाव छोटे साबित होते हैं। यद्यपि राम और सीता उन दबावों के कारण बिछुड़ते हैं, पर फिर भी वे अंततः एक दूसरे को पाते हैं।

स्वप्नवासवदत्तम् में इतिवृत्त और उसका निर्वाह तथा उससे जुड़ी रचना दृष्टि आधिभौतिक स्तर पर अवस्थित हैं। अभिज्ञानशाकुंतल में इन्हें हम आधिदैविक पर पहुंचा हुआ पाते हैं और उत्तररामचरित में आध्यात्मिक पर। इसका आशय यह नहीं कि इन तीनों में बाद वाली कृति पहले वाली से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। जगत् के स्थूल यथार्थ का मुख्यतः चित्रण करने से कोई कृति छोटी नहीं हो जाती, न मनुष्य के आंतरिक जगत् का चित्रण करने से कोई रचना बड़ी हो जाती है। कोई भी रचना जीवन के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों स्तरों में से प्रधानतया किसी एक पर ज्यादा टिकी हो सकती है। पर उसमें बाकी दो स्तरों की अवहेलना की जाए तो यह उसकी शक्तिमत्ता की क्षति होगी। श्री अरविंद का सावित्री महाकाव्य एक ही स्तर में अधिक रमता है। दण्डी के दशकुमारचरित में यही स्थिति है। यह केवल आधिभौतिक स्तर की कथा ही प्रस्तुत करता है। [illegible] में व्याप्त धूर्तता, फरेब और चालाकी के साथ साहस और शौर्य का बड़ा र[illegible]

चित्रण दसों राजकुमारों की कहानियों में है। पर इन कहानियों में यदि कोई निष्कर्ष निकालता है, तो यही कि संसार में चालाकी और धोखाधड़ी के बिना कोई काम नहीं बनता।

दशकुमारचरित में अर्थ पुरुषार्थ हैं, सावित्री महाकाव्य में मोक्ष, पुरुषार्थ। पर दोनों में किसी एक पुरुषार्थ का प्रत्यय इतर पुरुषार्थों से विच्छिन्न होकर दिया जाता है, तो वह पुरुषार्थ पुरुषार्थ नहीं रह जाता। सृष्टि के तीन स्तर आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जिस तरह एक-दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं और परस्पर अंतरलंबित हैं, उसी तरह तीनों या चारों पुरुषार्थ भी एक-दूसरे में अनुप्रविष्ट और परस्पर अंतरवलंबन में टिके हुए हैं। इनमें से किसी एक को बाकी से काट कर यदि दण्डी या श्री अरविंद की रचना प्रस्तुत करती है तो वह मुकम्मल कृति नहीं है।

पश्चिम के प्राच्यविद्याविशारदों ने संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर चर्चा करते हुए दो कृतियों को एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना—दण्डी का दशकुमारचरित तथा शूद्रक का मृच्छकटिक। दशकुमारचरित को 'धूर्तों का रोमांस' कहा गया। मृच्छकटिक को चारुदत्त और गणिका वसंतसेना के बीच के गहरे रागात्मक संबंध और उसकी पावनता के कारण नहीं, उसमें चित्रित जुआरियों, भ्रष्ट राजतंत्र और जर्जर सामंतीय व्यवस्था के सजीव चित्रण और यथार्थ निरूपण के कारण सराहा गया।

प्राकृत में हरिभद्र का धूर्ताख्यान व्यंग्य और विडम्बन शैली का अद्भुत प्रयोग है। यह उन लोगों के मुख से सारी परंपराओं और पौराणिक कथाओं व मिथकों की खिल्ली उड़वाता है, जो स्वयं चोरी और धोखाधड़ी के द्वारा जीविका चलाने वाले लोग हैं। प्राचीन साहित्य की परंपरा में इस तरह निर्मम होकर प्राचीन कथाओं, विश्वासों और मान्यताओं की छीछालेदर शायद ही और कहीं की गई हो। यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने प्रणय, वेदना और लोक-जीवन के अनेक सरस पद्यों को अपने सिद्धांत ग्रंथों में उद्धृत किया, पर 'धूर्ताख्यान' जैसी कृति का कहीं नाम भी नहीं लिया। क्या उनकी दृष्टि में यह कृति उल्लेखनीय नहीं थी?

धूर्ताख्यान का अच्छी हिंदी में अनुवाद करके इसके लेखक और समय की जानकारी दिए बिना आज के पाठक को पढ़ने को दिया जाए तो उसे यह भ्रम हो सकता है कि यह हरिशंकर परसाई या श्रीलाल शुक्ल या ऐसे ही किसी लेखक की व्यंग्य कृति है। प्रस्तुत लेखक ने धूर्ताख्यान के कुछ अंशों का अनुवाद अपनी एक [illegible]क में किया, तो उसे देखकर कतिपय प्रबुद्ध संपादकों, आलोचकों के द्वारा ऐसी [illegible]द्य कृतियों का और भी अनुवाद करके देने का आग्रह उससे किया गया।

धूर्ताख्यान जैसी रचना को प्राचीन आचार्य परंपरा ने बहुत महत्त्व नहीं दिया, जबकि आज के समीक्षक की निगाह में वह महत्त्व की कृति हो सकती है। तब यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन आचार्यों की साहित्य के बारे में—विशेषतः उसके मूल्यबोध के बारे में—दृष्टि आज के समीक्षकों से अलग थी।

धूर्ताख्यान के वजन की चीजें संस्कृत में न लिखी गई हों, ऐसा नहीं है। क्षेमेंद्र ने अनेक रचनाएं ऐसी लिखीं, जिनमें उनके समय के समाज का कच्चा चिट्ठा है। दसवीं शताब्दी के कश्मीर की स्थितियों पर अच्छे रिपोर्ताज ये रचनाएं बनाती हैं। क्षेमेंद्र स्वयं काव्यशास्त्र के माने हुए आचार्य हैं और काव्यशास्त्र में भी वे औचित्य के सिद्धांत के प्रतिष्ठापक हैं। कदाचित् इसीलिए अपने समय की वेश्याओं, कुट्टनियों, भ्रष्ट राजाधिकारियों का कच्चा चिट्ठा खोलते हुए, उन पर फटकार लगाते हुए या उनकी खिल्ली उड़ाते हुए क्षेमेंद्र बार-बार उपदेश की मुद्रा में भी आते हैं, और मूल्यों और आदर्शों का आग्रह करते हैं। इस दृष्टि से उनकी समयमातृका, कलाविलास, देशोपदेश, नर्ममाला आदि रचनाओं का स्तर हरिभद्र के धूर्ताख्यान से भिन्न हो जाता है। वे जानते हैं कि केवल खिल्ली उड़ाने के भाव को लेकर रची गई रचना उत्कृष्ट नहीं हो सकती।

खिल्ली उड़ाने का और फटकार लगाने का अधिकार उसे हो सकता है, जो स्वयं उन दोषों से मुक्त हो, जिनके लिए वह दूसरे को फटकार रहा है। कबीर भी फटकार लगाते हैं। पर फटकार लगाना अपने आप में उनका ध्येय नहीं है। यही स्थिति क्षेमेंद्र के साथ है।

आशय यह कि रस में तन्मय न होकर अपने समय और समाज का यथार्थ उद्घाटित करने के लिए जो कृतियां रची जाती हैं, उनमें रचनाकार और पाठक एक-दूसरे प्रकार के रस में डूबकर रचना के उद्देश्य को ही बिसरा दें, यह खतरा रहता है। यह दूसरे प्रकार का रस परनिंदा का रस है। परसाई की बहुत-सी रचनाएं इस भाव से पढ़ी जाती हैं, भले ही वे इस भाव से लिखी न गई हों। उन्हें पढ़कर लोग केवल दूसरों की खिल्ली उड़ाने से मिलने वाले सुख और संतोष लेकर तृप्त हो लेते हैं। आपने एक महान लेखक को पढ़ा भी और खुश भी हुए, न तो भवभूति, शरच्चंद्र आदि को पढ़ने से जिस आयास और यंत्रणा से गुजरना पड़ता है, उससे गुजरना पड़ा, न करुणा विगलित होने या गलदश्रु भावुकता में बहने की जरूरत पड़ी। साहित्य इस तरह मनोरंजन का सस्ता, सुंदर और टिकाऊ साधन भर बनकर रह जाता है।

साहित्य में कहीं भावों की मुख्यताय हो सकती है, कहीं ज्ञान की। पर दोनों

ही स्थितियों में पुरुषार्थ बोध से विच्छिन्न होने पर वह स्वयं पतित हो जाता है और पतन की ओर ले जाता है।

उपनिषत् कहते हैं—**क्षुरस्य धारा निशिति दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**—ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा है। इस पथ पर चलने वालों में कभी भी कहीं भी संस्खलन हो सकता है।

इकहरेपन में चुक जाने वाली या जीवन के एक ही आयाम को खोलकर ठहरी रह गईं रचनाओं में यह स्खलन रहता ही है। पर जीवन और जगत् के विविध स्तरों को निरूपित करने वाली कृतियों में भी स्खलन की संभावनाएं न रहती हों, ऐसा नहीं। सुरेंद्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' नायिका वर्षा के घर परिवार और उससे जुड़े मध्यमवर्गीय समाज का अंतरंग चित्रण प्रस्तुत करता है। बंबई की फिल्मी दुनिया के ग्लैमर की वास्तविकता भी यह उजागर करता है। इसके साथ ही इसमें नायिका के भीतर के अंतर्द्वंद्वों, संशयों और साहस के साथ उसकी आकांक्षाओं, अभीप्साओं और संकल्पों का भी चित्रण प्रभावशाली है। मनुष्य जीवन की गहरी त्रासदी और अनोखे उत्सव का, युयुत्सा और जिजीविषा का उत्कट रूप एक दुर्निवार भावावेग के साथ इस रचना में निर्मित होता चलता है। इस आवेग में वे तीन स्तर समाविष्ट होते चलते हैं, जिनकी बात ऊपर की गई है। फिर भी प्रश्न यह बना रहता है कि क्या पुरुषार्थ बोध और उससे अर्जित संस्कार यहां अव्याहत रह सके हैं, विशेषतः नायिका के स्वैराचार, उसके देह के नग्न-चित्रण और उसके व्यभिचारों के स्थूल विवरणों में जिस रचनात्मक आवेग ऊर्जा के द्वारा यह कृति इतनी समर्थ रचना बनी, उसके ताप में कदाचित् कहीं-कहीं मूल्यबोध झुलस गया है।

'गणदेवता' या 'प्रथम प्रतिश्रुति' जैसे उपन्यासों में भी अर्थ पुरुषार्थ ही आधारभूत है, पर इनमें इतर पुरुषार्थों से उसका अन्योन्याश्रय रिश्ता बना रहा है और संस्कारच्युति नहीं हुई है।

पुरुषार्थ बोध रचना करने वाले के भीतर भी संस्कार रूप में भिदा हुआ होना ही चाहिए, और साहित्य पढ़ने, सुनने वाले को भी उसे पढ़कर, देखकर या सुनकर पुरुषार्थ की प्राप्ति अपने भीतर होनी चाहिए। तो क्या महान रचना से मुक्ति की भी प्राप्ति हो सकती है?

दरअसल मुक्ति की कामना तो हमारे हर कर्म में अनुस्यूत है। पर हर कर्म मुक्ति देता नहीं है। वह कर्म अवश्य मुक्त करता है, जिसे हम सीमित अहं का त्याग करते हुए बृहत्तर से जुड़ कर संपादित करते हैं। साहित्य ऐसा ही कर्म है।

फूटने के बाद भी मिट्टी की सुराही
जाड़े में बोरसी बन जाती है
वैसे ही मैं भी तो काम आ सकता हूं
अन्न उगा न सकूं तो क्या
सूखते धान के पास बैठ कौआ तो हाकूंगा।

—(अरुण कमल, 'यह वो समय')

काव्यानुभव इसी जगत् में रहकर होता है, उसमें अनुभव तो उद्बुद्ध करने वाली सामग्री भी इसी जगत् से गृहीत होती है। वे ही चीजें, जो हम रोज की दुनिया में देखते हैं, कविता की दुनिया में निरूपित होती हैं, पर कवि का उन्हें देखने का नजरिया अलग होता है, इसलिए वे भिन्न प्रतीत होती हैं। कविता से होने वाला अनुभव इसीलिए कोई पारलौकिक अनुभव नहीं है। यदि यह अनुभव अलौकिक है तो इसी अर्थ में कि रोजमर्रा के बाकी अनुभवों से वह भिन्न है। मुक्ति भी इसी जगत् में रहकर हासिल की जा सकती है। उसका प्रत्यय भी पारलौकिक नहीं है। मुक्ति के अनुभव में चीजों के प्रति दृष्टि बदल जाती है।

उपनिषदों में परम सत्ता को एक साथ अन्नरूप, प्राणरूप, मनोरूप, विज्ञानरूप तथा आनंदरूप कहा गया है अर्थात् सत्य का अनुवाद भी हम भौतिक, ऐंद्रिय, मानसिक, बौद्धिक तथा पराचेतना के स्तरों पर करते हैं। काव्यानुभूति के भी ये पांच स्तर हो जाते हैं। अलग-अलग तरह की कविता से अलग-अलग तरह का अनुभव हमें होता है, साथ ही एक ही कविता से भिन्न-भिन्न दृष्टि वाले भावक, भिन्न-भिन्न प्रकार का अनुभव हासिल करते हैं।

काव्यानुभव को इतर अनुभवों का संस्कारक, आविष्कारक और आरंभक भी कहा गया। काव्यानुभव हमें भीतर से बदलता चलता है। बदलाव की यह प्रक्रिया अत्यंत सूक्ष्म होती है। जिस तरह वेदांत की मुक्ति अधिकारी को ही मिलती है, उसी तरह काव्यानुभव का भी अधिकारी संवेदनशील पाठक या श्रोता ही हो सकता है। काव्य की समझ तथा तज्जन्य अनुभव को हासिल करने के लिए मन की पावनता अपेक्षित है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि भावक में शुभाशुभप्रेप्साजिहासा-सातत्यस्यूतवृत्ति रहती है। वह यह संकल्प लेकर ही कविता की दुनिया में प्रवेश करता है कि इससे मेरा परमार्थ सधेगा। तब ऐसे भावक के लिए शब्द, मुक्ति का द्वार खोलने लगते हैं। भर्तृहरि के शब्दों में मुमुक्षु के लिए यह अजिह्म या सीधी राजपद्धति है—**इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः** (वाक्यपदीय)। कविता मोक्ष की पद्धति

या पगडण्डी दिखाती है, साथ ही वह किसी एक की मुक्ति का ही नहीं, सबकी मुक्ति का उपाय भी रचती है। महान् कविता सदैव एक महावाक्य रचती है, यह महावाक्य विधिनिषेधावगति देता है और यह विधिनिषेधावगति मुक्ति की ओर ले जाती है।

काव्यानुभूति आपाततः तो उतनी ही देर तक टिकी रहती है, जितनी देर कविता और उससे प्रक्षेपित सामग्री का संश्लेष रहता है। काव्यपाठ के विराम होने पर, या नाटक की प्रस्तुति के अवसान के बाद पर्दा गिरने पर काव्यानुभूति का भी ऊपरी तौर पर अवसान हो जाता है। पर अनुभव काल में अर्जित संस्कार चित्त में भीतर घर कर लेते हैं। इसलिए हर महान काव्यकृति भावक को भीतर से बदलती चलती है। फिर भीतर के इस बदलाव का असर बाहर की दुनिया पर भी होता है।

भरत मुनि से लेकर आज तक की काव्यशास्त्र के आचार्यों की सारी परंपरा काव्यानुभव या रसास्वाद का अनिवार्य संबंध औचित्य से मानती आई है। आनंदवर्धन ने तो औचित्य को रस का प्राण ही कह दिया है। औचित्य का आशय देशकाल सापेक्ष सामाजिक मर्यादाएं तथा नैतिक मूल्य हैं। औचित्य का उल्लंघन कविता और काव्यानुभव की ही क्षति नहीं करता, वह मनुष्य समाज की मुक्ति के बजाय उसके बंधन का जरिया बन जाता है। औचित्य के दायरे को तोड़कर कविता रस को नहीं, रसाभास को जन्म देती है। रावण ने सीता से प्रेम किया था। इस प्रेम का वर्णन कोई कवि कर सकता है। कवियों ने इसका वर्णन किया भी है। ऐसा वर्णन किसी बड़ी कविता या प्रबंध का एक हिस्सा हो सकता है, अपने आप में वह किसी बड़ी कविता का मुख्य विषय नहीं बन सकता। यदि किसी कविता में इसी को मुख्य रूप से निरूप्य बनाया जाए तो ऐसी कविता पुरुषार्थ की निष्पत्ति नहीं कराएगी। उससे होने वाला अनुभव मात्र रसाभास होगा।

प्रश्न यह उठता है कि कविता तो राग में, रस में लिप्त करती है। विराग से होने वाली मुक्ति उसका साध्य कैसे हो सकती है? जीवन और जगत् का चक्र थम जाए—ऐसी कामना कोई कवि नहीं करता। कविता अपने अस्तित्व के लिए ही इस जीवन और जगत् पर अवलम्बित है। फिर मुक्ति न तो कवि को काम्य हो सकती है, न भावक को।

रवीन्द्रनाथ टैगोर अपनी एक कविता में कहते हैं :

जगत् को छोड़ देना
मेरी मुक्ति की पद्धति नहीं है यह
अनंत स्वातन्त्र्य का स्वाद मिलेगा मुझे
जीवनचक्र के सहस्रों बंधनों में बंध बंध कर ही

नाद, रूप और गंध की हर गरिमा में
मैं पाऊंगा तुम्हारा ही अनंत आनंद उल्लसित
मेरी कामना ही जलती रहेगी मुक्ति की ज्वाला बनकर

कविता मुक्ति की उस अवधारणा को स्वीकार करके नहीं चल सकती, जिसमें जीवन और जगत् की समाप्ति अभिप्रेत हो। ऐसी समाप्ति यदि कहीं हो भी जाए, तो कवि उसमें से फिर संसार के चक्र का आरंभ देखना चाहेगा। अशोक वाजपेयी अपनी एक कविता में कहते हैं :

अंत के बाद
हम चुपचाप नहीं बैठेंगे
फिर झगड़ेंगे
फिर खोजेंगे
फिर सीमा लांघेंगे
क्षिति, जल, पावक
गगन, समीर से
फिर कहेंगे
चलो
हमको रूप दो
आकार दो।

—(कहीं नहीं वहीं, पृ. 25)

कविता का सार सौंदर्य में है। वैराग्य से सौंदर्य की सृष्टि नहीं की जा सकती। इसीलिए कालिदास का नायक उर्वशी को देखकर सोचता है कि वेद के अभ्यास से जड़ बन चुके तथा विषयों के प्रति जिनका कौतूहल समाप्त हो गया है, ऐसे नारायण मुनि भला इस रूप की रचना कैसे कर सकते हैं?

वेदभ्यसाजड़ः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

पर यह भी सत्य है कि कविता की समृद्ध और सुदीर्घ कालावधि में विकसित बहुविध परंपराएं व्यक्ति और समाज की मुक्ति का उपाय रचती आई हैं। रवींद्रनाथ ने भी मुक्ति को नकारा नहीं है, केवल वैराग्य में चुक जाने वाली मुक्ति को नकारा है। आशय यह कि कविता मुक्त तो करती है, पर उससे मिली मुक्ति एक सीमित वैयक्तिक साधना से व्यक्ति विशेष को मिली मुक्ति से अलग है।

ऐसा भी नहीं कि उत्तम कविताएं वैराग्यजन्य मुक्ति का सदा नकार ही करती हों। ऐसी भी अनेक महान् रचनाएं हैं, जो चित्त में विषय विराग को ही काव्यानुभव की अपनी परिणति में सर्वकष रूप में उद्‌बुद्ध करती हैं। आचार्य आनंदवर्धन में इस दृष्टि से महामति व्यास के रचे महाभारत का विस्तार से विश्लेषण किया है। वे कहते हैं कि महाभारत में मोक्षलक्षण पुरुषार्थ तथा शांत रस प्रधान है।[3] आनंदवर्धन के अनुसार महाभारत में व्यास का सकल अभिप्राय इस प्रकार के अनेक कथनों में है :

यथा यथा विपर्येति लोकतंत्रमसारवत्।
तथा तथा विरोगोऽत्र जायते नात्र संशयः॥
(जैसे जैसे
उलट पुलट होता जाता है
निस्सार यह लोकतंत्र
वैसे वैसे यहां जगत् से
होता जाता है विराग।)

आनंदवर्धन यह भी कहते हैं कि मोक्षलक्षण पुरुषार्थ महाभारत में है, पर वह अन्य पुरुषार्थों से संवलित होकर ही यहां व्यक्त हुआ है। यहां रस और पुरुषार्थ का अविभाज्य संबंध है, जो काव्य के चारुत्व की क्षति नहीं करता। महाभारत में पाण्डवों आदि का सारा चरित और विभिन्न युद्धों आदि के वर्णन भी इसी शांत रस तथा उससे व्यक्त मोक्ष रूप पुरुषार्थ को ही अंततः परिपुष्ट करते हैं।

कालिदास ने अपने नायक के मुंह से यह तो कहलवाया कि वेद के अभ्यास से जड़ हो चुके नारायण मुनि भला उर्वशी की रचना कैसे कर सकते हैं, पर तथ्य तो यही है कि उर्वशी को रचा नारायण मुनि ने ही था। सारांश यह कि कविता का विश्व मूल्य बोध या नैतिक मूल्यों से अविभाज्यतया जुड़ा हुआ है, पर इन मूल्यों को चरितार्थ करने की पद्धति कविता की अपनी और निराली है। इसी तरह मुक्ति की ओर हमें अग्रसर करने की भी उसकी एक अपनी ही निराली पद्धति है।

कविता जीवन में हमें लौटा कर भी मुक्त करती है। एक मुक्ति वह भी है, जिसमें हम बेहतर बनकर जीवन में प्रत्यारोपित होते हैं।

महाभारत में तुलाधार वैश्य की कथा है। जाजलि ऋषि उसके पास ज्ञान प्राप्त करने आते हैं। तुलाधार वैश्य मांस बेचने का धंधा करता है। अर्थात् इसी जीवन में यहीं रह कर हम मुक्त बने रह सकते हैं—यह धारणा महाभारत प्रस्तुत करता है।

कविता का इतर अनुशासनों की तुलना में अनोखापन उसके छंद के कारण है। छंद से आशय यहां पिंगल शास्त्र में निरूपित तकनीकी छंद से नहीं है। कविता

की दुनिया सृष्टि का मूल ही छंद को मानकर चलती है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में इसी दृष्टि से कहा गया है कि परम पुरुष से छंद या छंदस् की उत्पत्ति हुई। वेद की परंपरा छंद का लक्षण यह बताती है कि जो आच्छादित करता है, वह छंद है।[4] छंद मनुष्य को पाप से बचाए रखने के लिए रक्षा कवच बनकर उसे ढांप लेता है। इस अर्थ में कविता मनुष्य और समाज के अस्तित्व और भवितव्य को बनाए और बचाए रखने के लिए छांदस पर्यावरण निर्मित करती है और इस छांदस पर्यावरण में पहुंचना मुक्त होना है। छंद से च्युति बंधन है।

यह छांदस पर्यावरण हमें सहज बनाता है। वस्तुतः कविता के मूल और परिणिति, दोनों में सहज विद्यमान है। सहज के साधने से छंद भी सधता है। मुकुंद लाठ कहते हैं–"कविता मात्र किसी-न-किसी सहज को साधती है, और सहज सधे तो छंद आ ही जाता है।" (पुरोवाक्–6, पृ. 8)

निश्चय ही कविता मुक्ति का द्वार खोलती है। इस द्वार के खुलने पर हम अनंत संभावनाओं के विश्व में होते हैं। इस अनंत को एक साथ समूचा नहीं जाना जा सकता। काव्यानुभव में उसके असंख्य चेहरों में से हर बार हम कोई एक चेहरा देखते हैं। इसलिए हम हर बार कविता के द्वारा अपने आपको नए सिरे से मुक्त करते हैं।

संदर्भ

1. अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः।
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥ –ध्वन्यालोक 4/7, 10
2. श्रेष्ठ पौराणिक कहानियां, सन्मार्ग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992
3 ध्वन्यालोक, 4/5 पर वृत्ति।
4. छंदासिच्छादनात्। –निरुक्त 7/1/9

राधावल्लभ त्रिपाठी

जन्म : 15.2.1949, मध्य प्रदेश के राजगढ़ जिले में।

शिक्षा : एम.ए., पी.एच.-डी., डी. लिट्.।

व्यवसाय : 1970 ई. से विश्वविद्यालय में अध्यापन। सम्प्रति आचार्य संस्कृतविभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर तथा आचार्य, शिल्पाकॉर्न विश्वविद्यालय, बैंकाक।

कार्यानुभव : बत्तीस वर्ष से बी.ए. तथा एम.ए. की कक्षाओं में पढ़ाने का अनुभव। पच्चीस शोधछात्रों का पी.एच.डी. के लिए सफल निर्देशन।

प्रकाशन : अब तक संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी में 90 ग्रंथ प्रकाशित। इनमें आदिकविर्वाल्मीकिः (संस्कृत में, 1986), संस्कृत कविता की लोकधर्मी परंपरा (1986 द्वितीय सं. 2000), काव्यशास्त्र और काव्य (1987), लेक्चर्स ऑन नाट्य शास्त्र (1992), भारतीय नाट्य शास्त्र की परम्परा और विश्व रंगमंच (1998) नाट्यशास्त्रविश्वकोश (चार खंडों में, 1999), संस्कृत साहित्य—बीसवीं शताब्दी (1999) संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास (2001), तथा कादम्बरी (उपन्यास रूपांतर, 2001) आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। शोध पत्रिकाओं में 135 शोधलेख तथा अनेक समीक्षात्मक लेख प्रकाशित।

पुरस्कार व सम्मान : राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सोलह पुरस्कार जिनमें उत्कृष्ट शोधकार्य के लिये एशियाटिक सोसायटी मुम्बई का **म.म. पी.व्ही. काणे स्वर्णपदक** (1989), **अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का पुरस्कार** (1972 तथा 1988), 'कालिदास की समीक्षा' परंपरा पुस्तक के लिये म.प्र. संस्कृत अकादमी का **भोज पुरस्कार** (1992), 'लहरीदशकम्' के लिए उ.प्र. संस्कृत अकादमी का **कालिदास पुरस्कार** (1993), 'सन्धानम्' संस्कृत काव्यसंग्रह के लिये **साहित्य अकादमी नई दिल्ली का पुरस्कार** (1994), हिंदी अकादमी कलकत्ता का **राष्ट्रीय हिंदी रत्न सम्मान** (1994), कनाडा का **रामकृष्ण संस्कृत पुरस्कार** (1998) तथा के.के. बिड़ला फाउंडेशन का **शंकर पुरस्कार** (2000) उल्लेख्य हैं।

दिल्ली